मोहन राकेश और सुरेन्द्र वर्मा के नाटकों में परंपरा और आधुनिकता : तुलनात्मक अध्ययन

हरियाणा केंद्रीय विश्वविद्यालय, महेंद्रगढ़ की पीएच.डी (हिंदी) की उपाधि हेतु प्रस्तुत

शोध-प्रबंध

शोध-निर्देशक

डॉ. सिद्धार्थ शंकर राय

शोधार्थी

आलोक कुमार

अनुक्रमांक : 8200

हिंदी विभाग

मानविकी एवं समाज विज्ञान पीठ

हरियाणा केंद्रीय विश्वविद्यालय

महेंद्रगढ़ -123031

[2021]

घोषणा-पत्र

मैं, आलोक कुमार यह घोषणा करता हूँ कि **डॉ. सिद्धार्थ शंकर राय** के शोध निर्देशन में **'मोहन राकेश और सुरेन्द्र वर्मा के नाटकों में परंपरा और आधुनिकता : तुलनात्मक अध्ययन'** विषय पर पीएच.डी. (हिंदी) की उपाधि प्राप्ति के लिए शोध- प्रबंध प्रस्तुत कर रहा हूँ। मेरा यह प्रबंध पूर्णतः मौलिक एवं शोधपरक है। मेरी जानकारी में इससे पूर्व हरियाणा केंद्रीय विश्वविद्यालय तथा अन्य किसी भी संस्था अथवा विश्वविद्यालय में इस विषय पर कोई शोध कार्य नहीं हुआ है। इस शोध-प्रबंध के लेखन में समस्त सन्दर्भों का यथास्थान उल्लेख किया गया है।

शोधार्थी

दिनांक :_____

(आलोक कुमार)

प्रमाण-पत्र

प्रमाणित किया जाता है कि श्री आलोक कुमार ने मेरे निर्देशन में पीएच. डी. (हिंदी) की उपाधि हेतु **'मोहन राकेश और सुरेन्द्र वर्मा के नाटकों में परंपरा और आधुनिकता : तुलनात्मक अध्ययन'** विषय पर शोध कार्य किया है। यह शोध कार्य इनके मौलिक प्रयास का प्रतिफलन है।

मैं इस शोध-प्रबंध की मौलिकता और प्रतिपादित तथ्यों की उपयोगिता को दृष्टिगत कर इसे मूल्यांकनार्थ प्रस्तुत करने की संस्तुति करता हूँ।

शोध-निर्देशक

दिनांक :_____

(डॉ. सिद्धार्थ शंकर राय)
सहायक प्रोफेसर
हिंदी विभाग
हरियाणा केंद्रीय विश्वविद्यालय

संस्तुत एवं अग्रसारित

अध्यक्ष/प्रभारी
हिंदी विभाग, हकेवि

भूमिका

नाटकों को पढ़ना और देखना मुझे हमेशा से पसंद रहा है। दृश्य-श्रव्य काव्य होने के कारण इनके कथानक को समझना आसान हो जाता है। नाटकों से लगाव होने के कारण ही जब मुझे पीएच.डी में शोध कार्य करने का अवसर मिला तो मैंने शोध-कार्य हेतु नाट्य-विधा को ही चुना। शोध विषय हेतु मैंने अपने शोध-निर्देशक और नाटकों से जुड़े विशेषज्ञों से सुझाव लिया, जिसके पश्चात् जो शोध विषय निर्धारित हुआ वह है, 'मोहन राकेश और सुरेन्द्र वर्मा के नाटकों में परंपरा और आधुनिकता: तुलनात्मक अध्ययन'।

प्रस्तुत शोध-प्रबंध का अध्ययन की सुविधानुसार पाँच अध्यायों में विभाजित किया गया है। प्रथम अध्याय : 'परंपरा और आधुनिकता की अवधारणा' में मैंने परंपरा और आधुनिकता की भारतीय और पाश्चात्य अवधारणा को स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है। जिसमें विभिन्न भारतीय और पाश्चात्य विद्वानों की परिभाषा के माध्यम से स्पष्ट किया है। साथ ही परंपरा और आधुनिकता संबंधी अपनी शोधपरक दृष्टि भी रखी है।

शोध का द्वितीय अध्याय है 'हिंदी नाटकों में परंपरा और आधुनिकता का समवाय'। इस अध्याय में मैंने स्वातंत्र्योत्तर ग्यारह हिंदी नाटकों का चयन किया है, जिनमें परंपरा और आधुनिकता संबंधी अवयवों को ढूंढा है। स्वातंत्र्योत्तर नाटककारों ने किस प्रकार ऐतिहासिक कथानक और पात्रों के माध्यम से आधुनिक जीवन की विसंगतियों को चित्रित किया है, उसे दिखाने का प्रयास किया है।

तृतीय अध्याय है 'मोहन राकेश के नाटकों में परंपरा और आधुनिकता'। मोहन राकेश द्वारा रचित तीनों नाटकों और एक अधूरा नाटक 'पैर तले की ज़मीन' जिसे उनके मित्र कमलेश्वर ने पूर्ण किया था में भी परंपरा और आधुनिकता संबंधी पड़ताल किया है। इनके नाटकों में कथानक से अधिक नाट्य पात्र विशेष हैं। अतः कथानक के साथ-साथ पात्रों के माध्यम से परंपरा और आधुनिकता के विभिन्न प्रभावों को दिखाने का प्रयत्न किया गया है।

चतुर्थ अध्याय है 'सुरेन्द्र वर्मा के नाटकों में परंपरा और आधुनिकता'। इस अध्याय में भी कथानक और पात्रों के माध्यम से आज के समाज और व्यक्ति विशेष के चरित्र में परंपरा और आधुनिकता के विभिन्न प्रभावों को दिखाने का प्रयत्न किया गया है।

अंतिम और प्रमुख अध्याय है 'मोहन राकेश और सुरेन्द्र वर्मा के नाटकों में परंपरा और आधुनिकता: तुलनात्मक अध्ययन' इस अध्याय में मैंने मोहन राकेश और सुरेन्द्र वर्मा के नाटकों में परंपरा और आधुनिकता संबंधी तुलनात्मक अध्ययन किया है। मोहन राकेश और सुरेन्द्र वर्मा के नाटक

आधुनिक जीवन की विसंगतियों को चित्रित करने में सफल हैं। इनके नाटक आज भी प्रासंगिक हैं। किन्तु तुलनात्मक अध्ययन करते हुए मैंने दोनों नाटककारों के नाटकों में यह दिखाया है कि किन अर्थों में इनके नाट्य कथानक और पात्र परंपरा और आधुनिकता को चित्रित करने में भिन्न हो जाते हैं। दोनों ही नाटककार एक ही परिपाटी के रचनाकार होते हुए भी समाज और व्यक्ति विशेष के आंतरिक जीवन की व्याख्या करते हुए समान हैं और किस प्रकार भिन्न हैं, मैंने उन्हीं शोधपरक दृष्टि को प्रस्तुत किया है।

इस शोध-कार्य के पूर्ण होने पर मैं सर्वप्रथम अपने शोध-निर्देशक डॉ. सिद्धार्थ शंकर राय के प्रति अपना आभार प्रकट करता हूँ, जिनके कुशल निर्देशन और मार्गदर्शन के परिणाम स्वरुप अपना शोध-कार्य पूर्ण कर पाया हूँ। साथ ही भविष्य के प्रति निरंतर सचेत करते रहें और जीवन में आगे बढ़ते रहने की प्रेरणा देते रहे। मैं विभागाध्यक्ष प्रो. संजीव कुमार, विभाग प्रभारी डॉ. अमित कुमार और डॉ. अरविन्द सिंह तेजावत के प्रति भी आभार व्यक्त करता हूँ जिन्होंने शोध संबंधी महत्वपूर्ण सुझाव दिये।

जीवन के इस पड़ाव तक पहुँचना माँ और पिताजी के आशीर्वाद के बिना संभव नहीं था, अतः माता श्रीमती पवित्री देवी और पिताजी श्री मोती पासवान के प्रति आभारी हूँ, जिन्होंने मुझे इस लायक बनाया है। आगे मैं अपने प्रेरणा स्रोत चाचा डॉ. चंद्रशेखर पासवान और चाची डॉ. कल्पना कुमारी के प्रति भी आभार व्यक्त करता हूँ जिनका प्यार और मार्गदर्शन सदा ही मिलता रहा है। इसके साथ ही भाई सुमन और राजा को मेरा स्नेह जिन्हें हमेशा मैंन खुद के साथ सुख दुःख में साथ खड़ा पाया है।

विभाग के पूर्व शोधार्थी बड़े भाई समान डॉ. मौ. रहीश अली खान, डॉ. दीपक, डॉ. मनोज कुमार के प्रति भी आभारी हूँ जिन्होंने इस शोध-कार्य में हर संभव सहायता की तथा आवश्यक मार्गदर्शन दिया।

मित्रों में सर्वप्रथम मैं अपने प्रिय मित्र सुमित कुमार, जतिन सचदेवा, विभा मल्लिक, अभिषेक मिश्रा और अली के प्रति आभारी हूँ, जिन्होंने सच्चे मित्र के समान हर संभव मेरे इस शोध में सहायता की तथा साथ दिया है।

शोधार्थी मित्रों में राजकमल विभूति, राजकुमार, परवेज़, इंद्रजीत, बिशाल, अमन, अंजु, इंदु कुमारी और हिमांशु को भी धन्यावाद जो मेरे इस शोध-कार्य काल में मेरा साथ दिया।

(आलोक कुमार)

अनुक्रमणिका

भूमिका i-ii

प्रथम अध्याय 1-38

परंपरा और आधुनिकता की अवधारणा

1.1. परंपरा की भारतीय अवधारणा

1.2. परंपरा की पाश्चात्य अवधारणा

1.3. आधुनिकता की भारतीय अवधारणा

1.4. आधुनिकता की पाश्चात्य अवधारणा

द्वितीय अध्याय 39-88

स्वातंत्र्योत्तर प्रमुख हिंदी नाटकों में परंपरा और आधुनिकता का समवाय

2.1. कोणार्क

2.2. अंधा युग

2.3. सूर्यमुख

2.4. एक और द्रोणाचार्य

2.5. शुतुरमुर्ग

2.6. बकरी

2.7. योर्स फेथफुली

2.8. कथा एक कंस की

2.9. प्रजा ही रहने दो

2.10. रस गन्धर्व

2.11. कोर्ट मार्शल

तृतीय अध्याय 89-163

मोहन राकेश के नाटकों में परंपरा और आधुनिकता

3.1. आषाढ़ का एक दिन

3.2. लहरों के राजहंस

3.3. आधे-अधूरे

3.4. पैर तले की जमीन

चतुर्थ अध्याय 164-229

सुरेंद्र वर्मा के नाटकों में परंपरा और आधुनिकता

4.1. सेतुबंध

4.2. नायक खलनायक विदूषक

4.3. द्रौपदी

4.4. सूर्य की अंतिम किरण से सूर्य की पहली किरण तक

4.5. आठवां संर्ग

4.6. छोटे सैयद बड़े सैयद

4.7. एक दूनी एक

4.8. शकुन्तला की अंगूठी

4.9. कैद-ए-हयात

4.10. रति का कंगन

पंचम अध्याय 230-317

मोहन राकेश और सुरेन्द्र वर्मा के नाटकों में परंपरा और आधुनिकता: तुलनात्मक अध्ययन

5.1. 'आषाढ़ का एक दिन' और 'आठवां सर्ग'

5.2. 'आषाढ़ का एक दिन' और 'सेतुबंध'

5.3. 'लहरों का राजहंस' और 'सूर्य की अंतिम किरण से सूर्य की पहली किरण तक'

5.4. 'आधे-अधूरे' और 'द्रौपदी'

5.5. 'आधे-अधूरे' और 'शकुंतला की अंगूठी'

5.6. 'आधे-अधूरे' और 'एक दूनी एक'

5.7. 'पैर तले की जमीन' और 'द्रौपदी', 'एक दूनी एक', 'शकुंतला की अंगूठी'

5.8. 'आषाढ़ का एक दिन' और 'नायक खलनायक विदूषक'

5.9. 'आषाढ़ का एक दिन' और 'कैद-ए-हयात'

उपसंहार 318-334

सन्दर्भ-ग्रंथ सूची 335-343

प्रथम अध्याय

परंपरा और आधुनिकता की अवधारणा

परंपरा और आधुनिकता के संबंध में प्राय: यह धारणा बन जाती है कि दोनों एक-दूसरे के विरोधी तत्त्व हैं। सामान्यतः लोग परंपरा और रूढ़ि को समानार्थी मान लेने के कारण या भ्रमवश परंपरा को अपरिवर्तनशील और ठहरा मानकर आधुनिकता का विपरीत तत्व मान लिया जाता है और सिर्फ आधुनिकता को ही गतिमान और विकासशील माना है, जबकि परंपरा और आधुनिकता के संबंध में यह धारणा वस्तुनिष्ठ नहीं है। परंपरा और आधुनिकता एक-दूसरे के विपरीत न होकर के एक-दूसरे के पूरक हैं। दोनों का संबंध काया और छाया के समान है, "जो आज आधुनिक है, वह भी कल परंपरा का रूप ग्रहण करेगा और इसी प्रकार, परंपरा भी कभी आधुनिक रही होगी। इसलिए परंपरा में परिवर्तन की शक्तियों को ही आधुनिक कहते हैं।"[1] परंपरा निरपेक्ष दृष्टि कभी भी आधुनिक समाज का निर्माण नहीं कर सकती है। आज का आधुनिक कहा जाने वाला युग मूल्यों के विघटन का युग कहा जा सकता है। नूतन मूल्यों को भी आसानी से समाज में स्थान नहीं मिलता है, उसे भी प्रामाणिक आधार देना होता है। परंपरा को जाने बिना आधुनिकता के अर्थो को नहीं समझा जा सकता। साहित्य के सन्दर्भ में भी परंपरा एक आवश्यक तत्व है, जहाँ से साहित्य रस प्राप्त करता है, इसलिए साहित्य में आधुनिक भाव बोध हेतु परंपरा की उपेक्षा नहीं की जा सकती है। परंपरा उपेक्षित साहित्य कभी न तो आधुनिक और न वह समाज के लिए मार्गदर्शी हो सकता है। आधुनिकता परंपरा की सबसे नवीन कड़ी मानी जा सकती है, ऐसे में कोई भी आधुनिक कहा जाने वाला समाज अपनी जाति के विकास, उसकी उपलब्धियों का मूल्यांकन परंपरा से विच्छिन्न होकर नहीं कर सकता है, परंपरा आधुनिकता का किस प्रकार अभिन्न अंग है, इसे समझने के लिए हम निराला की रचना 'राम की शक्ति पूजा' का उदाहरण ले सकते हैं, निराला राम को आधुनिक संदर्भों में स्थापित करते हैं। निराला की रचनाओं में राम एक अवतारी पुरुषोत्तम नहीं हैं, बल्कि वह एक आधुनिक युग

के मानव राम हैं, जो पराजित भी होते हैं और इस पराजय से उन्हें शोक भी होता है। परंतु संघर्षरत रहने पर विजय भी प्राप्त करते हैं। इस प्रकार निराला की रचनाओं में हम देख सकते हैं कि परंपरा कोई स्थूल तत्व नहीं बल्कि एक जीवंत प्रवाहमान मूल्य है। अतः परंपरा और आधुनिकता एक-दूसरे के पूरक हैं, जो एक साथ मिलकर समाज को गति देते हैं, उसे दिशा देते हैं।

परंपरा और आधुनिकता के संबंधों को संक्षेप में समझने के पश्चात् परंपरा और आधुनिकता की अवधारणा को विस्तार रूप में भी समझना आवश्यक है। अतः उनसे संबंधित कुछ विद्वानों के मत और कुछ शोधपरक दृष्टि इस प्रकार हैं -

हर एक समाज की अपनी एक परंपरा होती है। परंपरा से समाज प्राचीनकाल से ही बीज तत्व ग्रहण करते आ रहा है। परंपरा किसी भी समाज के व्यक्ति और वर्ग को एक सूत्र में बाँधने और उसे संगठित करने का कार्य करती है। परंपरा शब्द को देखें तो इसमें 'पर' की आवृति है- परम+परा। 'पर' शब्द का प्रयोग कई अर्थो में किया जाता है- अतीत, परे, श्रेष्ठ। ऐसे देखें तो परंपरा में श्रेष्ठता का भाव होता है। परंपरा एक ऐसा माध्यम है जिससे हम प्राचीनकाल से चले आ रही रीति-रिवाजों, प्रथाओं और विचारधाराओं को जान-समझ सकते हैं। अतः यह कहा जा सकता है कि परंपरा किसी भी समाज की युगों से संचित वह निधि है, जिसके माध्यम से हम उस समाज के व्यक्तित्व को जान-समझ सकते हैं। हर एक युग अपनी परंपरा सतत रूप से अपने अगले युग को श्रृंखलाबद्ध तरीके से देता चला जाता है। जिसमें जीवन का संघर्ष है, अनुभव है, वस्तु, आन्दोलन, अनुभूति, सत्य, प्रयोग, आस्था तथा विचारकर्म आदि हैं। अतः यह युगों-युगों से चला आ रहा प्राकृतिक क्रम है। सदियों से परंपरा के इस सतत बहाव को हम जयशंकर प्रसाद कृत 'कामायनी' के काम सर्ग के इस उद्धरण से समझ सकते हैं,

"यह नीड़ मनोहर कृतियों का

यह विश्व कर्म रंग स्थल है,

है परंपरा लग रही यहाँ

ठहरा जिसमें जितना बल है।"[2]

कामायनी के 'कर्म सर्ग' से एक और उद्धरण जो परंपरा से संबंधित एक बेहतर उदाहरण है,

"परंपरागत कर्मों की वे कितनी सुन्दर घड़ियाँ

जीवन साधन को उलझी हैं जिनमें सुख की घड़ियाँ।"[3]

इस प्रकार इन उद्धरणों से काल युग के विस्तृत सन्दर्भों में परंपरा का महत्व स्थापित हो जाता है।

साहित्य के सन्दर्भ में परंपरा का अर्थ अपनी सांस्कृतिक विरासत का ज्ञान और सामाजिक जीवन के विभिन्न रूपों का गहरा बोध है। इस परिप्रेक्ष्य में साहित्यकार का परंपरा संबंधी ज्ञान जितनी दूर तक और जितना गहरा होगा, उसका साहित्य संबंधी ज्ञान उतना ही स्पष्ट होगा, "प्रत्येक कृति साहित्यिक परंपरा का अंग होती है। कोई भी कृतिकार परंपरा से कटकर साहित्य सृजन नहीं कर सकता है। जीवन और साहित्य के रेशे-रेशे में परंपरा व्याप्त रहती है।"[4] हिंदी साहित्य की अगर बात करें तो उसे सांस्कृतिक धरोहर परंपरा से ही प्राप्त हुई है। वही जीवन-मूल्य उसे उत्तराधिकार में प्राप्त हुआ है, "व्युत्पत्तीय दृष्टि से आंग्लभाषा से 'ट्रेडिशन' शब्द से बना है। 'ट्रेडिशन' शब्द का पर्यायवाची शब्द 'परंपरा' है। वास्तव में पीढ़ी-दर-पीढ़ी हस्तांतरित होने के कारण उनमें यह विश्वास जन्म जाता है कि ये मूल्यवान है। समाज में एकता एवं सांस्कृतिक सुदृढ़ता के निर्मायक तत्व के रूप में यह विश्वास पनपता जाता है।"[5]

हरि कृष्ण रावत अपनी पुस्तक 'समाजशास्त्र विश्वकोश' में परंपरा संबंधी विश्लेषण में लिखते हैं, "परंपरा परिपाटियों का पुंज है जो कुछ व्यवहार संबंधी मानदंडों एवं मूल्यों को इस आधार पर अपनाये जाने या संपन्न किये जाने पर बल देती है कि इनका वास्तविक या काल्पनिक भूत के साथ तारतम्य है। बहुधा इन परंपराओं के साथ व्यापक से स्वीकृत कर्मकांड या प्रतीकात्मक व्यवहार के

अन्य स्वरूप जुड़े होते हैं।"[6] इस प्रकार कृष्ण रावत परंपरा के रूप तथा उसके दायित्व को परिभाषित करते हैं और उसे एक परिपाटी का पुंज बताते हैं। अतः परंपरा का रूप वास्तविक और काल्पनिक दोनों ही प्रकार का हो सकता है।

"अमेरिकन इनसाइक्लोपीडिया 'ट्रेडिशन' को मौखिक सूचनाओं, विश्वासों तथा जानी-पहचानी चीजों का ऐसा स्वरूप मानता है, अपने आने वाली पीढ़ी को सौंप जाती है। ऐतिहासिक दृष्टिकोण से प्रत्येक भूतकाल आने वाले वर्तमान को कुछ मौखिक व्यवहार देकर जाता है। इस प्रकार पौराणिक और परंपरा के बीच कोई स्पष्ट रेखा खींच पाना बड़ा ही मुश्किल है।"[7]

डॉ. हरदेव अपने हिंदी शब्दकोश में परंपरा की परिभाषा देते हैं, "चला आता हुआ क्रम, अटूट सिलसिला, प्रथा, प्रणाली, रीति-रिवाज।"[8]

1.1. परंपरा की भारतीय अवधारणा-

परंपरा के सन्दर्भ में भारतीय चिंतकों, साहित्यकारों ने अपनी-अपनी परिभाषाएं दी हैं। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी परंपरा की परिभाषा देते हुए लिखते हैं, "परंपरा का शब्दार्थ है, एक का दूसरे को, दूसरे का तीसरे को दिया जाने वाला क्रम। वह अतीत का समानार्थक नहीं है। 'परंपरा' जीवन प्रक्रिया है जो अपने परिवेश के संग्रह-त्याग की आवयश्कताओं के अनुरूप निरंतर क्रियाशील रहती है। कभी-कभी इसे गलत ढंग से अतीत के सभी आचार-विचारों का बोधक मान लिया जाता है।"[9] आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी परंपरा की व्याख्या करते हुए लिखते हैं, परंपरा आधुनिकता की विरोधी नहीं है बल्कि वो तो उसकी पूरक है, "परंपरा इतिहास नहीं है, वह इतिहास देवता की यात्रा का आखिरी पड़ाव है। क्योंकि हर परंपरा किसी न किसी तत्कालीन आधुनिक समझे जाने वाले आचार-विचार का कँटा-छँटा रूप है- संस्कृत भी, विकृत भी।"[10] द्विवेदी जी परंपरा के सन्दर्भ में कहते हैं कि परंपरा में निरंतरता होती है और गतिशीलता उसकी अनिवार्य तत्व है। भाषा का उदाहरण देते हुए कहते हैं कि आधुनिक खड़ी बोली हिंदी वैदिक आर्य भाषा से निरंतरता पाती है अर्थात् वैदिक आर्य भाषा

परंपरा से संबंध रखती है, किन्तु वक्त के साथ इसके स्वरूप में इतने बदलाव आ चुके हैं कि उसे उसी रूप में नहीं जाना जा सकता है पर इसका यह मतलब नहीं कि वह इस परंपरा का नहीं है। उसकी सारी विशेषताएँ तत्व रूप में उस भाषा में विद्यमान हैं।

सांस्कृतिक और दार्शनिक परंपरा का विवेचन करते हुए जयशंकर प्रसाद ने इनका संबंध उपनिषद् की आनंदवादी परंपरा तथा बौद्धों के दुःखवादी परंपरा से बताया है। जहाँ उपनिषद् की आनंदवादी परंपरा को इन्होंने मुख्य परंपरा बताया है। उन्होंने लिखा है, "वेदों, उपनिषदों और आगमों में यह रहस्यवादी आनंद साधना की परंपरा के ही उल्लेख करते हैं।"[11] उपनिषद् की आनंदवादी परंपरा को मुख्य बताते हुए भी प्रसाद दोनों ही परंपराओं को अलग-अलग नहीं देखते, बल्कि वह उनमें परस्पर एक अंतर्संबंध देखते हैं। प्रसाद लिखते हैं कि दुखवाद के स्रोत वेदों में ही विद्यमान हैं। प्रसाद कृष्ण का उदाहरण देते हुए लिखते हैं, "श्रीकृष्ण के व्यक्तित्व में आनंदवाद और दुखवाद के तत्व विद्यमान है अर्थात् उनमें प्रेम और विरह दोनों ही है।"[12] इस प्रकार प्रसाद जी भारतीय सांस्कृतिक इतिहास के विभिन्न धाराओं की बात करते हुए भी अंततः सभी धाराओं को एक कर देते हैं अर्थात् वो एक ही धारा से निकल कर एकमेव होकर प्रवाहित होती हैं, ऐसा उनका मानना है।

ध्रुव शुक्ल परंपरा की दार्शनिक ढंग से व्याख्या करते हैं, "वह परम की परा है इसलिए परंपरा है- प्रकृति, जिसकी कक्षा में संयोगवश हम ही आ जाते हैं। पृथ्वी में गंध है, जल में रस है, अग्नि में तेज है, आकाश में शब्द है और रोम-रोम में सांस है। इन्द्रियाँ जिससे बनी हैं उसी की तरफ दौड़ती हैं, दौड़ने के लिए मन चाहिए। मन को समझाने के लिए बुद्धि चाहिए – बुद्धि को स्थापित करने के लिए अहं चाहिए- यह परंपरा सबको प्राप्त है और यहीं तक है- इसके आगे जो है वह प्रथा है, अहं के परे आत्मा को पाने की प्रथा। परंपरा दूसरी नहीं होती वह बदली भी नहीं जा सकती। प्रथाएँ बदली जा सकती हैं।"[13] इस प्रकार ध्रुव शुक्ल परंपरा की दार्शनिक और आध्यात्मिक रूप से व्याख्या करते हैं। वे बताते हैं कि परंपरा शब्द किस धातु से बने है, सृष्टि के क्या-क्या अवयव हैं तथा उनका हमसे कैसा संबंध है, कैसे प्रकृति और मानव एक-दूसरे से क्रमबद्ध तरीके जुड़े हैं, साथ ही यह रागात्मक

संबंध कभी समाप्त नहीं हो सकता। अतःअपनी आध्यात्मिक और दार्शनिक व्याख्या में वे कहते हैं कि यही परंपरा है, इससे आगे जो है वह प्रथा है।

परंपरा और प्रतिमानों के सन्दर्भ में अपना मत रखते हुए डॉ. मैनेजर पाण्डेय लिखते हैं, "इस प्रकार परंपरा का अर्थ है अतीत का अनुभव और परिवेश का अर्थ है वर्तमान का अनुभव तथा प्रतिभा है इन दोनों के ग्रहण, धारण, संशोधन और समन्वित अभिव्यक्ति की शक्ति। प्रतिभा नवीनता के प्रति आग्रहशील है और वह रचनाकार की स्वतंत्रता की कायल है। प्रतिभाशाली परंपरा को तोड़ता है, उसका पुनः सृजन करता है और उसे सँवारता भी है।"[14]

परंपरा के सन्दर्भ में मैनेजर पाण्डेय के इस मत का अर्थ है, परंपरा एक विकासशील प्रक्रिया है, जिसमें रचनाकार प्रगति और प्रयोग के माध्यम से परिवर्तन लाता है। उनका यह भी मानना है कि यदि किसी परंपरा में प्रयोग और प्रगति को प्रश्रय देने की शक्ति नहीं है तो वह परंपरा आत्मघाती है। अतः ऐसी परंपरा का जीवन काल लम्बे समय के लिए नहीं होता है। इसका अर्थ हुआ कि प्रतिभा और परंपरा एक-दूसरे के पूरक हैं।

मैनेजर पाण्डेय अपनी पुस्तक 'साहित्य और इतिहास दृष्टि' में लिखते हैं कि हजारी प्रसाद द्विवेदी की भारतीय संस्कृति और हिंदी साहित्य के सन्दर्भ में परंपरा को लेकर यह मत है कि वह अखंड, विशुद्ध, अविभाज्य और एक नहीं है। उनका कहना है कि भारतीय संस्कृति और साहित्य भी भारतीय समाज की तरह विभिन्न संस्कृतियों और विभिन्न साहित्यों की परंपरा के मिलने से बना है। मैनेजर पाण्डेय द्विवेदीजी के भारतीय संस्कृति और हिंदी साहित्य की परंपरा के सन्दर्भ में उनकी दृष्टियों को रेखांकित करते हुए आगे लिखते हैं, "वे बार-बार गंगा नदी को याद करते हैं और संस्कृति, साहित्य, और परंपरा के विकासशील स्वरूप को समझने-समझाने के लिए चिंताधारा, प्राणधारा और जीवन प्रवाह जैसे पदों का प्रयोग करते हैं। द्विवेदी जी अतीत के ऐसे प्रेमी नहीं हैं कि उसकी कमजोरियों को पहचान न सकें।"[15] आगे, मैनेजर पाण्डेय द्विवेदी जी के इन्हीं मतों को और विस्तारपूर्वक बताते हैं

कि परंपरा के सन्दर्भ में वे उसकी व्याख्या अंध-श्रद्धा के साथ नहीं करते, तभी तो वे परंपरा को सनातन दृष्टि से नहीं देखते अर्थात् हर एक वस्तु और हर एक बात का मूल वेदों में नहीं तलाशते हैं। आगे वे लिखते हैं, "आए दिन श्रद्धापरायण आलोचक यूरोपीय मतवादों को धकिया देने के लिए भारतीय आचार्य विशेष का मत उद्धृत करते हैं और आत्मगौरव के उल्लास में घोषित कर देते हैं कि 'हमारे यहाँ' यह बात इस रूप में मानी या कही गई है। वे परंपरा और रूढ़ि में अन्तर करते हैं और रूढ़ि के वृथा मोह से मुक्त होने की सलाह देते हैं। द्विवेदी जी परंपरा को 'आधुनिक और वैज्ञानिक चित्त से देखने की सिफारिश करते हैं, 'पुराने' चित्त से नहीं।"[16]

निर्मल वर्मा ने आत्मबोध की परंपरा को भारतीय परंपरा कहा है। परंपरा के सन्दर्भ में निर्मल वर्मा का दृष्टिकोण देखें तो वे लिखते हैं, "हमने अपनी परंपरा का बोध अतीत से खोज कर नहीं बल्कि सहज जीवन-धारा के इन बिम्बों और प्रतीकों से ही प्राप्त किया था। पश्चिम की तरह हमने कभी सजग रूप से परंपरा में रहने के लिए अतीत का आहवान नहीं किया है। इसके विपरीत परंपरा हमारे भीतर मूक और अपरिभाषित रूप से जीवित रही थी। एक परंपरागत समाज को अतीत की दुहाई देने की जरुरत नहीं पड़ती। यह शायद विरोधाभास जान पड़े लेकिन सच यह है कि केवल पश्चिम का आधुनिक समाज ही अतीत के प्रतीकों पर जीवित रहता है जिसे वह इतिहास का नाम देता है, किन्तु जो समाज सहज रूप से परंपरागत होता है उसे अतीत की कोई आवश्यकता नहीं है।"[17]

कवि, कविता और परंपरा के संबंध में अज्ञेय अपने दर्शन के माध्यम से इसकी व्याख्या करते हैं। वे कहते हैं कवि की मुक्ति परंपरा से जुड़ कर रहने में है, जब वह उसमें कुछ नया जोड़ता है और उसमें परिवर्तन करता है तभी उसकी उसमें मुक्ति है। अतः यह कहा जा सकता है कि साहित्य की परंपरा का निर्माण श्रेष्ठ रचनाओं और रचनाकारों से होता है। राजेंद्र यादव 'अज्ञेय' की मृत्यु के पश्चात् प्रकाशित 'हंस' पत्रिका के संपादकीय में लिखते हैं, "वे नहीं होते तो हम भी नहीं होते, तो शायद उनके ध्यान में साहित्य की परंपरा के निर्माण की यही अवधारणा थी।"[18]

जगदीश शर्मा अपनी पुस्तक 'साहित्य की हैसियत' में परंपरा के सन्दर्भ में लिखते हैं, "परंपरा बनी बनाई नहीं मिलती, वह निरंतर बनने की प्रक्रिया में होती है। जैसा इस शब्द से प्रकट होता है, आगे और आगे बढ़ते रहने का नाम परंपरा है। इसलिए वह निरंतर परिवर्तनों के बीच से गुजरती है। आधुनिक काल को ही लें तो काव्य-परंपरा द्विवेदी युग तक थी, वह छायावाद के आगमन से बदल गई और उसके बाद के काव्यांदोलनों से निरंतर बदलती चली गई।"[19] जगदीश शर्मा का आशय यह है कि परंपरा परिवर्तनशील है। जिसमें एकरूपता नहीं होती। साहित्य के सन्दर्भ में श्रेष्ठ प्रतिभाएं परंपरा का अनुगमन नहीं करती है बल्कि अपनी प्रतिभा से उसे परिवर्तित कर देती है। उदाहरण स्वरूप आधुनिक काल के प्रारंभ होते ही विभिन्न गद्य विधाओं में लेखन प्रारंभ शुरू हुआ। जो उस समय एक नए ढंग का साहित्य लेखन था। उनके पास किसी भी प्रकार की परंपरा नहीं थी। न उनके पास शिल्प था न उनके पास साहित्यिक रूप था। बस उनके पास नया चिंतन और चिंताएँ थीं। आधुनिक साहित्यकारों ने उस वक़्त अपनी परंपरा से लिया भी तो वो था मिथकों, जीवन मूल्यों और आदर्श स्वरूप उनमें बसी अपनी मिट्टी की खुशबू। लेकिन कहते हैं कि किसी भी परंपरा की जड़ें गहरी हो तो उसका मोह आसानी से नहीं छूटता। जगदीश शर्मा इस सन्दर्भ में लिखते हैं, "भारतेंदु युग में गद्य में जो नया उठाव आया वह काव्य में कुछ समय के लिए स्थगित रहा, क्योंकि हिंदी की काव्य परंपरा की जड़ें गहरी थी, लेकिन यह दुविधा अधिक दिनों तक बनी नहीं रह सकी। अंततः काव्य ने भी गद्य के समान नई दिशा ग्रहण की और उस क्षेत्र में भी वह परंपरा से दूर निकल गई।"[20] पुरानी परंपरा से दूर निकल कर एक नई दिशा में परंपरा आगे निकल जाती है। जिसका अर्थ यह होता कि वह एक विकासशील परंपरा है। साहित्य में वह एक विकास सूचक के समान होती है, जहाँ तक वह पहुँच चुकी होती है। परंपरा परिवर्तनों के अन्दर एक निरंतरता बनाएं रखती है। परंपरा का यह गुण है कि वह परिवर्तनों को अस्वीकार नहीं करती है। परंपरा में परिवर्तन निरंतर होता रहता है और वह बदले हुए रूप से जुड़ती चली जाती है, उसके जुड़ते रहने से उसकी एक पहचान बनती

रहती है। परिवर्तन की इस प्रक्रिया में एक मोड़ तब आता है जब एक परंपरा का अंत होता है और दूसरे का उदय होता है। इस प्रकार समय के चक्र पर परंपरा का स्वरूप बदलता जाता है।

हिंदी के प्रतिष्ठित आलोचक रामविलास शर्मा ने 1935 से 1947 तक के बारह वर्षों में लिखे हुए अपने निबंधों को संकलित किया, जिसका नाम दिया 'संस्कृति और साहित्य'। 1943 में उन्होंने एक निबंध लिखा था 'हिंदी साहित्य की परंपरा' जो कि इसी संग्रह का एक निबंध है। इसमें भारतीय राजनैतिक और साहित्यिक परंपरा की रूप-रेखा कैसी रही है ? कौन-कौन से उस समय के आलोचक-समालोचक रहे हैं ? साहित्य की इस बदलती हुई आधुनिक तथा नवीन परंपरा को लेकर उस समय के आलोचकों की क्या प्रतिक्रिया थी ? इस निबंध में उन्होंने इसका सार संक्षेप में उल्लेख किया है। रामविलास शर्मा लिखते हैं, "नये साहित्य और नयी समालोचना पर यह अभियोग लगाया जाता है कि वह पिछले साहित्य की परंपराओं में तटस्थ और उनके प्रति उदासीन हैं। पुरानी परंपरा का उल्लेख करने पर यह भी घोषित किया जाता है कि प्रगतिशील आलोचक तुलसीदास या भारतेंदु को जबरदस्ती प्रगतिशील बना रहे हैं। यह अत्यंत आवयश्क है कि हम अपने साहित्य की पुरानी परंपराओं से परिचित हों। परिचित होने के साथ-साथ हमें उनके श्रेष्ठ तत्वों को ग्रहण भी करना चाहिए। मेरा उन लोगों से मतभेद है जो साहित्य को समाज-हित या अहित से परे मानकर केवल रूप की प्रशंसा करके आलोचना की इति कर देते हैं। उनके लिए तुलसी और बिहारी दोनों ही समान रूप से वन्दनीय हैं और दोनों ही की परंपरा समान रूप से वांछनीय है।"[21] रामविलास शर्मा के इन संदर्भो से यह स्पष्ट होता है कि उन्होंने पुरानी और नवीन दोनों ही परंपराओं को महत्त्व दिया है। तभी तो वह पुरानी परंपराओं से श्रेष्ठ तत्त्वों को ग्रहण करने के लिए कहते हैं साथ ही तुलसी और बिहारी दोनों की परंपराओं में निहित श्रेष्ठ तत्त्वों के अर्थ को समझने और उनके अर्थ को ग्रहण करने की बात कहते हैं। जिससे समाज और साहित्य दोनों का ही विकास होता है। इस प्रकार रामविलास शर्मा पुरानी और आधुनिक परंपरा दोनों ही रूपों का महत्त्व स्थापित करते हैं।

नामवर सिंह परंपरा के सन्दर्भ में अपनी पुस्तक 'दूसरी परंपरा की खोज' में लिखते हैं, "दूसरी परंपरा की खोज द्विवेदीजी ने कबीर, सूर, बाणभट्ट और नए साहित्य में निराला, प्रेमचंद तथा दिनकर के माध्यम से की। इस परंपरा की सार्थकता इसके फक्कड़पन में है। यानी दूसरे शब्दों में यह फक्कड़पन की परंपरा ही भारतीय संस्कृति की वास्तविक क्रांतिकारी परंपरा है।"[22] इस प्रकार नामवर जी के अनुसार फक्कड़पन की परंपरा ही भारतीय संस्कृति की वास्तविक क्रांतिकारी परंपरा है, जिसमें कबीर, सूर, बाणभट्ट और नए साहित्य में निराला, प्रेमचंद तथा दिनकर आदि को उन्होंने बताया है। इस सन्दर्भ में हमें यह भी विचार करना होगा कि कबीर की क्रांतिकारी भावना, निराला की क्रांतिकारी भावना से किस बिंदु पर मिलती है ? वह कहाँ तक साहित्य की क्रांतिकारी भावना सिद्ध होती है ? इस सन्दर्भ में कबीर या निराला की क्रांतिकारी भावना फक्कड़पन के कारणों से अधिक सामाजिक असमानता और वर्ण-व्यवस्था के प्रतिरोध में है।

इस प्रकार निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि हर एक व्यक्ति के जन्म के साथ ही एक संश्लिष्ट कड़ी के रूप में उसके साथ सामाजिक, सांस्कृतिक, ऐतिहासिक परंपरा जुड़ी होती है। जिसका आगे वह वाहक होता है। अतः कोई भी व्यक्ति अपने आप को परंपरा से अलग नहीं कर सकता। साहित्य, साहित्यकार और परंपरा के सन्दर्भ में यही कहना उचित होगा कि एक साहित्यकार की श्रेष्ठता इस बात में है कि उसे अपने परंपरा का गहरा बोध हो। जिससे वह अपने समकालीन समाज को ऐसी रचना दे सके जिसमें परंपरा का अंश भी हो और युगबोध भी हो। जिससे एक साहित्यकार श्रेष्ठ और सार्थक कृति की रचना कर सके।

1.2 परंपरा की पाश्चात्य अवधारणा-

ऑक्सफ़ोर्ड(Oxford) शब्दकोश में परंपरा के अर्थ की जो परिभाषा दी गई वह है, "a belief, custom or a way of doing something that has existed for a long time among a

particular group of people."[23] इसका अर्थ हिंदी में समझें तो, एक विश्वास, रिवाज या कुछ करने का एक तरीका जो लोगों के एक विशेष समूह के बीच लंबे समय से मौजूद है।

भारतीय विद्वानों की तरह ही विभिन्न पाश्चात्य विद्वानों ने भी परंपरा की अवधारणा को व्याख्यायित करने का प्रयत्न किया है। अतः उनकी भी परंपरा संबंधी परिभाषा जान लेना आवश्यक है। इस कड़ी में सर्वप्रथम टी.एस.इलियट की परंपरा संबंधी अवधारणा और परिभाषा पर दृष्टि डालें तो वे लिखते हैं, "परंपरा एक वृहत्तर प्रयोजन की वस्तु है।....इसमें, सर्वप्रथम इतिहासबोध समाहित रहता है और इतिहास-बोध के अंतर्गत एक दृष्टि अन्तर्निहित होती है, न केवल अतीत के अतीतत्व की अपितु उसकी वर्तमानता की भी।...यह इतिहास-बोध, जिसका तात्पर्य कालिक और कालातीत का पृथक-पृथक और समवेत रूप का बोध है, एक लेखक को पारंपरिक बनाता है और इसके द्वारा लेखक अपने युग में अपनी स्थिति के प्रति अत्यंत सजग होता है और अपनी समकालिकता (प्रासंगिकता) के बारे में चैतन्य।"[24] यहाँ इलियट की इस परिभाषा का अर्थ है कि परंपरा एक ऐसा माध्यम है जिसमें एक इतिहास समाहित होता है साथ ही जिसमें एक ऐसी दृष्टि होती जिसमें न केवल अतीत के प्रति उसकी आस्था रहती है, बल्कि वर्तमान के प्रति भी वह सजग और प्रतिबद्ध है। इलियट यह भी लिखते हैं कि जिस लेखक को परंपरा संबंधी इस धारणा का बोध होता है वही पारंपरिक है।

इलियट परंपरा, रचना और रचनाकार के सन्दर्भ में आगे लिखते हैं कि कोई भी कवि अपनी काव्य विशिष्टता अपने पूर्ववर्ती रचनाकारों की परंपरा में रहकर ही सिद्ध कर सकता है तथा उसके काव्य की तुलना उसके पूर्ववर्ती मृत या जीवित रचनाकार की रचनाओं के साथ पक्ष या विपक्ष में रख कर ही की जा सकती है। इलियट कहते हैं, "कोई कवि, किसी कला, कोई कलाकार अपने आप में पूर्ण अर्थवत्ता नहीं रखता। उसका वैशिष्टिय, उसकी अनुशंसा मृत कवियों एवं कलाकारों के संबंध में ही की जा सकती है। आप उसका अकेले मूल्यांकन नहीं कर सकते, आपको उसे मृत कवियों (कलाकारों) के विरोध में या तुलना में रखना ही होगा। आगे वे कहते हैं कि एक विशिष्ट अर्थ में वह

इस बात के प्रति सचेत रहेगा कि उसे अपरिहार्य रूप से वर्तमान की कसौटी पर परखा जाएगा। इसका तात्पर्य यह है कि कोई रचनाकार अपने पूर्ववर्ती रचनाकारों की परंपरा में रहकर ही अपना वैशिष्ट्य सिद्ध कर सकता है। इसके साथ ही परंपरा, इलियट के लिए न केवल ग्राह्य या वांछनीय है अपितु अनिवार्य शर्त है, एक कसौटी है।"[25]

साहित्य रचना के सन्दर्भ में परंपरा की बात करते हुए गेटे (युहान वोल्फगांग फान गेटे) ने कहा था कि परंपरा न केवल राष्ट्रीय भाषाई परिधि को पार कर साहित्य को सींचने में सफल रहती है बल्कि वह अंतर्राष्ट्रीय सीमा को पार कर अन्य विदेशी भाषाओं से भी साहित्य तत्व ग्रहण कर साहित्य परंपरा को समृद्ध करती है। आधुनिक भारतीय साहित्य परंपरा के सन्दर्भ में गेटे लिखते हैं, "आधुनिक काल में हिंदी-साहित्य ने जिस परंपरा की भूमि पर पदार्पण किया, वह रचना-दृष्टि के हिसाब से अभारतीय थी, लेकिन उसी से उसने जीवन-शक्ति ग्रहण की है। इस दृष्टि से यह कहा जा सकता है कि परंपरा भाषिक इकाई के बाहर से ही नहीं, राष्ट्रीय इकाई के बाहर से भी किसी साहित्य को सींच सकती है। इसलिए जब साहित्य-रचना के सन्दर्भ में परंपरा की बात की जाए तो देशी-विदेशी, जातीय-विजातीय जैसी अवधारणाओं का परित्याग कर के चलना उचित होगा। विज्ञान के अविष्कारों के फलस्वरूप अब जब दुनिया छोटी हो गई है तो हमारी मानसिकता भी आज नहीं तो कल तो बदलनी ही है। कुछ दिनों बाद यह लग सकता है कि हमारी साहित्यिक परंपरा के सन्दर्भ में भाषिक परिधि की ही नहीं, राष्ट्रीय परिधि की चर्चा भी अप्रासंगिक है।"[26] गेटे ने आज से पौने दो सौ वर्ष पूर्व सार्वभौम साहित्य या विश्व साहित्य की परिकल्पना प्रस्तुत की थी।

राबर्ट रेडफील्ड ने परंपरा संबंधी अपनी अवधारणा के संबंध में लिखा है कि परंपराएं दो तरह की होती हैं, एक 'महान' और दूसरी 'लघु' परंपरा। रेडफील्ड ने भारत का समाजशास्त्रीय अध्ययन किया और इस अध्ययन में उन्होंने जो अवधारणा प्रस्तुत किया वह है, "प्रत्येक सभ्यता के पास 'परंपराएं' होती हैं, एक अभिजन की या प्रकाशमान परंपरा जो कुछ लोगों के बीच अच्छी तरह

स्पष्टतया अभिव्यक्त की जा सकती है और दूसरी लोक परंपरा या किसानों की अव्याख्यायित परंपरा। पहली को उन्होंने 'महान' तथा दूसरी को 'लघु' परंपरा कहा।"[27]

समाजशास्त्री मिल्टन सिंगर राबर्ट रेडफील्ड के इस अध्ययन प्रणाली को स्वीकार करते हैं और इसी आधार पर उन्होंने भी भारत में सामाजिक परिवर्तन का अध्ययन और विश्लेषण किया और जिस निष्कर्ष पर वे पहुचें वह इस प्रकार है, "(1)भारत की सभ्यता आदि या 'मूल' सभ्यता होने के कारण इसमें लोक या आंचलिक (क्षेत्रीय) सभ्यताएं पहले से अस्तित्व में नहीं थीं और यह कि यहाँ 'महान' परंपरा 'लघु' परंपरा के साथ निरंतर संयुक्त थी जो कि इसके विभिन्न क्षेत्रों, जातियों, जन-जातियों, गाँवों में मिलती हैं। (2) यह कि यह सांस्कृतिक निरंतरता एक सामान्य सांस्कृतिक चेतना का कारण और उत्पाद दोनों थीं, वह चेतना जो अधिकाँश भारतीयों द्वारा समान रूप से अनुभूत थी और जिनमें अनिवार्य समानताएं और मानसिक स्तर तथा नैतिक बोध सामान्य रूप से मिलते हैं। (3) यह कि यह सामान्य सांस्कृतिक चेतना भारत में निश्चित प्रक्रियों और कारणों के द्वारा निर्मित हो सकी थी वे हैं- पवित्र ग्रंथ, पवित्र उपादान (रामायण, महाभारत, गीता, वेद, पुराण, उपनिषद आदि) और एक विशेष शिक्षित वर्ग (ब्राह्मण) तथा अन्य कारक जो सांस्कृतिक संग्राम में सहायक होते हैं। (4) यह कि भारत जैसे आदि सभ्यता में अतीत के साथ सांस्कृतिक निरंतरता इतनी अक्षुण्य है कि 'आधुनिकीकरण' और 'प्रगति' की विचारधाराओं को स्वीकार करने के बावजूद इनको परंपरा में संक्रमित करके ही लिया जाता है।"[28] मिल्टन सिंगर के इस विश्लेषण का विभिन्न समाजशास्त्रियों ने आलोचना की है। इसी सन्दर्भ में प्रो. श्यामाचरण दुबे ने लिखा कि सांस्कृतिक परिवर्तन की व्याख्या 'महान' और 'लघु' परंपरा के ढाँचे में करना उपयुक्त नहीं होगा। प्रो.दुबे कहते हैं, भारत में परंपरा द्विआयामी नहीं बल्कि बहुआयामी हैं। वे लिखते हैं, "जहाँ तक 'लघु' और 'महान' परंपराओं का संबंध है, कोई ऐसी निश्चित परिभाषा नहीं हो सकती जहाँ एक से अधिक महान या महान जैसी परंपराएं हैं और सबके पास प्रामाणिक ग्रंथ और नैतिक नियम हैं, स्थिति भ्रामक हो जाती है...इसके साथ ही यह बात भी कही जा सकती है कि महान परंपरा और लघु परंपरा का यह ढांचा क्षेत्रीय,

पाश्चात्य और समन्वित राष्ट्रीय परंपराओं जिसमें प्रत्येक अपने आप में महत्त्वपूर्ण हैं की भूमिका के विषय में विचार करने का अवकाश ही नहीं देता।"[29]

समाजशास्त्री, साहित्यकार या चिन्तक सभी के लिए परंपरा की जो परिभाषा रही है वह कमोबेश एक जैसी ही रही है। किन्तु इसके बाद भी कुछ एक बिंदु पर इनके बीच परंपरा संबंधी अवधारणाओं को लेकर विभिन्नताएं देखी जा सकती है। इसी सन्दर्भ में एच. टी. विल्सन परंपरा और आधुनिकता की तुलना करते हुए लिखते हैं, "मैं तर्क करना चाहता हूँ कि आधुनिकता की तुलना में परंपरा की स्थिति निम्नतर हम मान सकते हैं और इसे अतीत के कूड़ेदान की चीज मान लेते हैं। एक 'पक्ष' की क्रियाशीलता के दोहरे रूप में विचार करते समय पाते हैं कि इसका (परंपरा का) विरोधी पक्ष जहाँ तर्कणा एवं बौद्धिकता से संबंधित है वहाँ परंपरा को महज अतर्कसंगत और भावुकता तक ही सीमित नहीं समझना चाहिए। इसी प्रकार का एक विचार यह प्रस्तुत किया जा सकता है परंपरा के बारे में जो अतीत से सन्दर्भवान होती है। यहाँ परंपरा को सामूहिक जीवन के पूर्व-आधुनिक रूप के समान बताया गया है (पूर्व-आधुनिक अर्थात् पूर्व-नागरिक, पूर्व-सेक्युलर, पूर्व पूंजीवाद, पूर्व औद्योगिक)"[30] इस प्रकार विल्सन आधुनिकता को ऐसा तत्व मानते हैं जो परंपरा के विरुद्ध है। किन्तु वो परंपरा को अतीत तक सीमित नहीं मानते, विल्सन आधुनिक समाज के मूल्यों के विपरीत मानते हैं। अतः इस अवधारणा का जो अर्थ निकलता है वह यह है कि आज का आधुनिक समाज सेक्युलर हैं, साथ ही यह समाज पूंजीवाद और औद्योगिक समाज भी है।

परंपरा संबंधी भारतीय और पाश्चात्य अवधारणा को जाननें के बाद यदि परंपरा के अभिलक्षणों पर दृष्टि डाले तो परंपरा की अवधारण और अधिक स्पष्ट होगी।

1. परंपरा एक संकल्पना है यह कहना गलत नहीं होगा, जिसके कई आयाम हैं दूसरे शब्दों में यह बहुआयामी है, जो जिंदगी के कई पक्षों को स्पर्श करती है। परंपरा संस्कृति की पर्यायवाची नहीं है, किन्तु परंपरा कई संदर्भो में संस्कृति के मानक सन्दर्भ प्रतिरूप है।

2. परंपरा के महत्त्वपूर्ण अभिलक्षण में से एक निरंतरता है। जो कि समय की कसौटी पर परीक्षित और प्रमाणित की जाती है। परंपरा समाज की आंतरिक प्रक्रिया, उसका मूल्यांकन और पुनर्मूल्यांकन कर सत्यापित करती है।
3. परंपरा का एक क्षेत्र मानव के संवेदनाओं से जुड़ा होता है इसलिए इसका यह क्षेत्र संवेदनशील भी माना जाता है। जहां यह जुड़ी होती हैं, जातीय स्मृतियों से और सांस्कृतिक अस्मिता उनमें अभिव्यक्ति पाती है। इसीलिए कई बार परंपरा के इस पक्ष की अवमानना जातीय निंदा की द्योतक मानी जाती है।
4. परंपरा का एक और जो महत्त्वपूर्ण अभिलक्षण है, वह यह है कि परंपरा स्थिर और जड़ नहीं होती, उसमें एक गति होती है। इसके बावजूद कई बार परंपरा के कुछ पक्षों पर असहमति तथा प्रश्न उठाए जाते रहे हैं। जिसके परिणाम स्वरूप परंपरा के विपक्ष में विरोध, असहमति तथा सुधार की मांग की जाती है। बौद्धिक और वैचारिक उठने वाले प्रश्न कई बार नये संप्रदाय, पंथ अथवा नये मत को जन्म देती है और धीरे-धीरे अपने विशिष्ट विचारधारा और छाप के कारण एक विशाल परंपरा का अंग बन जाती है। हिन्दू, इस्लाम, ईसाई और बौद्ध धर्म में अनेक शाखाएँ और उपशाखाएँ इसका जीवंत उदाहरण है। इन्हें स्वतंत्र परंपरा के रूप में भी और मुख्य परंपरा की शाखाओं के रूप में भी देखा जा सकता है।
5. परंपरा के अभिलक्षण के सन्दर्भ में दो पक्ष महत्त्वपूर्ण है। परंपरा का एक पक्ष जहाँ ऐतिहासिक और तथ्यात्मक है, वही इसका दूसरा पक्ष आस्था और विश्वास पर टिका है। परंपरा के दूसरे पक्ष की बात की जाए तो यह एक अत्यंत संवेदनशील पक्ष है, जिसमें जितनी रहस्यात्मकता बनाना चाहो उतनी भरी जा सकती है। भविष्य के मानव लक्ष्यों और उनकी आवयश्कताओं को ध्यान में रखते हुए इसे अरहस्यात्मक भी बनाना भी जरूरी है। इस दृष्टि से परंपरा की व्याख्या और उसकी परिभाषा सही-सही हो जो कि मानव कल्याणकारी हो। जिससे समाज को सुदृढ़ आधार प्राप्त हो और परंपरा की ऊर्जा का सकारात्मक उपयोग कर मानव अपने

समाज को एक ठोस आधार दे। परंपरा क्योंकि अतीत का बोझ नहीं, इसलिए जीवंत परंपरा समाज में निष्क्रियता और जड़ता नहीं आने देती। अतः परंपरा आज को और आने वाले कल को एक नई दृष्टि देती है, उसे दिशा देती है और अंततः मानव समाज ही अपनी परंपरा का वाहक होता है और उसका यह दायित्व है कि वह अपने समकालीन समाज में सही-सही परंपरा को परिभाषित करे।

इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि प्रत्येक व्यक्ति जन्म के साथ ही एक संश्लिष्ट कड़ी के रूप में सामाजिक, सांस्कृतिक और ऐतिहासिक संबंधों के अविरल धारा से निर्मित परंपरा का वाहक होता है। साथ ही कोई भी व्यक्ति अपनी परंपरा से अलग अस्तित्व नहीं बना सकता। लेखक के लिए यह आवयश्क है कि उसे ऐतिहासिक विकास का पूर्णतः ज्ञान हो। साहित्यकार के लिए भी यह आवश्यक है कि उसे जितना युगबोध हो, उतना ही अपनी परंपरा, संस्कृति और विरासत का भी गहरा बोध हो। तभी वह एक युगदृष्टा बन सकता है साथ ही श्रेष्ठ कृति की रचना कर सकता है। उसकी रचना ही कालजय कृति के रूप में सदैव समाज को पथ-प्रदर्शित करती रहेगी। अत: कभी भी परंपरा से कट कर श्रेष्ठ रचना का जन्म नहीं हो सकता।

परंपरागत स्थूल मान्यताएं, धार्मिक-रूढ़ियां, अंधविश्वास तथा अवैज्ञानिक धारणाओं के विरुद्ध उद्धरित सामाजिक चेतना को आधुनिकता कहना समीचीन होगा। आधुनिकता सदैव वर्तमान का मूल्य होता है जो आज के परिप्रेक्ष्य में वैयक्तिकता, नैतिकता, मर्यादा, दर्शन और साहित्य की अर्थवत्ता परखती है। विचारदर्शन के क्षेत्र में आधुनिकता विकासशील मानव चिंतन और विचारों का एक पर्याय है। किन्तु आधुनिक मानवीय चिंतन मानवीय समुदाय के अतिरिक्त आज राष्ट्रों, शहरों, राजनैतिक व्यवस्थाओं, संस्थाओं, अर्थतंत्रों, आचरणों, भवनों एवं वस्त्रों को भी आधार बना कर आधुनिकता को परिभाषित किया जाता है। आधुनिकता के सन्दर्भ में गंगा प्रसाद विमल अपनी पुस्तक 'आधुनिकता: साहित्य के सन्दर्भ' में लिखतें हैं, "विशद स्तर पर कोई 'चीज' है जो 'आधुनिक' का वहन करती है और प्रकारांतर से सभी क्षितिजों को प्रभावित करती है। यही वह

सूत्र है जिसकी विवेचना से हम उस आधार तक पहुँच सकते हैं जो आधुनिकता की निर्मिती का कारण है। यद्यपि ठीक-ठीक किसी भौतिक स्थिति का अन्वेषण संभव नहीं है क्योंकि मूलतः एक प्रत्यय के पीछे कोई एक ठोस कारण नहीं होता अपितु कारणों की एक श्रृंखला होती है। तब भी आधुनिकता के सन्दर्भ में एक महत्तम कारण की खोज निरर्थक या काल्पनिक नहीं कही जा सकती। असल में आधुनिक विचार के सूत्र 'विकास' की धारणा में छिपे हैं जिसने मानव मस्तिष्क को सदा अनुप्रेरित किया है।"[31]

आधुनिकता का विचारगत आधार हम भौगोलिक सीमाओं में नहीं ढूढ़ सकते। अतः यह कहा जा सकता है कि यह किसी राष्ट्र, किसी देश या तकनीकी रूप से विकसित किसी समाज की एक वस्तु नहीं है। आधुनिकता ने समस्त मानवजीवन को सीमाओं से परे प्रभावित किया है। इस दृष्टि से आधुनिकता किसी भी व्यक्ति, समाज और समय काल के लिए एक जीवंत जीवनदृष्टि एवं जीवनबोध की खोज है। आधुनिकता संबंधी अवधारणा को समझने के लिए विभिन्न विद्वानों का मत भी जान लेना आवश्यक है। इस संबंध में विभिन्न विद्वानों के मत दृष्टव्य है-

1.3 आधुनिकता की भारतीय अवधारणा-

हिंदी आलोचना की पारिभाषिक शब्दावली-"आधुनिकता का संबंध आधुनिकीकरण के फलस्वरूप पुरातन तथा परंपरागत विचारों एवं मूल्यों, धार्मिक विश्वासों और रूढ़िगत रीती-रिवाजों के विरुद्ध नवीन और वैज्ञानिक आविष्कारों, विचारों, नए मूल्यों आदि से है। 'आधुनिकीकरण' शब्द उन समस्त परिवर्तनों तथा प्रतिक्रियाओं के लिए प्रयोग किया जाता है जो पूंजीवादी अर्थव्यवस्था के अंतर्गत औद्योगिकरण तथा यंत्रीकरण के कारण प्रकट हुई हैं।"[32]

हिंदी साहित्य कोश भाग-1 पारिभाषिक शब्दावली- "सामान्य प्रयोगों में 'आधुनिक' शब्दों को बहुत दूर तक समय-सापेक्ष मान लिया जाता है, जैसा इतिहास का विभाजन प्राचीन, मध्यकालीन तथा आधुनिक कालों में करते समय। परंतु यह 'आधुनिक' शब्द का सुविधा-निष्पन्न और लचीला

अर्थ है, जिसके अनुसार हर अगला काल अपने पूर्ववर्ती की अपेक्षा आधुनिक या अधिक आधुनिक होता है। पर अपने विशिष्ठ रूप में 'आधुनिक' का अर्थ इससे भिन्न है। आधुनिकता की पहली और अनिवार्य शर्त स्वचेतना है।

आर्थिक क्षेत्रों में भी इस स्वचेतना वृत्ति के उदाहरण मिलते हैं। अपने 'हार्ट इज हिस्ट्री' शीर्षक व्याख्यान क्रम में प्रसिद्ध इतिहासकार 'कार' ने इस ओर ध्यान दिलाया है कि पिछले युगों के आर्थिक विकास में उन्मुक्त व्यापार का सिद्धांत प्रचलित था, पर आधुनिक युग में नियोजित अर्थ व्यवस्था को महत्त्व दिया जा रहा है। उन्मुक्त व्यापार प्रणाली और नियोजित अर्थ-व्यवस्था के बीच आधारभूत अंतर स्वचेतन वृत्तिका ही है।

सामाजिक शास्त्रों के बाहर विज्ञान ने स्वचेतन की स्थिति को तो उतना प्रतिफलित नहीं किया है, पर इतिहास के महत्त्व को अवश्य उसने स्वीकार किया है, विशेषतः नवविकसित चिंतन में। अपनी इस स्वचेतन वृत्ति के कारण आधुनिकता की प्रमुख चिंतन वर्तमान के लिए है, क्योंकि 'स्व' का सबसे गहरा बोध और संपर्क वर्तमान में होता है। वर्तमान की चिंता के माध्यम से ही आधुनिक व्यक्ति भविष्य को रूपायित करना चाहता है।"[33]

समाजशास्त्र विश्वकोश- बुद्धिवाद (रैशनलिज्म) और उपयोगितावाद के दर्शन पर आधारित सोचने-समझने के एक ऐसे ढंग को आधुनिकता कहते हैं जिसमें प्रगति की आकांक्षा, विकास की आशा और परिवर्तन के अनुरूप अपने आपको ढालने का भाव निहित होता है। तार्किक, अभिवृत्ति, परानुभूति, वैज्ञानिक विश्वदृष्टि, सार्वभौमिक दृष्टिकोण इसके विशेष गुण हैं।"[34]

हिंदी साहित्य में भी आधुनिकता की अवधारणा को विभिन्न विद्वानों ने परिभाषित करने कर प्रयत्न किया है। हिंदी में आधुनिकता की शुरुआत को लेकर विभिन्न मत हैं। पश्चिमी चिंतन से प्रभावित विद्वानों का मत है कि हिंदी साहित्य में आधुनिकता की शुरुआत उन्नीसवी सदी के अंत में अर्थात् भारतेंदु काल से मानते हैं। वहीं कुछ विद्वानों का मत यह है कि आधुनिकता या आधुनिकतावाद की

शुरुआत प्रयोगवाद या नई कविता से है तो कुछ का मानना है कि आधुनिकता का संबंध द्वितीय विश्वयुद्ध के पश्चात् उत्पन्न नवीन संवेदना और नई चिंतन दृष्टि से है। इस सन्दर्भ में बहुमत यह है कि भारतेंदु काल को हम आधुनिकता का प्रवेश द्वार कह सकते हैं और आधुनिकतावाद की शुरुआत हम द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद जन्मी संवेदना और विचार दृष्टि को कह सकते हैं। इस आधार पर कुछ एक हिंदी साहित्यकारों की आधुनिकता संबंधी मत या परिभाषा जानना आवश्यक है, जो इस प्रकार है-

लक्ष्मीकांत वर्मा आधुनिकता को इन शब्दों में परिभाषित करते हैं, "आधुनिक होने का अर्थ ही है कि हम समूचे इतिहास की उपलब्धियों को, उसके अच्छे-बुरे तत्वों को मानव विकास-श्रृंखला और अनुभूति का एक जीवंत अंश मानते हैं। ऐतिहासिक दायित्व के प्रति जागरूकता आधुनिकता द्वारा ही संभव है। आधुनिक जीवन-दृष्टि मनुष्य के अतीत और वर्तमान के केंद्र को स्थापित करती है। मानव-नियति का साक्षात्कार आधुनिकता और आधुनिक दृष्टि की विशेषता है । संक्षेप में, लक्ष्मीकांत वर्मा के अनुसार, आधुनिकता एक यथार्थवादी मानव-सापेक्ष जीवन-दृष्टि है, जो वैज्ञानिक है, विश्लेषण-परीक्षण उसकी विधि है, आत्म साक्षात्कार हेतु प्रयोग उसका माध्यम है तथा आधुनिकता द्वारा ही मानव-स्वाभिमान के औचित्य और समसामयिकता का निर्वाह संभव है। आधुनिकता अतीत की रूढ़ियों का त्याग कर वर्तमान और समसामयिकता को नये रूप में प्रस्तुत करती है।"[35] इस प्रकार लक्ष्मीकांत वर्मा आधुनिकता को इतिहास से जोड़कर देखते हैं और इतिहास के जीवंत तत्व को आधुनिकता का अंश मानते हैं। साथ ही आधुनिकता को मानव जीवन-दृष्टि मानते हैं जिसका आधार वैज्ञानिक हो, जिनमें पुरानी रूढ़ियों का त्याग कर नवीन जीवन दृष्टि को अपनाया गया हो।

आधुनिकता के संदर्भ में नगेन्द्र लिखते हैं, "वस्तुतः आधुनिकता की धारणा का मूल आधार ऐतिहासिक चेतना ही है। आधुनिक दृष्टि मध्ययुगीन और प्राचीन की अपेक्षा इसलिए भिन्न है कि इसमें इतिहास बोध की प्रधानता है अर्थात् वह अपने पर्यावरण के प्रति निश्चित ही सजग है।"[36] यहाँ

नगेन्द्र भी आधुनिकता के केंद्र में ऐतिहासिक चेतना को मुख्य आधार मानते हैं और जो इसके प्रति सजग है वह अपने समय के प्रति भी सजग है, उनकी यही आधुनिकता संबंधी धारणा है।

केदारनाथ अग्रवाल आधुनिकता की व्याख्या इन शब्दों में करते हैं, "आधुनिकता कालबद्ध चेतना है। उसका एक रूप विघटनात्मक और दूसरा संघटनात्मक होता है। जहाँ आधुनिकता जीवन के स्वीकृत मूल्यों पर प्रहार करती है, कुंठाओं को जन्म देती है। आधुनिकता का संघटनात्मक स्वरूप जीवन को संश्लिष्ट रूप प्रदान करता है। आधुनिकता के दूसरे रूप का प्रतिफल अदंभ शक्ति है। इस प्रकार, आधुनिकता अस्वीकृति और स्वीकृति, समस्या और समाधान दोनों है।"[37] केदारनाथ अग्रवाल की परिभाषा से जो अर्थ बोध होता वह है, आधुनिकता मूलतः एक विचार है जो किसी काल विशेष से जुड़ी होती है। साथ ही आधुनिकता का स्वरूप एक ओर संरचनात्मक है, वहीं दूसरी ओर विनाशकारी भी है। आधुनिकता जहाँ स्थापित मान्यताओं को तोड़ती है, जीवन को नई दिशा देने का कार्य करती है, वहीं दूसरी ओर आधुनिकता विनाश की ओर भी लेकर जाता है।

डॉ.धर्मवीर भारती आधुनिकता की व्याख्या एक व्यापक परिप्रेक्ष्य में करते हैं। वह लिखते हैं, "आधुनिक दृष्टि सामाजिक सन्दर्भों से जुड़ी हुई है। आधुनिक युग में पूर्व और पश्चिम का विभाजन मिथ्या है। कारण यह है कि सम्पूर्ण विश्व में मनुष्य की नियति एक है। विज्ञान ने पश्चिम एवं पूर्व की जीवन-पद्धतियों को समान रूप से प्रभावित किया है। मानव द्वारा विकसित आधुनिक विज्ञान दोनों की नियति एक सी बताता है, जहाँ आधुनिकता का बोध संकट के बोध से जुड़ा हुआ है। आधुनिकता के प्रति आज का युग सजग है, किन्तु उनका कहना है कि आधुनिकता की सार्थकता आधुनिक मूल्य की खोज और उसके निर्माण में निहित है। अतः डॉ.धर्मवीर भारती का मानना है कि आज का युग अपने आधुनिक होने में कहीं अधिक सजग है तथा वर्तमान के प्रति अधिक सतर्क और जागरूक है।"[38] डॉ.धर्मवीर भारती की आधुनिकता संबंधी दृष्टि सामाजिक सन्दर्भों से जुड़ी हुई है, जहाँ वे आधुनिकता के सन्दर्भ में सीमाओं के विभाजन को मिथ्या मानते हैं और मानव को लेकर व्यापक रूप में विश्लेषण और विवेचन करते हैं। उनकी स्थापनाएं निम्नलिखित हैं,

1. "आधुनिक बोध चिंतन प्रधान अधिक है, कर्मप्रधान कम अर्थात् उसमे वह आतंरिक स्फूर्ति नहीं है जो कर्म की प्रेरक प्रवृत्ति होती है।
2. वह शुद्ध कला बोध से संबद्ध है, अस्तु उसका कथ्य क्षीण है, उसमें शैली प्रधान है।
3. रचना के धरातल पर, आधुनिक बोध, किसी सीमा तक वैज्ञानिक प्रणाली (आवेशहीनता और मितव्ययिता, जिसके ख़ास लक्षण हैं) से प्रभावित है।
4. वह महानगरों की सभ्यता से अधिक संबद्ध है और अंत में जिसे आधुनिक बोध कहा जाता है, वह कोई शाश्वत मूल्य नहीं है। मूल्यों के विघटन से उत्पन्न वह एक दृष्टि है, जिसमें घबराहट, निराशा, शंका, त्रास और असुरक्षा के भाव हैं।"[39]

उपर्युक्त बिन्दुओं से यह स्पष्ट हो जाता है कि डॉ.धर्मवीर भारती आधुनिकता को कई संदर्भों में परिभाषित करते हैं। जहाँ आधुनिकता का संबंध चिंतन से अर्थात् विचारों से अधिक और कर्म अर्थात् व्यवहार से कम मानते हैं। इसके अलावा आज के समय में वे मानते हैं कि आधुनिकता का संबंध महानगरीय सभ्यता से है। आज का आधुनिक जीवन अन्दर से खोखला है बेचैन, निराशा से भरा हुआ है और जहाँ असुरक्षा की भावना सभी के अन्दर व्याप्त है।

ऐतिहासिक चेतना के सन्दर्भ में रामस्वरूप चतुर्वेदी ने आधुनिक और आधुनिकता को परिभाषित करने का प्रयत्न किया है, "आधुनिकता इतिहास की सजग और स्वचेतन प्रतीति है। इतिहास-चक्र को द्रुततर करने का संकल्प ही आधुनिकता है। स्वचेतना का घनिष्ठ संबंध वर्तमान से होता है। वर्तमान की उपेक्षा संभव नहीं है। यह बोध ही आधुनिकता को रोमांटिसिज्म से अलग कर पाता है। प्रजातांत्रिक विचार से उपजे आधुनिक जीवन-दृष्टि सम्पूर्ण समाज और मानव-नियति से संबद्ध है। आधुनिक दृष्टि बौद्धिक है, उसमें स्वतंत्र चिंतन और विश्लेषण का आग्रह होता है।"[40]

मनुष्य की जीवन शैली, युग सन्दर्भ और मूल्यों का गहरा संबंध होता है। जीवन पद्धति के अंतर्गत मूल्यों का विकास होता है। इसी दृष्टि से नित्यानंद तिवारी ने आधुनिकता की व्याख्या की है। उनके

शब्दों में, "आधुनिकता सबसे पहले एक जीवन पद्धति है, जिसका विकास इतिहास की विभिन्न शक्तियों के दवाब के कारण हुआ है। आधुनिक होने का अर्थ समयहीन होना नहीं है क्योंकि इतिहास की अनेक शक्तियों के दवाब के कारण एक प्रक्रिया की निश्चित परिणति के फलस्वरूप जीवन पद्धति भी युग-सन्दर्भ के बीच ही महत्त्व पाती है और इसीलिए आधुनिकता युग सन्दर्भ से कटकर 'समयहीनता' की भावना नहीं हो सकती।"[41] नित्यानंद तिवारी आधुनिकता का संबंध इतिहास और जीवन पद्धति से जोड़कर बताते हैं। उनके अनुसार समय और युग पर ख़ास शक्तियों का दवाब होता है। यह दवाब सामाजिक, राजनैतिक, धार्मिक, सांस्कृतिक आदि किसी भी प्रकार का हो सकता है, जिससे इनमें बदलाव आने लगते हैं और धीरे-धीरे वे जीवन-पद्धति का रूप ग्रहण कर लेती हैं और फिर हम इस परिवर्तित रूप को आधुनिकता के रूप में परिभाषित करते हैं।

जगदीश गुप्त आधुनिकता और अतीत के बीच एक गहरा संबंध मानते हैं वह लिखते हैं, "आधुनिकता के मूल में मानवतावादी विचारधारा निहित है। आधुनिकता की अतीत निरपेक्ष व्याख्या मनुष्य के लिए मंगलदायक सिद्ध नहीं हो सकती। जीवन को दायित्वपूर्ण सार्थकता अर्थ प्रदान करने के लिए विवेकसम्मत आधुनिक दृष्टि का होना नितांत संगत एवं अपेक्षित है।"[42]

दूधनाथ सिंह आधुनिकता के सन्दर्भ में लिखतें हैं, "आधुनिकता युग सन्दर्भ की भावना नहीं है। आधुनिकता होने का मतलब आज का, इस दशक का, इस शताब्दी का होना नहीं, असल में आधुनिक होना शाश्वत होना है।"[43]

आधुनिकता की व्याख्या करते हुए कमलेश्वर लिखते हैं, "आधुनिकता एक ऐसी मानसिक-बौद्धिक स्थिति है जो अपने परिवेश और समाज की गहनतम समस्याओं से उद्भूत होती है और समकालीन जीवन को संस्कार देती है। मानव मूल्यों में सर्वव्यापी और सार्वजनिक होते हुए भी आधुनिकता का स्वरूप अपनी जातीय विशेषताओं से अलग नहीं होता। जातीय संस्कारों के रहते हुए भी इसमें इतनी उदारता है कि वह विजातीय गुणों को अपने में समाहित करने की शक्ति रखती है।"[44]

इस प्रकार विभिन्न भारतीय विद्वानों ने आधुनिकता संबंधी अवधारणा को अपने ज्ञान के आधार पर समय-समय पर परिभाषित करने का प्रयत्न किया है। अंततः इन विद्वानों की परिभाषाओं के आधार पर यह अर्थ-बोध होता है कि समय अपनी धुरी पर घूमता हुआ परिवर्तित होता रहता है, वक्त के इसी परिवर्तन के साथ सामाजिक, राजनैतिक, धार्मिक, सांस्कृतिक और मानवीय चिंतन एवं चिंता भी बदलती रहती है। 19वीं शताब्दी के अंतिम दशक में जो जागरणभाव या आधुनिक भाव समाज केन्द्रित हुआ उसका कारण औद्योगिक विकास है। इस औद्योगिक विकास ने मानव को अपनी सुख-सुविधाओं हेतु भविष्य के स्वर्ग-निर्माण के लिए प्रोत्साहित किया। 19वीं शताब्दी के समय-काल में यह वृत्ति न केवल नई प्रवृत्ति थी, बल्कि एक नवीन समाज और दुनिया निर्मित करने की कामना और आवेश से भरी हुई थी। 19वीं शताब्दी इस मायने में महत्त्वपूर्ण है क्योंकि जिसे हम 'आधुनिकतावाद' कहते हैं अर्थात् आधुनिकता की 'क्लासिकल पीढ़ी' कहते हैं, मूलतः महत्वपूर्ण विचार साबित होता है। इसने न सिर्फ समाज को भविष्य में प्रजातंत्र की लोकोन्मुखी व्यवस्था का स्वप्न दिखाया बल्कि जनवादी सर्वहारा व्यवस्थाओं के मध्य में वैज्ञानिक विचार को भी जन्म दिया और उन्नीसवीं शताब्दी के संकल्प को बीसवीं शताब्दी की लोकतांत्रिक, समाजवादी क्रांतियों ने उससे मूल संकल्प ग्रहण किया।

आधुनिकता संबंधी भारतीय अवधारणा समझने के पश्चात् पाश्चात्य विद्वानों का मत भी जान लेना आवश्यक है। आधुनिकता के सन्दर्भ में पश्चिम में भारत से पूर्व इसकी शुरुआत मानी जाती है। आज जिस जीवन-पद्धति को हम अपनाते जा रहे हैं, वह भी पश्चिम का ही अनुकरण कर रहे हैं। आज आधुनिकता के जो पैमाने तय किये जा रहे हैं, वह यह है कि जो राष्ट्र जितना विकसित है उसे उतना ही आधुनिक माना जा रहा है। इन सन्दर्भों में भी हम पश्चिमी राष्ट्रों को लक्षित करके चल रहे है। विज्ञान के रास्ते भी हम जिस आधुनिकता को हासिल करने का प्रयत्न कर रहे हैं वहाँ भी हम उनसे सीख रहे हैं उनका अनुकरण कर रहे हैं। अतःआधुनिकता संबंधी उनकी अवधारणा को जाने बिना आधुनिकता की सार्वभौमिक अवधारणा को नहीं जाना जा सकता है।

1.4 आधुनिकता की पाश्चात्य अवधारणा-

वेक्टर के शब्दकोश के अनुसार आधुनिक (मॉडर्न) का अर्थ है, "कला क्षेत्र में एक आन्दोलन या शैली विशेष, जिसका लक्षण है- परंपरागत शास्त्रीय रूपों और अभिव्यक्ति- प्रणाली से विच्छेद अथवा प्रयोग, निर्भीकता, मौलिकता पर बल और आधुनिक विषयों पर विचार करने का प्रयास।

'आधुनिकता' शब्द के उपर्युक्त अर्थ में निम्नलिखित प्रवत्तियों का संकेत मिलता है-

1. परम्परागत मूल्यों से विच्छेद की भावना (जिसका परिणाम है)
2. अभिव्यक्ति-प्रणाली की नवीनता।
3. रचना के क्षेत्र में मौलिकता।
4. काव्य या साहित्य में नये विषयों का समावेश।
5. प्रयोग-माध्यम और विषय के क्षेत्र में।"[45]

वेक्टर ने इन पांच बिन्दुओं के माध्यम से आधुनिकता के महत्त्वपूर्ण आवश्यक तत्त्वों की चर्चा की है। जिनमें उनका मानना है कि आधुनिकता के लिए यह आवश्यक है कि वह पुरानी अनावश्यक मूल्यहीन परंपरा जो जीवंत न हो उसे त्याग दे। अभिव्यक्ति चेतना में समय-सापेक्ष नवीनता होनी चाहिए। साथ ही समकालीन समाज में मौलिक रचनाकर्म हो, जिसमें काव्य और साहित्य में नये विषयों को स्थान मिले।

'एनसाइक्लोपीडिया ऑफ़ दी सोशल साइन्सेज' के अनुसार, आधुनिकता के लक्षण और विशेषताएं इस प्रकार हैं, "आधुनिकता वह मनोवृत्ति है, जो परंपरागत (मूल्यों) को नूतन की तुलना में गौण सिद्ध करती है और प्रतिष्ठित, प्रचलित (मान्यताओं) तथा अभिनव और नवीन प्रक्रिया की अपेक्षाओं में समन्वय स्थापित करती है। व्यावहारिक रूप में इस प्रवृत्ति के दो परिणाम हो सकते हैं- रुढ़िवादी और क्रांतिकारी। इसका रूढ़िवादी परिणाम वहाँ दृष्टिगोचर होगा, जहाँ नूतन की तुलना में परंपरागत की उपेक्षा उसे (परंपरागत को) अप्रचलित होने या परस्पर संघर्ष होने के कारण नष्ट होने से बचाती

है। इस मनोवृति का क्रांतिकारी परिणाम, वहाँ दृष्टिगोचर होगा, जहां परंपरागत को अनुपयोगी सिद्ध करके, उसे सर्वथा व्यर्थ प्रमाणित कर दिया जाए। आधुनिकता का रुढ़िवादी प्रकार विभिन्न धर्मों के क्षेत्र में देखा जा सकता है, आधुनिकता का क्रांतिकारी रूप कला-जगत में देखा जा सकता है।"[46] 'एनसाइक्लोपीडिया ऑफ़ दी सोशल साइन्सेज' के अनुसार आधुनिकता के दो स्वरूप हैं- रूढ़िवादी और क्रांतिकारी। क्रांतिकारी स्वरूप नवीन प्रक्रियाओं, चिन्तनों एवं कला जगत में दिखता है। वहीं आधुनिकता का रूढ़िवादी रूप हम विभिन्न धर्मों में देख सकते हैं।

जी.एस.फ्रेजर आधुनिकता की विवेचना रचना, साहित्य और समाज को केंद्र में रखकर करते हैं। इस सन्दर्भ में वह लिखते हैं, "किसी भी आधुनिक रचना में कुछ मूलभूत आंतरिक विशेषताएँ होती हैं। अतः किसी रचना को आधुनिक कहने का मतलब है- उसकी मूलभूत आतंरिक विशेषताओं की ओर संकेत करना। साहित्य में आधुनिकता का लक्षण है- अतीत में कल्पना-प्रवण अभिरुचि। आधुनिक साहित्य का मूल- अंग्रेज़ी रोमांटिक आन्दोलन में ढूंढा जा सकता है, कारण यह कि उक्त आन्दोलन का एक पक्ष अतीत के प्रति श्रद्धा-भाव से जुड़ा था। विगत का सही दिशा में किया गया अध्ययन मानव-व्यक्तित्व को एक नयी दिशा प्रदान कर सकता है। फ्रांस की क्रान्ति ने यह प्रमाणित कर दिया कि मनुष्य इतिहास की शक्तियों से नियंत्रित होता है, न कि वह इन शक्तियों को नियंत्रित कर पाता है। ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य से अपने को जोड़कर, मनुष्य अपने व्यक्तित्व का विकास और विस्तार कर सकता है।"[47] जी.एस.फ्रेजर की आधुनिकता संबंधी दृष्टि ऐतिहासिकता और परंपरा से संबंधित है उनका मानना है, जब किसी रचना को आधुनिक कहा जाए तो उसका अर्थ उसकी आंतरिक विशेषताओं से हो अर्थात् उस रचना में वह शक्ति हो जिससे मानव जाति का विकास हो, मनुष्य के व्यक्तित्व को एक दिशा मिल सके और यह तब संभव है जब उस रचना में अतीत का गहरा बोध हो। वह लिखते हैं, जैसे अंग्रेजी साहित्य में रोमांटिक आन्दोलन का उद्देश्य था, जिसमें अतीत के प्रति उन रचनाओं में श्रद्धा-भाव निहित था ।

मैक्स वेबर 'द प्रोटेस्टेंट एथिक एंड द स्पिरिट ऑफ कैपिटलिज़्म' में आधुनिकता को इन शब्दों में व्याख्यायित किया है, "आधुनिकता व्यक्ति एवं समाज के सदा से चले आ रहे स्वरूप को मिलने वाली स्पष्ट स्वीकृति है। आधुनिकता अतीत में की गई अस्मिता की संरचनाओं की श्रृंखला में मात्र अगली कड़ी नहीं है, बल्कि यह इन संरचनाओं के मूल में उपस्थित कारणों पर से पर्दा उठाने की प्रक्रिया है।"[48] इस परिभाषा का अर्थ हुआ कि हर एक काल में व्यक्ति और समाज का एक अपना विकासशील स्वरूप होता है और इस स्वरूप को जो स्वीकृति अर्थात् एक पहचान मिलती है वह आधुनिकता कहलाती है या इस प्रक्रिया को हम आधुनिकता कह सकते हैं।

एडोर्नो और होखाईमर अपनी आलोचनात्मक पुस्तक 'डायलेक्टिक ऑफ़ इनलाइटमेंट' में लिखते हैं, "आधुनिकता के साथ आई कथित तार्किकता ने मनुष्यों को अभी उनके मिथकीय अतीत से मुक्त नहीं किया है। प्राकृतिक दुनिया पर मनुष्य का वर्चस्व धीरे-धीरे उसे सामाजिक दुनिया से नियंत्रण की ओर ले गया है। 'प्रगति' की अवधारणा एक प्रकार की पाश्विकता में बदल गई है। फासीवाद के उदय की परिस्थितियों में एडोर्नो ने संस्कृति के इसी आततायी रूप को टेक्नोलॉजी और पूंजी के विकास से जोड़कर देखा था।"[49] आधुनिकता ने मनुष्य को और अधिक तर्कसम्मत बना दिया, किन्तु उसे मिथकीय अतीत से मुक्त नहीं किया। इसी प्रक्रिया में अपने सामाजिक क्षेत्रफल को विज्ञान की मदद से बढ़ाने लगा, विज्ञान ने एक ओर मनुष्य और उसके सामाजिक जीवन को आधुनिक जीवन दृष्टि प्रदान की है, वहीं दूसरी ओर विज्ञान और आधुनिक मानव की लालसाओं ने मानव को मानव से पशु बना दिया। एडोर्नो ने फासीवाद के उदय के पीछे इसी आधुनिक विज्ञान और उसके स्वरूप को बताया है।

स्टीफन स्पेंडर, "However, in literature, with which I am here mostly concerned, it is this which today still challenges the reaction against the modern movement. I consider that early in this century and perhaps up to the 1930's the best work of the modern expressed this tension between past and present, which could

only be expressed in a revolutionary kind of art, what Joyce, Eliot, Lawrence, Pound, Yeats, Virginia are today sometimes dismissed as experimental."[50]

एम.रोजर- "modernization is the process by which individuals change from traditional way of life to a more complex, technologically advanced and rapidly changing style of life.[51]

निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि इन विद्वानों ने आधुनिकता के विभिन्न स्वरूपों को भिन्न-भिन्न दृष्टियों से परिभाषित करने का प्रयत्न किया है। इन परिभाषाओं को संक्षिप्त में समझने का प्रयत्न करें तो आधुनिकता एक ऐसी अवधारणा है जो सकारात्मक और विधेयात्मक है। आधुनिकता अपना आधार इतिहास, परंपरा, परिवेश, व्यक्ति, समाज और काव्य चेतना के संश्लिष्ट रूप से पाता है। साथ ही आधुनिकता का दृष्टिकोण वैज्ञानिक है। यही वैज्ञानिक दृष्टिकोण ही परम्परगत और नवीन दोनों ही मान्यताओं और विचारधाराओं पर निरीक्षण और परीक्षण करने की एक दृष्टि देता है, स्वतंत्रता देता है। जिन मूल्यों की स्थापना से मानव समाज का हित हो, उन मूल्यों को हम आधुनिक कहेंगे। आधुनिकता समय के साथ मानव के कल्याण हेतु अपने मूल्यों में भी परिवर्तन लाती रहती है और परंपरा की सबसे नवीन कड़ी आधुनिकता ही है ऐसा कहना गलत नहीं होगा।

भारतीय और पाश्चात्य विद्वानों की स्थापित अवधारणाओं को जान एवं समझ लेने के बाद आधुनिकता का संबंध हिंदी साहित्य से कैसा रहा है, यह भी जानना आवश्यक है। परंपरा से आधुनिकता का क्या संबंध है ? इसके अतिरिक्त आधुनिकता के संबंध में स्वतंत्रता का क्या अर्थ है? अतः इन सभी बिन्दुओं को केंद्र में रखकर हम आधुनिकता की अवधारणा को और अधिक बेहतर दृष्टि से समझ सकते हैं।

स्वतंत्रता, आधुनिकता का एक ऐसा विस्तार है जिसे आधुनिकता के प्रमुख तत्वों के रूप में माना गया है। स्वतंत्रता का स्वरूप भिन्न-भिन्न काल में अलग रहा है। उदाहरण स्वरूप मध्यकाल में

स्वतंत्रता के अलग मायने थे। मध्यकाल में सामाजिक स्वतंत्रता का अर्थ एक समान नहीं था। इस काल में उच्चकुलीन लोगों के लिए भौतिक सुखों की स्वतंत्रता थी, वही स्वतंत्रता का कामगारों या किसानों के लिए कोई विशेष अर्थ नहीं था। उच्चकुलीन लोगों के लिए जुआ खेलना, परस्त्रीगमन की स्वतंत्रता तथा विलासी जीवन की पूर्णतः स्वतंत्रता थी। धार्मिक और आध्यात्मिक स्वतंत्रता भी राजसत्ता द्वारा नियंत्रित नियमानुसार ही थी। आम वर्गों के लोगों के लिए यह आध्यात्मिक चिंतन और अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता मनसा रूप में ही रह गई थी। अतः मध्यकाल में अपने आराध्य का भौतिक रूप से धार्मिक अनुष्ठान वही कर सकता था जिसे उच्चकुलीन समाज ने उसका अधिकार दे रखा हो। शेष जनता की स्वतंत्रता एकांत भाव से खुद को अपने आराध्य को समर्पित कर देने में ही थी। किन्तु यह परतंत्र मनोवृत्ति आज रूढ़ हो चुकी है। अतः आधुनिकता का आविर्भाव भी वहीं होगा जहाँ भौतिक स्वतंत्रता के समान अधिकार के साथ-साथ चिंतन और अभिव्यक्ति का अधिकार भी समाज में समान रूप से होगा। गंगा प्रसाद विमल स्वतंत्रता और आधुनिकता के सन्दर्भ में अपनी पुस्तक 'आधुनिकता : साहित्य के सन्दर्भ में' में लिखते हैं, "स्वतंत्रता वस्तुतः एक मानवीय चेतना है जो आत्मचेतना से उदित होकर सार्वजनिक स्वतंत्रता के फलक तक विस्तृत हुई है। यदि हम यह स्वीकार करें कि आधुनिकता का मूल तत्व एक प्रकार की आत्मचेतना है तो स्वतंत्रता के प्रश्न आधुनिकता से, अपरिहार्य रूप से संबद्ध मानने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए।"[52]

फ़्रांस की राज्य क्रान्ति ने स्वतंत्रता का जयघोष कर समानता और बंधुत्व को स्थापित करने का प्रयास किया, साथ ही सामन्ती व्यवस्था के खिलाफ एक जनतांत्रिक मूल्यों की स्थापना की थी। मानव उत्थान की लोकतांत्रिक विचारधारा ही, जिसका उदय पूंजीवाद के के साथ-साथ उदय हुआ, आधुनिक-काल को मध्यकाल से पृथक करती है। किन्तु जिस सामंती व्यवस्था को तोड़कर पूंजीवाद ने इतिहास में प्रगतिशील भूमिका अदा की, आगे चलकर यही पूंजीवाद प्रगतिशील शक्तियों के विकास मार्ग में बाधा बनकर खड़ा हो गया। साथ ही वक्त के साथ शीघ्र ही यह ज्ञात हुआ कि जिस बुर्जुआ क्रान्ति ने समानता और बंधुत्व का जयघोष कर पूंजीवाद को जन्म दिया वही पूंजीवाद मानव

जाति के शोषण की एक नई व्यवस्था है। नई व्यवस्था के रूप में पूंजीवादी राष्ट्रों ने अपने साम्राज्य विस्तार के लिए दो महायुद्धों को जन्म दिया। जिसका परिणाम था नरसंहार और मानव मूल्यों का विघटन। उस वक्त पूंजीवादी शक्तियों के विरुद्ध दो विचारधाराओं ने जन्म ले लिया था जिसे हम मार्क्सवादी और लेनिनवादी के रूप में जानते हैं, जो इन पूंजीवादी शक्तियों के समक्ष एक ठोस वास्तविकता बनकर उन्हें चुनौती पेश कर रही थी। जीवन, कला और साहित्य में आधुनिकता और आधुनितावादी प्रवृत्तियों का जन्म इसी पृष्ठभूमि में होता है।

आधुनिकता के उदय के साथ पुरानी सामंती व्यवस्था टूटी, सांस्कृतिक प्रारूप बदले, मनुष्य की आस्था का केंद्र परलोक से इहलोक होने लगा। आधुनिक काल में ज्ञान-विज्ञान के जरिये और औद्योगिक क्रान्ति के परिणामस्वरूप आधुनिक मानव की चेतना जागृत हुई। यही चेतना मानव को मध्यकालीन सामंती व्यवस्था एवं मध्यकाल में ईश्वर की अभ्यर्थना को आवश्यक आचरण समझे जाने वाली मानसिकता से मुक्ति दिलाती है। मध्यकाल में भक्ति के इसी आधार पर मानव से मानव को पृथक समझा जाता था। जबकि विज्ञान ने मानव को आधुनिक काल में सामाजिकता के नए अनुशासन से परिचय कराया है। इसके अलावा आधुनिक चिंतन और विज्ञान ने मानव को यह भरोसा दिलाया कि उसमें खुद के भाग्य को बदलने की क्षमता है, वह स्वयं का भाग्य विधाता है।

हिंदी साहित्य में आधुनिक काल की शुरुआत 19वीं शती के उत्तरार्द्ध और 20वीं सदी के प्रांरम्भ के राष्ट्रीय नवजागरण से हुई थी। जब भारत की जनता सामंती, पूंजीवादी और साम्राज्यवादी ताकतों के विरुद्ध उठ खड़ी हुई और हिंदी साहित्यकारों ने अपनी साहित्य लेखनी का केंद्रीय विषय मुक्ति की सार्वजनिक या व्यक्तिगत कामना को बनाया। आधुनिकता के संचरण को हम हिंदी साहित्य में देखें तो हमारे सामने दो दौर आते हैं, पहला स्वतंत्रता से पूर्व का साहित्य और एक स्वातंत्र्योत्तर साहित्य। स्वतंत्रता आंदोलनों के दौरान जो साहित्य रचना की गई उसे तात्कालिक मानदंडो के आधार पर प्रगतिशील कहा गया है, क्योंकि उस समय साम्राज्यवाद के विरुद्ध राष्ट्रीय चेतना का प्रसार तात्कालिक लक्ष्य था। 'सरस्वती' पत्रिका के प्रकाशन के बाद हमें हिंदी साहित्य में

आधुनिकता बोध देखने को मिलता है। तत्कालीन देशप्रेम का प्रतीकात्मक गीत 'वन्देमातरम्' 1906 में 'सरस्वती' पत्रिका में छपता है। जिसके पश्चात् 'सरस्वती' पत्रिका ने साम्राज्यवादी शक्तियों के विरुद्ध मोर्चा खोल दिया और अंग्रेजी शासन के विरुद्ध लगातार आलोचना करना प्रारंभ कर दिया। 'कविवचन सुधा' में भारतेंदु ने जनवादी भावनाओं को स्थान दिया। उनकी रचनाओं और विभिन्न वक्तव्यों से यह बोध होता है कि वह समाज के पुराने ढाँचे के स्थान पर एक नए समाज की कल्पना करते हैं। साम्राजवादी शक्तियों के विरुद्ध अपने साहित्य लेखन से वह निरंतर संघर्षरत रहे। 18 मई 1874 को 'कविवचन सुधा' में वह एक स्थान पर अंग्रेजों के सन्दर्भ में लिखते हैं, "जब अंग्रेज विलायत से आते हैं, प्रायः कैसे दरिद्र होते हैं और जब हिन्दुस्तान से अपने विलायत को जाते हैं तो कुबेर बन जाते हैं- इससे सिद्ध हुआ कि रोग और दुश्काल इन दोनों के मुख्य कारण अंग्रेज ही हैं।"[53]

इस प्रकार अपने साहित्यिक पत्र-पत्रिका लेखन के माध्यम से साम्राज्यवादी शक्तियों के विरुद्ध 'सरस्वती पत्रिका', 'कविवचन सुधा' तथा कई अन्य तत्कालीन पत्रिकाओं ने देश की साम्राज्यवादी सत्ता का निरंतर विरोध किया। साथ ही इसमें कोई शक नहीं कि साथ-साथ उस समय के समकालीन हिंदी के साहित्यकारों ने हिंदी साहित्य और समाज को अपनी रचना धर्मिता से एक से बढ़कर एक साहित्यिक अनमोल निधि दी। साथ ही सच्चे जनवादी साहित्य की नींव डालने वालों में वे अग्रणीय थे।

इनसे आगे जयशंकर प्रसाद और प्रेमचंद साहित्य और उनकी रचनाओं में आधुनिक जीवन के प्रति आस्था और मुक्ति संघर्ष की पड़ताल करें तो दोनों ही चिन्तकों में हम पाएँगे कि वे अलग-अलग चिंतनधारा के प्रवर्तक थे। जयशंकर प्रसाद की रचनाओं में पुनरुत्थानवाद के साथ-साथ नवनिर्माण के बीज तत्व भी मौजूद थे। इसे ऐसे समझा जा सकता है कि प्रसाद की 'कामायनी' को यदि 'यूटोपिया' समझा जाए तो उसे प्लेटो के 'रिपब्लिक' और टामस मूर के यूटोपिया के समकक्ष समझा जा सकता है। समाज में व्याप्त अव्यवस्था तथा विषमता के आधार पर ही कोई साहित्यकार

'यूटोपिया' की कल्पना कर सकता है। इस दृष्टि से प्रसाद भी एक आधुनिक क्रांतिकारी दृष्टि के साहित्यकार ठहरते हैं।

भारतीय जनमानस स्वतंत्रता से पूर्व न केवल दासता से मुक्ति की कामना करते थे बल्कि आर्थिक आजादी की अपेक्षा भी रखते थे। देश की बाहुल्य जनता इस आर्थिक दासता की गिरफ्त में थी और उस समय बहुत कम रचनाकारों और रचनाओं ने गांधीवादी समय की इन विसंगतियों की ओर लोगों का ध्यान आकृष्ट करवाया। प्रेमचंद और उनके जैसे कुछेक रचनाकारों ने सामाजिक और आर्थिक मुक्ति को अपनी रचनाओं का केंद्रीय विषय बनाया। प्रेमचंद ने आर्थिक विषमता, भूख-गरीबी, किसान और लगान उसका भूमि स्वामित्व आदि विषयों को अपने उपन्यासों के माध्यम से एक आवाज दी। प्रेमचंद के उपन्यासों के पात्र होरी, गोबर, धनिया आदि न केवल भारत बल्कि विश्व के सभी पीड़ितजनों का प्रतिनिधित्व करते हैं। विश्व में जहाँ-जहाँ पूंजीवादी शक्तियों द्वारा कोई शोषित है, वहाँ-वहाँ प्रेमचंद के ये पात्र सार्थक हैं। इस प्रकार जिस साहित्य में मानव मुक्ति की कामना हो, वही साहित्य आधुनिक कहा जा सकता है और वही रचनाकार प्रगतिशील साहित्यकार।

स्वतंत्रता प्राप्ति के कुछ वर्षों पश्चात् भी आधुनिकता की खोज की अलग-अलग दो धाराएँ प्रेमचंदोत्तर साहित्यधारा में सक्रिय रही हैं। प्रगतिशील कथा की एक धारा रही है जिसके प्रमुख लेखकों में नागार्जुन, यशपाल, रांगेय राघव आदि उल्लेखनीय हैं। इन साहित्यकारों को प्रतिबद्ध कथाकार भी कहा गया है। इसके अतिरिक्त जो कथाधारा रही है, उसे नए कथा प्रयोगों की कथाधारा में रखा गया है। इनमें जिन मुख्य रचनाकारों को रखा गया है, वे हैं अज्ञेय, जैनेन्द्र, और इलाचंद्र जोशी। आधुनिक जीवन की जटिलताओं को इन कथाकारों ने व्यक्तिवादी माध्यम से अपनी कथाओं में प्रतिबिंबित किया है। स्वातंत्र्योत्तर हिंदी उपन्यासों में आधुनिक संवेदना का विस्तार कई स्तरों पर दिखता है जैसे- सामाजिक समस्याओं के प्रति आधुनिक दृष्टिकोण, स्वतंत्रता के पश्चात् राजनैतिक उथल-पुथल के परिणाम स्वरूप उत्पन्न धार्मिक उन्माद, आर्थिक विपन्नता आदि समस्याओं और उनमें निहित संवेदनाओं को आधुनिक साहित्यिक भाषा शैली में प्रस्तुत किया गया है। इसके पश्चात् कई

मनोविश्लेषणवादी उपन्यासकार भी हुए जिन्होंने मनुष्य के अन्दर के संघर्ष को दिखाकर आधुनिक मानव की समस्याओं और उसके संघर्ष को उपन्यास विधा के माध्यम से रूपायित किया है। स्वातंत्र्योत्तर कमोबेश जिन हिंदी उपन्यासों में आधुनिक संवेदना का विस्तार देखा जा सकता है, वो इस प्रकार हैं- 'रतिनाथ की चाची', 'नदी के द्वीप', 'पथ की खोज', 'बलचनमा', 'सूरज का सातवां घोड़ा', 'मैला आँचल', 'ज़हाज के पंछी', 'सागर लहरें और मनुष्य', 'बूंद और समुन्द्र', 'परती परिकथा', 'झूठा सच', 'अँधेरे बंद कमरे में', 'अपने अपने अजनबी', 'शहर में घूमता आईना', 'राग दरबारी', 'आधा गाँव', 'आपका बंटी', 'तमस', 'मुर्दा घर', 'सफ़ेद मेमने', 'एक चूहे की मौत', 'बेघर', और 'एक अचला-एक मनःस्थिति' आदि नाम उल्लेखनीय हैं।

भारतीय साहित्य जगत में कहानी का इतिहास बहुत अधिक पुराना नहीं है। आधुनिक हिंदी कहानी का इतिहास तो और भी नया है। आधुनिक हिंदी कहानियों में जो सबसे अधिक लोकप्रिय रही वे हैं प्रेमचंद रचित 'पूस की रात' और 'कफ़न'। इस सन्दर्भ में गंगा प्रसाद विमल अपनी पुस्तक 'आधुनिकता :साहित्य के सन्दर्भ में' लिखते हैं, "भारतीय हिंदी कहानियों का इतिहास अधिक पुराना नहीं है। आधुनिक कहानियों का इतिहास तो और भी नया है। हिंदी की दो आधुनिक कहानियाँ 'पूस की रात' और 'कफ़न' का उल्लेख किया जाता है। इन्हें आधुनिक परंपरा की प्रारंभिक कहानियाँ मानना चाहिए। आधुनिक कहानी का इतिहास 1950 से प्रारंभ होता है।"[54]

पिछले दो दशकों में हिंदी के साहित्यिक जगत में कहानी को केंद्रीय स्थिति प्राप्त हुई है। यह कोई आकस्मिक नहीं है। इसके पीछे जो मुख्य कारण कहा जा सकता है, वह है आधुनिकता के कारकों का दवाब। आधुनिक कारकों और दवाबों के कारण कविता के शैल्पिक मोह और विवरणों से भरे बड़े रचना संसार वाले उपन्यास विधा के स्थान पर संक्षिप्त और छोटे कलेवर से युक्त कहानी विधा अधिक रची जाने लगी। कहानी की इन्हीं विशेषताओं और तत्त्वों के कारण कहानियों की जनप्रियता अधिक बढ़ गई। साथ ही कहानी में नए प्रयोग किये गए, जिससे कहानी विधा के साथ पाठक वर्गों का तादात्म्य बढ़ता ही गया। इसके अतिरिक्त कहानी अपने रूप में भी वक्त के साथ बदलाव लायी,

जैसे इसने बेहद मानवीय प्रसंगों और सवालों को, मानवीय संकट की कहानी को कथात्मक शैली में बड़ी सरलता से अभिव्यक्त किया है। शायद यही कुछ कारण हैं जिससे आज कहानी को आधुनिक साहित्यिक विधा में पाठकों के बीच एक विशिष्ट स्थान प्राप्त है। नया कहानीकार एक सजग नागरिक की भांति अपनी भूमिका निभाता है । एक लम्बे अरसे तक हिंदी साहित्य में आदर्शवाद और प्रयोगवाद ने अपना कब्जा जमाकर रखा, किन्तु जल्दी ही यह स्थान आधुनिक भाव-बोध से अनुप्रेरित यथार्थवादी कहानीकारों एवं उनकी कहानियों ने ले लिया । जैसे कमलेश्वर ने अपनी कहानियों में मध्यवर्ग एवं निम्नवर्ग के लोगों को स्थान दिया । साथ ही इन दोनों वर्गों की यथार्थ स्थिति के प्रति अन्य लेखकों को भी लेखन हेतु प्रेरित किया । सामाजिक यथार्थ का प्रमाण स्वयं कमलेश्वर की कहानी 'खोयी हुई दिशाएँ' है । विभाजन आधारित कहानियों को भी नई पीढ़ी के कथाकारों ने नई कहानी लेखन में स्थान दिया, जो विभाजन की विभीषिका और उसके विस्थापित भाव को पाठक वर्ग तक पहुँचाती है। जैसे मोहन राकेश कृत कहानी 'मलबे का मालिक' एक ऐसी ही कहानी है जो विस्थापना के दर्द को बड़ी सूक्ष्मता से कहानी के कैनवास पर चित्रित करती है । इसके अतिरिक्त 'आर्द्रा' भी एक बेहतर उदाहरण है। विस्थापना या विस्थापित होने का विचार एक आधुनिक मनःस्थिति है जो आगे चलकर गाँव से शहर की ओर विस्थापित होने या संयुक्त परिवार से एकल परिवार में विस्थापित होने आदि के प्रसंगों में भी देखा जा सकता है। यह सभी मनःस्थितियाँ एक आधुनिक मानव की मनःस्थितियाँ हैं जो कुछ हालातों से विवश होकर करते हैं और कुछ लोग अपनी भोगवादी दृष्टि के कारण करते हैं। इस प्रकार नई कहानियों में आधुनिक मनुष्य का अकेलापन, अलगाव, असुरक्षा, अस्तित्व का संकट, सत्ता की क्रूरता, सामूहिक शोषण आदि को विषय वस्तु बनाया गया है । नई कहानियों में चित्रित और बिम्बित ये भाव सही मायने में आधुनिकता के ही बिम्ब हैं, ऐसा कहना गलत नहीं होगा। अतः समकालीन साहित्य ने इन सभी भावों को नई कहानी के माध्यम से सफलतापूर्वक चित्रित किया है।

इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि साहित्य मनुष्य के आत्म-चिंतन और इस संसार के प्रति राग का प्रतिलेखन दस्तावेज है। साथ ही मनुष्य के संघर्ष का महालेख भी कहा जा सकता है, जो संसार में संघर्षशील मानव को त्रासद परिस्थतियों से मुक्ति का मार्ग भी बतलाता है। आज समस्त संसार पूंजीवाद, राजनेताओं तथा व्यवस्था तंत्रों के हाथों में जकड़ा हुआ है। ऐसे में साहित्य की भूमिका यहाँ प्रासंगिक हो जाती है और सवाल उठता है कि क्या साहित्य इन समस्याओं से निपटने के लिए अपनी कोई सकारात्मक भूमिका निभाते हुए कुछ संभावनाएँ दे सकता है ? जिसका मार्ग मुक्ति का हो। इस सन्दर्भ में यह कहा जा सकता है कि एक स्पष्ट वैचारिक प्रतिबद्धता ही उन सभी संभावनाओं को तलाश सकती है, जो इस संसार के लिए कल्याणकारी है। वैचारिक प्रतिबद्धता कहें तो कोई अतिरिक्त आयाम नहीं, बल्कि वह एक दृष्टिकोण है, जो इतिहास के प्रति आस्था रखता है, वर्तमान के प्रति सचेत रहता है और भविष्य के प्रति उसकी निष्ठा होती है। इस प्रकार साहित्य किसी रचनाकार की आत्मीय निधि नहीं है, बल्कि वह एक माध्यम है जिससे मानव के जीवन-मूल्य और उससे भी आगे मानव अस्तित्व से जुड़े मुख्य प्रश्नों को वाणी देता है। अतः कोई साहित्य ऐतिहासिक संदर्भों एवं अपनी परंपरा से जुड़ा रहकर, मानव मुक्ति के प्रश्नों को उठाकर और वास्तविक जीवन से जुड़कर ही आधुनिक हो सकता है।

परंपरा और आधुनिकता की अवधारणा को विभिन्न दृष्टिकोणों से संक्षिप्त रूप में जानने के बाद निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि परंपरा और आधुनिकता दो अलग तत्व होते हुए भी एक-दूसरे के पूरक हैं। प्रगतिशील दृष्टिकोण आधुनिकता को जन्म देता है और एक दिन वह परंपरा का रूप धारण कर लेता है। इस दृष्टि से जो आज आधुनिक है एक दिन वह परंपरा का रूप धारण कर लेगा। अतः गतिशीलता ही परंपरा और आधुनिकता का वास्तविक गुण है, जो उसे रूढ़ नहीं होने देता है।

सन्दर्भ-

1. पाण्डेय, चन्द्र सुरेश; आधुनिक हिंदी कविता पर अंग्रेजी कविता का प्रभाव; अनुभव प्रकाशन, प्रेमनगर, कानपुर; संस्करण, प्रथम; पृ 61.
2. प्रसाद, जयशंकर; कामायनी; लोकभारती प्रकाशन, गाँधी मार्ग, इलाहाबाद: संस्करण, 2018; पृ 19.
3. वही; पृ 37.
4. सिंह, सुखबीर; समीक्षा के नए प्रतिमान; के.के. प्रकाशन, दरियागंज,नई दिल्ली; संस्करण, प्रथम, पृ 27.
5. रावत, हरिकृष्ण; समाजशास्त्र विश्वकोश; रावत प्रकाशन, जवाहर नगर, जयपुर; संस्करण, 2006; पृ 411.
6. वही; पृ 411.
7. वही; पृ 754.
8. बाहरी, हरदेव; हिंदी शब्दकोश; राजपाल प्रकाशन, कश्मीरी गेट, नई दिल्ली; पृ 475.
9. पाण्डेय, प्रसाद, राजेंद्र; परंपरा का परिप्रेक्ष्य; नवचेतन प्रकाशन; उत्तमनगर,दिल्ली-59; संस्करण, 2005; पृ11.
10. वही; पृ 18.
11. वही; पृ 18.
12. वही; पृ 18.
13. वही; पृ 23.
14. वही; पृ 17.
15. पाण्डेय, मैनेजर; साहित्य और इतिहास दृष्टि; वाणी प्रकाशन, दरियागंज ,नई दिल्ली; संस्करण, 2000; पृ.137.
16. वही; पृ.137, 138.
17. पाण्डेय, प्रसाद, राजेंद्र; परंपरा का परिप्रेक्ष्य; नवचेतन प्रकाशन; उत्तमनगर,दिल्ली-59; संस्करण- 2005; पृ.21, 22.
18. शर्मा, जगदीश; साहित्य की हैसियत; राजस्थानी साहित्य संस्थान(जोधपुर); संस्करण, 1992; पृ 11.
19. वही; पृ 11.

20. वही; पृ 12.

21. शर्मा, रामविलास; संस्कृति और साहित्य; किताब महल, इलाहाबाद; संस्करण, 1963; पृ 6, 7.

22. पाण्डेय, प्रसाद राजेंद्र; परंपरा का परिप्रेक्ष्य; नवचेतन प्रकाशन; उत्तमनगर,दिल्ली-59; संस्करण, 2005; पृ.26, 27.

23. Oxford advanced learner's Dictionary; Oxford University Press; Great Clarendon street, Oxford, ox2 6dp, United Kingdom; edition-9; P-1661.

24. पाण्डेय, प्रसाद; परंपरा का परिप्रेक्ष्य; नवचेतन प्रकाशन; उत्तमनगर,दिल्ली-59; संस्करण, 2005; पृ 11.

25. वही; पृ 17.

26. शर्मा, जगदीश; साहित्य की हैसियत; राजस्थानी साहित्य संस्थान; जोधपुर,यू.आई.टी के पास; संस्करण, 1992; पृ 12.

27. पाण्डेय, प्रसाद राजेंद्र; परंपरा का परिप्रेक्ष्य; नवचेतन प्रकाशन; उत्तमनगर,दिल्ली-59; संस्करण, 2005; पृ.14.

28. वही; पृ 14, 15.

29. वही; पृ 15.

30. वही; पृ 12.

31. विमल, प्रसाद, गंगा; आधुनिकता: साहित्य के सन्दर्भ में; वाणी प्रकाशन, दरियागंज नई दिल्ली;संस्करण, प्रथम; पृ 66.

32. अमरनाथ; हिंदी आलोचना की पारिभाषिक शब्दावली; राजकमल प्रकाशन दरियागंज, नई दिल्ली; संस्करण, 2016; पृ 59, 60.

33. वर्मा, धीरेन्द्र; वर्मा, ब्रजेश्वर, चतुर्वेदी, रामस्वरूप; भारती, धर्मवीर; रघुवंश; हिंदी साहित्य कोश, भाग-1, पारिभाषिक शब्दावली; ज्ञान मंडल लिमिटेड, संतकबीर रोड, वाराणसी; संस्करण, 1985; पृ 86, 87.

34. रावत, हरिकृष्ण; समाजशास्त्र विश्वकोश; रावत प्रकाशन,जवाहर नगर, सत्यम अपार्टमेंट, जयपुर; संस्करण, 2006; पृ 237.

35. पाण्डेय, चन्द्र सुरेश; आधुनिक हिंदी कविता पर अंग्रेजी कविता का प्रभाव; अनुभव प्रकाशन, प्रेमनगर,कानपुर; संस्करण, प्रथम; पृ 55, 56.

36. चौहान, सिंह, शिवदान; आलोचना; अंक.34; जुलाई.1966; पृष्ठ, 10.

37. पाण्डेय, चन्द्र सुरेश; आधुनिक हिंदी कविता पर अंग्रेजी कविता का प्रभाव; अनुभव प्रकाशन, प्रेमनगर,कानपुर; संस्करण, प्रथम; पृ 57.

38. वही; पृ 58.

39. वही; पृ 59.

40. वही; पृ 55.

41. वही; पृ 56.

42. वही; पृ 56, 57.

43. रावत, चंद्रभानु; खंडेवाल, रामकुमार; आधुनिता: एक पहचान; अक्षर प्रकाशन दरियागंज,नई दिल्ली, संस्करण, 1969; पृ 331, 332.

44. धनंजय; समकालीन कहानी: कुछ विचार बिंदु; वाणी प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली; संस्करण, 1989; पृ.42.

45. पाण्डेय, चन्द्र सुरेश; आधुनिक हिंदी कविता पर अंग्रेजी कविता का प्रभाव; अनुभव प्रकाशन प्रेमनगर, कानपुर; संस्करण, प्रथम; पृ 51, 52.

46. वही; पृ 52.

47. वही; पृ 54.

48. नवीन, शंकर देव, मिश्र, कुमार सुशांत, उत्तर आधुनिकता : कुछ विचार; वाणी प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली; संस्करण, 2000; पृ 56.

49. जैन, रमा; प्रसाद; शाहू शांति; नया ज्ञानोदय; भारतीय ज्ञानपीठ, कलकत्ता; फरवरी-2007, अंक-48; पृष्ठ.100, 101.

50. सक्सेना, लाला प्रसाद; आधुनिकता बोध और परंपरा; निर्मल प्रकाशन, जयपुर; संस्करण, 1972; पृ 5, 6.

51. पवार, सुभाष; कथाकार उषा प्रियंवदा; विद्या प्रकाशन, कानपुर; संस्करण, 2010; पृ 15.

52. विमल, प्रसाद गंगा; आधुनिकता: साहित्य के सन्दर्भ में; पराग प्रकाशन, महरौली, दिल्ली-30, संस्करण, 1978; पृ 17.

53. पाण्डेय, अम्बादत्त; आधुनिकता और आलोचना; प्रेम प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली; संस्करण,1985; पृ 10.

54. विमल, प्रसाद गंगा; आधुनिकता: साहित्य के सन्दर्भ में; पराग प्रकाशन, महरौली, दिल्ली-30, संस्करण, 1978; पृ 216.

द्वितीय अध्याय

स्वातंत्र्योत्तर प्रमुख हिंदी नाटकों में परंपरा और आधुनिकता का समवाय

स्वातंत्र्योत्तर भारतीय समाज की जीवन-दृष्टि में समय के साथ एक बड़ा परिवर्तन आता चला गया, जिसका पहला मूल कारण राजनैतिक परिवर्तन था तथा दूसरा आर्थिक विघटन। इसके अतिरिक्त औद्योगिकीकरण, पाश्चात्य जीवन-मूल्य, शिक्षा, आधुनिक विज्ञान तथा सूचना क्रांति आदि ने पूरे भारतीय समाज का ढांचा बदलकर रख दिया था।

व्यक्ति के समूह से समाज का निर्माण होता है। आरंभ से ही मनुष्य ने अपने विकास के लिए स्वयं को संगठित किया, जिससे वह सुरक्षित रह सके। इस धरती के विभिन्न हिस्सों पर धीरे-धीरे अलग-अलग समाज का निर्माण होता गया। हर समाज में अलग-अलग संस्कृतियों और परंपराओं का विकास होने लगा, जिसका अनुसरण करना समूह के हर व्यक्ति का कर्त्तव्य समझा जाने लगा। प्राचीनकाल से व्यक्ति और समाज के संबंध पर विभिन्न दृष्टिकोणों से विचार-विमर्श किया जाता रहा है। यदि प्राचीन और मध्यकाल की बात की जाए, तो उस समय 'धर्म' समाज के केंद्र में था, जिसमें परंपरा और संस्कृति को जोड़कर देखा जाता था। साथ ही धर्म का सर्वोच्च स्थान निर्धारित था तथा इसका महत्त्व अक्षुण्ण था। ऐसे में धर्म का पालन सर्वोपरि माना जाता था। आधुनिक काल में परंपराओं और संस्कृतियों का स्वरूप बदलता चला गया। मनुष्य ने धीरे-धीरे अपने समाज और अपनी जीवन-शैली से उन विश्वासों को निकाल फेंका, जो जड़ हो गए थे। इससे समाज और व्यक्ति की जीवन-शैली में परिवर्तन आने लगा। मनुष्य की चिंतनशैली भी बदलती चली गई। धीरे-धीरे समाज भी बदलता चला गया। भारत में आरंभ में लोगों ने ऐसी रूढ़ परंपराओं का त्याग किया, जो समाज के लिए त्याज्य थीं, जैसे- सती प्रथा, बाल विवाह, अनमेल विवाह आदि।

स्वतंत्रता के पश्चात लोगों ने यह उम्मीद की थी कि देश में राजनैतिक परिवर्तन के परिणामस्वरूप समाज और व्यक्ति के जीवन में सुधार आएगा, शिक्षा और रोजगार के बढ़ने से लोगों में नव चेतना का विकास होगा। स्वातंत्र्योत्तर भारत में परिवार, आस्था, परंपरा जो भारतीय जीवन के केंद्र में थी, वह टूटती गई। लोगों ने धीरे-धीरे ऐसी परंपराओं का अनुशीलन करना आरंभ कर दिया, जो पश्चिम से आई थीं, जैसे- एकल परिवार, अनैतिक संबंध, भोगवादी दृष्टिकोण आदि। जबकि भारतीय परंपरा अनेकता में एकता, संयुक्त परिवार, संबंधों में मधुरता और परिवारवाद में आस्था पर आधारित रही है। स्वतंत्रता के बाद लोगों की उपभोकतावादी जीवन-दृष्टि भारतीय परंपरा को भूलाने लगी, जिससे भारतीय समाज का रूप बदलता चला गया। किसी भी देश की परंपराओं और संस्कृति से उस देश की पहचान होती है। स्वातंत्र्योत्तर हिंदी नाटक इन्हीं खंडित आधुनिक सामाजिक, मूल्यों को चित्रित करता है।

साहित्य और समाज में गहरा संबंध है। जीवन-दर्शन और जीवन-मूल्य रहित साहित्य मनोरंजन मात्र का साधन है। श्रेष्ठ साहित्य अपने समाज का आईना होता है। साहित्य को युगसृष्टा और भविष्यदृष्टा भी कहा जाता है। स्वतंत्रता के बाद भारतीय जीवन-शैली में परिवर्तन आया और मानव-मूल्य परिवर्तित होते चले गए। इस द्वन्द्वोन्मुख समाज और समय को व्यक्त करने में हिंदी नाटक सफल रहा है। हिंदी नाट्य विधा की यह विशेषता रही है कि वह स्वातंत्र्योत्तर भारतीय समाज, परंपरा के मूल्यों, बदलते आधुनिक जीवन के सकारात्मक-नकारात्मक मूल्यों आदि को अभिव्यक्त करने में सफल रही है।

स्वातंत्र्योत्तर नाटककारों ने अपने नाटकों में भावनात्मकता के साथ-साथ तर्क, बुद्धि, जीवन-यथार्थ, व्यक्ति, परिवार, समाज तथा मानवता को स्थान दिया है। साथ ही इन नाटकों ने जीवंत परंपरा को ग्रहण किया है, जिसमें पौराणिक कथाओं तथा मिथकीय ऐतिहासिक आख्यानों को भी आधार बनाया है। यहाँ परंपरा और इतिहास को ग्रहण करने का अर्थ उन्हें दोहराना नहीं है, बल्कि समकालीनता को प्रकट करना है। इसके अतिरिक्त समकालीन नाटकों में मिथक आधुनिकता को

चित्रित करने का एक सशक्त माध्यम मात्र है। स्वातंत्र्योत्तर नाटक स्वतंत्रतापूर्व नाटकों से इस रूप में भिन्न हैं कि इस समय के नाटकों का नाट्य शिल्प, भाव, वस्तु कई मायने में भिन्न है। कुसुम खेमानी अपनी पुस्तक 'हिंदी नाटक के पांच दशक' में लिखती हैं, "इन नाटकों की विशेष उपलब्धियाँ हैं- यथार्थवादी दृष्टिकोण से महानगरीय जीवन की विसंगतियों का उद्घाटन, पाश्चात्य जीवन-मूल्यों से अनुशासित जीवन की पड़ताल, आंतरिक और बाह्य द्वंद्व का उद्घाटन।"[1]

महानगरीय जीवन बोध को लेकर लिखे गए आधुनिक नाटकों में सामाजिक, धार्मिक तथा राजनीतिक विसंगतियों से उत्पन्न अनास्था, क्षणवादी दृष्टिकोण, अस्तित्व के संकट आदि विषयों को स्थान दिया गया है। उपर्युक्त विषयों पर लिखे गए नाटकों में मिथक, बिंबों और प्रतीकों का बहुलता से प्रयोग किया गया है। नाट्य कथ्य को सशक्त रूप से प्रस्तुत करने में मिथक, बिंबों और प्रतीकों की महत्त्वपूर्ण भूमिका रही है। मिथक का प्रयोग हिंदी नाटक में आरंभ से हो रहा है। आरंभ में इनका प्रयोग नाटकों में आदर्श जीवन रूपों को चित्रित करने के उद्देश्य से किया जाता था, किंतु आज के नाटकों में इनका प्रयोग समकालीन आधुनिक जीवन और उनकी विषमताओं को चित्रित करने के लिए किया जा रहा है।

स्वातंत्र्योत्तर हिंदी नाटककारों ने आधुनिक नाट्य रंग आंदोलन में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई है। उन्होंने ऐसे नाटकों की रचना की जो स्वतंत्रता के बाद के सामाजिक, राजनैतिक हालातों के साथ-साथ मनुष्य के आंतरिक जटिल जीवन को भी व्यक्त करने में सफल रहे हैं। इस काल के नाटककारों ने हिंदी नाट्य यात्रा में नए प्रयोगों द्वारा आधुनिक जीवन-पद्धति को चित्रित किया है। उनमें मुख्य हैं- जगदीश चंद्र माथुर, लक्ष्मी नारायण लाल, धर्मवीर भारती, मोहन राकेश, शंकर शेष, ज्ञानदेव अग्निहोत्री, दयाप्रकाश सिन्हा, गिरिराज किशोर, मुद्राराक्षस, सर्वेश्वर दयाल सक्सेना, विपिन कुमार अग्रवाल, सुरेन्द्र वर्मा, कुसुम कुमार आदि।

2.1 कोणार्क

स्वातंत्र्योत्तर हिंदी नाटककारों में सर्वप्रथम जगदीश चंद्र माथुर का नाम लिया जाता है। इन्हें आधुनिक नाट्य परंपरा का प्रथम प्रौढ़ नाटककार माना गया है। इनका 'कोणार्क' नाटक आधुनिक नाट्य रंग आंदोलन का ऐसा प्रथम नाटक है, जिनमे समकालीन जीवन का बोध ऐतिहासिक और मिथकीय कथा के माध्यम से होता है, " 'कोणार्क' नाटक को सन् 1950 और 1955 के बीच लिखित हिंदी नाटकों में सर्वश्रेष्ठ घोषित होने का गौरव प्राप्त हुआ- बिहार राष्ट्रभाषा परिषद् ने उसे यह पुरस्कार दिया था।"[2]

इस नाटक का संबंध प्रसिद्ध कोणार्क मंदिर के इतिहास और उससे जुड़ी किंवदंतियों से है। इस नाटक में घटना कम और स्थितियां अधिक हैं। नाटक की कथावस्तु पर दृष्टि डालें, तो यह नाटक कोणार्क में स्थित भव्य सूर्य मंदिर के ऐतिहासिक निर्माण की पृष्ठभूमि में मानवीय संवेदना को प्रकट करने का प्रयत्न करता है। सूर्य मंदिर का निर्माण उत्कल नरेश नरसिंह देव की आज्ञा से हुआ था। नरसिंह देव बाहरी देशों के साथ युद्धों में व्यस्त रहता है। ऐसे में महामात्य मंदिर की देख-रेख करता है, किंतु महामात्य शिल्पियों पर अत्याचार करता है। सूर्य मंदिर के निर्माण के साथ एक प्रणय-कथा भी जुड़ी हुई है। कथा का संबंध प्रधान शिल्पी विशु और चंद्रलेखा के प्रेम-प्रणय से जुड़ा हुआ है। विशु चंद्रलेखा से प्रेम करता है, किंतु चंद्रलेखा के गर्भधारण करने पर उसे छोड़कर भाग जाता है। इस नाटक का मूल्यांकन करें, तो यह समकालीन समाज में व्याप्त विसंगति को दर्शाता है, जिनमे प्रेम का अर्थ बदल चुका है। आज दो लोगों के बीच विश्वास जैसी वस्तु कहीं खोती जा रही है। प्रेम में संबंध सतही मात्र रह गया है। अतः जगदीश चंद्र माथुर का यह नाटक इन संदर्भों में अपने समय का भविष्यदृष्टा है, ऐसा कहना गलत नहीं होगा। कथा में आगे विशु का पुत्र धर्मपद बीस वर्षों के बाद मंदिर के बारे में सुनकर विशु के साथ काम करने आता है। इधर मंदिर का निर्माण होने के पश्चात उत्कल नरेश मंदिर को देखने आते हैं, किंतु महामात्य छल से सत्ता पलट देता है और स्वयं को राजा घोषित कर देता है। ऐसे में राजा की ओर से धर्मपद पांच हजार शिल्पियों को युद्ध करने के लिए

आह्वान करता है, किंतु धर्मपद युद्ध में मारा जाता है। विशु को जब यह ज्ञात होता कि धर्मपद उसका अपना पुत्र था, तब विशु तड़प उठता है और शिल्पियों के प्रतिकार के रूप में मंदिर को गिरा देता है। मूलतः यह एक कलाकार और उसके संघर्ष की गाथा है, जहाँ कलाकारों के साथ शासकीय बर्बरता और उससे उपजे मनोभाव को नाटककार ने चित्रित किया है, "श्रमिकों के जागरण और कला पर राजकीय बर्बर राजनीति का प्रवेश कलाकार के मन में किस प्रकार का भाव पैदा करता है, इस कृति से ज्ञात होता है।"[3] इस नाटक में नाटककार ने इतिहास और मिथकीय कथा द्वारा जीवन की जटिल अनुभूतियों को प्रकट किया है। शिल्पकार या कलाकार अपने कला-कौशल से प्राचीनकाल से न जाने कितनी कला-कृतियां संसार को देते आए हैं। उनकी कला-कृतियां सदियों तक लोगों के बीच आकर्षण का केंद्र रहती हैं, किंतु कलाकार गुमनामी के अंधेरे में ही रह जाता है। जगदीश चंद्र माथुर 'कोणार्क' पर अपने एक वक्तव्य भाषण में कहते हैं, "कोणार्क के खंडहरों का सहारा लेकर एक रोचक कथा-पट प्रस्तुत कर देने से मुझे संतोष नहीं हुआ। मुझे तो लगा जैसे कलाकार का युग-युग से गौण पौरुष, जो सौंदर्य-सृजन के सम्मोहन में अपने को भुला जाता है, कोणार्क के खंडन के क्षण फूट निकला हो। चिरंतन मौन पौरुष ही उसका अभिशाप है, उस पौरुष को वाणी देने की मैंने धृष्टता की है।"[4] एक शिल्पकार अमूर्त्त को भी मूर्त्त बना देता है, किंतु इन कलाकारों के साथ शासकों द्वारा बर्बरता की गयी है। मिथकीयता और ऐतिहासिकता का समावेश कर परंपरा और संस्कृतियों में अपना अमूल्य योगदान देने वाले विस्मृत पात्रों के जीवन-संघर्ष, युगबोध और युग-समस्याओं को आधुनिक दृष्टि से चित्रित करने में नाटककार पूर्णतः सफल हुआ है। धर्मपद की इन पंक्तियों से इनके संघर्ष का बोध होता है, "जीवन का पुरुषार्थ, आपकी कला उस पुरुषार्थ को भूल गई- जब मैं इन मूर्तियों में बंधे रसिक जोड़ों को देखता हूँ, तो मुझे याद आती है पसीने से नहाते हुए किसान की, कोसों तक नौका खेने वाले मल्लाह की..."[5]

2.2 अंधा युग

सन 1950 के बाद के हिंदी साहित्य को देखें, तो लगभग सभी विधाओं में कथ्य और शिल्प की दृष्टि से परिवर्तन आया है। इसके अतिरिक्त लेखकीय चेतना दृष्टि भी एक आंदोलन के समान दिखाई देती है। इस दशक में नाट्य विधा में एक बड़ा परिवर्तन देखने को मिलता है। इस दशक में जो नाट्य चेतना जागृत हुई, वह रंगमंच से सही मायने में जुड़ी, तभी इस काल में नवीन नाट्य परिवर्तन देखने को मिलते हैं। इस क्रम में धर्मवीर भारती और उनके नाटक 'अंधा युग' का नाम उल्लेखनीय है। इनका 'अंधा-युग' नाटक पौराणिक कथानक और चरित्रों के माध्यम से आधुनिक भाव-बोध प्रस्तुत करता है। काव्य नाटक के रूप में यह आधुनिक समकालीन संदर्भो को बड़ी सजगता के साथ चित्रित करता है।

समकालीन युग परिवेश से जन्मे इस नाटक को कालजयी और क्लासिक नाट्य रचना कहा जाता है। महाभारत के पौराणिक कथानक और चरित्रों के माध्यम से मुख्यतः आधुनिक मानवीय जीवन और उसकी आत्महीन और विवेकहीन जीवन-दृष्टि को इस नाटक में प्रस्तुत किया गया है, जो उसे विनाश की ओर धकेलता है। महाभारत के युद्ध और अंत के परिणाम के माध्यम से द्वितीय विश्वयुद्ध के भयावह परिणाम को प्रस्तुत किया गया है। युद्ध में हार-जीत किसी की भी हो, नुकसान मानवता का ही होता है। मनुष्य घृणा, उपेक्षा, द्वेष, बदले की भावना, आक्रोश आदि में आकर अपना विवेक खो देता है और युद्ध की स्थिति पैदा कर देता है। महाभारत का युद्ध हो या द्वितीय विश्वयुद्ध, दोनों ही युद्धों में मनुष्य ने अपने विवेक को खोकर बदले की भावना से सिर्फ विनाश को ही जन्म दिया है। धर्मवीर भारती ने अपने इस गीति-नाट्य में महाभारत के कथानक और चरित्रों के माध्यम से इस आधुनिक विनाश को चित्रित किया है,

"टुकड़े-टुकड़े हो बिखर चुकी मर्यादा

उसको दोनों ही पक्षों ने तोड़ा है

पांडव ने कुछ कम कौरव ने कुछ ज्यादा

यह रक्तपात अब कब समाप्त होना है।

यह अजब युद्ध है नहीं किसी की भी जय

दोनों पक्षों को खोना ही खोना है।"[6]

'अंधायुग' नाटक का आरंभ संस्कृत नाट्य-परंपरा की याद दिलाता है, जिसमें नाटक का आरंभ सरस्वती वंदना, प्रस्तावना एवं उद्घोषणा से होता है। इस नाटक में प्राचीन परंपरा से जोड़ते हुए काल के अंतराल को पाटते हुए ध्वनियों में आधुनिक जीवन की विसंगतियों, मनोवृत्तियों कुंठाओं तथा आत्मपराजित लोगों की मनोदशा को चित्रित किया गया है। इस नाटक में अंधों के द्वारा ज्योति की कथा कहने का प्रयास किया गया है। यह नाटक छः अंकों में विभाजित है। नाटक का नाम सार्थक और प्रतीकात्मक है। नाटक के अंको का नामकरण देखें, तो इनके नाम मानो किसी ऐसी कथा के प्रतीकों के माध्यम से संकेत दे रहे हों, जिसकी कथा की शुरुआत किसी बसी-बसायी नगरी की हो और अंत मानो किसी विनाश से, जहाँ प्रभु की मौत तक हो जा रही हो अर्थात् सारी आस्था, विश्वास और मानवता का अंत हो चुका हो। नाटक के अंकों के नाम इस प्रकार हैं- (अ) कौरव नगरी, (आ) पशु का उदय, (इ) अश्वत्थामा का अर्द्धसत्य (पंख, पहिये, और पट्टियाँ), (ई) गांधारी का शाप, (उ) विजय : एक क्रमिक आत्महत्या, (ऊ) प्रभु की मृत्यु। नाटक के सभी अंक 'अंधा युग के जटिल संसार, आस्था-अनास्था, द्वंद्व, कुंठा, आशा-निराशा, घृणा, भय, आतंक, अमर्यादा आदि को प्रतीकों के माध्यम से प्रकट करते हैं। इन सभी को मिलाकर एक नए जीवन-सौंदर्य को तलाशने का प्रयास किया गया है, जिससे इस नाटक का स्वरूप आधुनिक सत्य को उद्घाटित करने में विराट-सा प्रतीत होता है। आज आधुनिक मानव भी जीवन के इन सभी विकारों और प्रवृत्तियों के साथ जीवन व्यतीत कर रहा है।

उक्त नाटक के सभी पात्र आधुनिक मनुष्य को संबोधित करते हैं। आधुनिक मनुष्य की भांति ही नाटक के सभी पात्र अनास्था, द्वंद्व, कुंठा, निराशा, आशा, घृणा, भय, आतंक, अमर्यादा आदि से ग्रसित हैं। इस नाटक का कथानक मुख्य नहीं है, बल्कि इसके चरित्र मुख्य हैं। नाटक के सभी पात्र मिलकर कथा को सुनियोजित करते हैं। नाटक के अधिकतर पात्र अपने अंदर ही जीते रहते हैं। द्वंद्व, यातना और वेदना झेलते रहते हैं। नाटक में कृष्ण, धृतराष्ट्र, संजय और अश्वथामा एक व्यक्ति के स्थान पर प्रवृत्तियों के पर्याय हैं। धृतराष्ट्र नाटक में एक ऐसे शासक का प्रतीक है, जो अंधा है। न केवल शारीरिक रूप से, बल्कि वह अपने पुत्र मोह में भी अंधा है। वह दुर्योधन के अनैतिक कार्यों पर रोक नहीं लगाता, बल्कि सत्ता के लालच में विदुर के बार-बार समझाने पर भी मूक शासक बना रहता है। धृतराष्ट्र सत्य को जानकर भी उससे दूरी बनाकर रखता है। धृतराष्ट्र का लोभ और स्वार्थ नाटक की इन पंक्तियों में दृष्टव्य है, वह युयुत्सु से कहता है कि,

"वत्स तुम मेरी आयु लेकर भी

जीवित रहो

अश्वत्थामा का ब्रह्मास्त्र

यदि गिरा है उत्तरा पर

तो कौन जाने एक दिन युधिष्ठिर

सब राजपाट तुमको ही सौंप दे !"[7]

इस प्रकार देखें तो धृतराष्ट्र आज के उस आधुनिक शासक या एक साधारण मनुष्य का प्रतीक है, जो गलत और अन्याय को देखकर भी उसके विरुद्ध कुछ नहीं बोलता। कई बार अनैतिक कार्य के प्रति मूक रहना उसके समर्थन का सूचक है।

गांधारी के चरित्र की बात करें तो नाटक में वह सिर्फ परंपरावादी माता ही नहीं है, जिसकी ममता और करुणा अपने पुत्रों के प्रति है, जिसके कारण वह करुणा और क्रोध से कृष्ण तक को शाप दे देती है, किंतु माता के समान ही सत्य को जानकर फिर अत्यंत दुःख से भर उठती है। गांधारी के चरित्र में एक परंपरावादी माता की छवि उभरकर सामने आती है, तो दूसरी ओर एक ऐसी आधुनिक स्त्री का चरित्र भी, जो प्रश्न करती है। न्याय और अन्याय के इस युद्ध में वह कौरवों के साथ-साथ पांडवों को भी, यहाँ तक कि कृष्ण को भी दोषी मानती है, जिन्होंने सत्य को अपनी ओर अपनी सुविधानुसार मोड़ लिया। वह किसी को धर्म का पालन करते हुए नहीं पाती। वह दोनों पक्षों को आस्था, धर्म, आडंबर, मर्यादा, नीति, नैतिकता आदि अंधी प्रवृत्तियों का पोषक मानती थी। इसीलिए वह नाटक के चौथे अंक के अंत में दुर्योधन की मृत्यु के पश्चात और कृष्ण द्वारा अश्वत्थामा को शापित करने पर गांधारी अपना संयम खो देती है और इन सबके पीछे कृष्ण को दोषी ठहराते हुए उसे शाप दे देती है,

"तुम यदि चाहते तो रुक सकता था युद्ध यह

मैंने प्रसव नहीं किया था कंकाल वह

इंगित पर तुम्हारे ही भीम ने अधर्म किया

क्यों नहीं तुमने वह शाप दिया भीम को

जो तुमने दिया निरपराध अश्वत्थामा को

तुमने किया है प्रभुता का दुरुपयोग

यदि मेरी सेवा में बल है संचित तप में धर्म है

तो सुनो कृष्ण ! प्रभु या परात्पर हो कुछ भी हो

सारा तुम्हारा वंश इसी तरह पागल कुत्तों की तरह

एक-दूसरे को परस्पर फाड़ खायेगा

तुम खुद उनका विनाश करके कई वर्षो बाद

किसी घने जंगल में साधारण व्याघ के हाथों मारे जाओगे

प्रभु हो पर मारे जाओगे पशुओं की तरह।"[8]

नाटक में अश्वत्थामा एक खंडित चरित्र है। उसके खंडित चरित्र के पीछे कारण है- उसके पिता की छलपूर्वक निर्मम हत्या। वह अपने पिता की हत्या से विकल हो उठता है। अश्वत्थामा दुर्योधन की ओर से पूरी आस्था से युद्ध करता है, किंतु अंततः वह पिता की हत्या से टूट जाता है। उसके चरित्र में अंतर्विरोध, संत्रास और घृणा भरी हुई है। अश्वत्थामा में किसी के प्रति जो भी आस्था है, वह समाप्त हो जाती है क्योंकि इस युद्ध में धर्मराज युधिष्ठिर अपने जीवन-मूल्यों को त्याग देते हैं अर्थात धर्मराज युधिष्ठिर के संदर्भ में यह कहा जाता है कि वह कभी झूठ नहीं बोलते थे, किंतु अश्वत्थामा के पिता की मौत के संदर्भ में वह अर्द्धसत्य ही कहते हैं, जिससे अश्वत्थामा में मौत के संदर्भ में भ्रम पैदा होता है। द्रोणाचार्य युधिष्ठिर द्वारा कहे गए अर्द्धसत्य कि- 'अश्वत्थामा मारा गया-नर या कुंजर' के कारण वह पुत्र की मौत की जानकारी सुनकर युद्ध में हताश और टूट जाते हैं, जिससे युद्ध में उनकी मौत हो जाती है। इस झूठ के कारण अश्वत्थामा के अंदर मनुष्यता, दया-भावना, सच्चे योद्धा जैसे गुण खंडित हो जाते हैं। उसके अंदर एक बर्बर पशु का जन्म होता है। तभी वह उत्तरा के गर्भ में अजन्मे बच्चे की गर्भ में ही ब्रह्मास्त्र से हत्या कर देना चाहता है। इसके बाद कृष्ण उसे शापित कर देते हैं कि वह कभी नहीं मरेगा लेकिन कोढ़ी का जीवन जियेगा और सड़ता-गलता रहेगा,

"मैं तुम्हारा यह अश्वत्थामा

कायर अश्वत्थामा

शेष हूँ अभी तक

जैसे रोगी मुर्दे के

मुख में शेष रहता है

गंदा कफ बासी थूक

शेष हूँ अभी तक मैं।"[9]

इस प्रकार अश्वत्थामा प्रतीक है उस आधुनिक मनुष्य का, जो गलत कार्यो में लिप्त लोगों का समर्थन करता है। उसके अनैतिक कार्यो में साझेदार होता है। धीरे-धीरे समय के साथ अपने साथ वाले के पतन के साथ उसके चरित्र और जीवन का भी पतन हो जाता है, जिस प्रकार दुर्योधन का साथ देने पर अश्वत्थामा का चरित्र और संपूर्ण जीवन खंडित हो जाता है। इस प्रकार नाटक में अश्वत्थामा के पौराणिक चरित्र के माध्यम से एक खंडित मनुष्य का चित्रण किया गया है।

युयुत्सु एक ऐसा पात्र है, जिसकी स्थिति मार्मिक है। विपक्षी पांडवों का युद्ध में साथ देने अर्थात सत्य की ओर से युद्ध करने पर वह कौरवों द्वारा तिरस्कृत और अपमानित होता है। यही नहीं, वह अपनी माँ द्वारा भी अपमानित होता है। युयुत्सु के व्यक्तित्व की विशेषता है कि वह दूसरे कौरवों की तरह विवेकशून्य होकर युद्ध में दुर्योधन के पीछे नहीं हो लेता, बल्कि वह अपने जीवन का मार्ग स्वयं तय करता है अर्थात सही-गलत का फैसला अपने विवेक से करता है। सत्य के मार्ग पर चलने पर युयुत्सु को परिवार सहित अपनी माँ तक से उपेक्षा और अपमान मिलता है, जिससे वह टूट जाता है,

"मेरा अपराध ही सिर्फ इतना है

सत्य पर रहा मैं दृढ़

मैं भी हूँ कौरव

पर सत्य बड़ा है कौरव वंश से।"[10]

युयुत्सु का चरित्र आज के आधुनिक समाज का प्रतीक है, जो किसी भी परिस्थिति और हालात में अन्याय का साथ नहीं देता है। चाहे उसके लिए उसे अपनो का साथ और उनकी उपेक्षा और अपमान ही क्यों न सहना पड़े। वह किसी भी परिस्थति में सत्य को धारण करने वाला होता है लेकिन आज आधुनिक समय का यह कटु सत्य बन चुका है कि सत्य का साथ देने वाला और उचित मार्ग पर चलने वाला व्यक्ति युयुत्सु की ही भांति उपेक्षित, तिरस्कृत और अपमानित होता रहता है।

नाटक में विदुर एक ऐसा पात्र है, जो अपनी भावनाओं में जीता है। वह कौरवों का साथ देता है। वह धृतराष्ट्र द्वारा लिए गए विवेकहीन निर्णय और कौरवों की अनीति के प्रति तटस्थ तथा उदासीन रहता है। पांडवों के प्रति उसका आचरण सकारात्मक है। अतः विदुर का चरित्र आज के उस आधुनिक मानव का प्रतीक है, जिसका व्यक्तित्व दुर्बल होता है। वह न्याय और अन्याय के पक्षों को जानकार भी मौन रहता है। उसका आंतरिक चरित्र तो सत्य का साथ देना चाहता है, किंतु उसे संरक्षण असत्य का मिलता रहता है।

कृष्ण एक राजनीतिज्ञ और दार्शनिक हैं, जो एक युगपुरुष के रूप में अपने युग के इतिहास के नियामक हैं। नाटक में उनके चरित्र के संदर्भ में सभी के अपने-अपने मत हैं क्योंकि एक युगपुरुष अपने समय में किसी व्यक्ति के प्रति ऐसा ही आचरण रखता है, जो भविष्य का निर्माण करता हो और समूल मानव जाति के हित में हो। कृष्ण की नीति सबके लिए अलग थी, "बलराम उन्हें 'कूट बुद्धि' कहते हैं, गांधारी और अश्वत्थामा उन्हें 'अन्यायी' की संज्ञा देते हैं। गांधारी कृष्ण पर 'प्रभुता' के दुरुपयोगों का दोषारोपण करती है।"[11] कृष्ण के व्यक्तित्व के संदर्भ में यह कहा जा सकता है कि उनका व्यक्तित्व बहुआयामी है। वह अर्जुन के प्रेरणास्रोत और शक्ति हैं, तो गांधारी को माता का दर्जा देते हैं। गांधारी के शाप देने पर वह क्रोधित या विचलित नहीं होते। मर्यादित रूप से वह उनके शाप को स्वीकार कर लेते हैं।

नाटक में 'दो प्रहरी' और 'वृद्ध याचक' महत्त्वपूर्ण पात्र हैं। ये दो प्रहरी पूरे अंधायुग के साक्षी और प्रतिनिधि हैं। मूलतः कहें तो वे आधुनिक समाज के हर एक उस व्यक्ति का प्रतिनिधित्व करते हैं, जो न्याय-अन्याय, जीत-हार हर घटना के साक्षी होते हैं। दोनों प्रहरी दृष्टा भी हैं और भोक्ता भी हैं। नाटक में उनकी उक्तियाँ समकालीन विडंबना से नाटक को जोड़ती हैं। इन दो प्रहरियों के संदर्भ में गिरीश रस्तोगी लिखते हैं, "प्रहरी ही वस्तुतः 'अंधायुग' की संपूर्ण व्यंजना के साक्षी हैं- प्रतिनिधि हैं। दृष्टा-भोक्ता वे सब हैं। वे दोनों ही अपनी उक्तियों से इस रचना को समकालीन यथार्थ से मानवीय विडंबना से जोड़ते हैं।"[12]

निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि धर्मवीर भारती कृत यह नाटक एक क्लासिकल गीति नाट्य रचना है, जो महाभारत के पौराणिक कथानक, प्रसंगों, घटनाओं और पात्र के माध्यम से द्वितीय विश्वयुद्ध के परिणामस्वरूप आधुनिक मानव और उनके अंतर्द्वंद्व, मूल्यहीनता, खंडित व्यक्तित्व, घृणा, उपेक्षा, द्वेष, बदले की भावना, आक्रोश आदि को चित्रित करता है। यह नाटक युद्ध के पश्चात नैराश्य, विकृत, असंगत और ग्लानिजनक वातावरण को चित्रित करता है तथा द्वंद्व में उलझे प्रतीकात्मक पात्रों के माध्यम से आधुनिक जीवन की विसंगतियों को सफलतापूर्वक प्रस्तुत करता है।

2.3 सूर्यमुख

स्वातंत्र्योत्तर आधुनिक हिंदी नाटककारों में डॉ. लक्ष्मीनारायण लाल का नाम अग्रणी नाटककारों में आता है। लाल भारतीय और पाश्चात्य दोनों नाट्य शैलियों से प्रभावित रहे हैं। उन्होंने अपने नाटकों में व्यक्ति से लेकर विश्व की विभिन्न अनुभूतियों को समेटकर नाट्य विषय बनाया है। स्वातंत्र्योत्तर भारत में सामाजिक, राजनीतिक और व्यक्तिगत समस्याएँ बढ़ती चली गईं। लाल ने अपने नाटकों में समस्याओं को ही केंद्र में रखा है। नाटक यथार्थवादी हो, सामाजिक या मिथकीय, उनका मत था कि सभी नाटकों के केंद्र में समस्या को उद्घाटित करना ही नाटककार का उद्देश्य होता है। इस संदर्भ

में वे लिखते हैं, "समस्या चाहे जैसी, जिसकी हो पर समस्या ही मूल प्राण है किसी नाट्य रचना की।"[13] डॉ. लक्ष्मीनारायण लाल ने लगभग 32 नाटकों की रचना की है, जिनमे प्रमुख नाटक हैं- सूर्यमुख, कलंकी, मिस्टर अभिमन्यु, एक सत्य हरिश्चंद्र, नरसिंह कथा, यक्ष- प्रश्न, राम की लड़ाई और बलराम की तीर्थयात्रा। इन सभी नाटकों में लाल ने मिथकीय कथानक के माध्यम से परंपरा और आधुनिकता के प्रश्नों को उठाया है, जिनमें स्वातंत्र्योत्तर भारत में सामाजिक, राजनैतिक और व्यक्तिगत समस्याओं को प्रतीकों के माध्यम से चित्रित किया है। 1968 ई. में लिखे गए 'सूर्यमुख' नाटक पर दृष्टि डालें तो इस नाटक में भारतीय परंपराओं का उपहास देखने को मिलता है। नाटक का कथानक मिथकीय तथा पात्र पौराणिक और मिथकीय दोनों हैं लेकिन नाटककार का उद्देश्य इस नाटक के माध्यम से स्वातंत्र्योत्तर आधुनिक भारतीय सामाजिक, राजनैतिक समस्याओं को उजागर करना है तथा अपने परंपरागत मूल्यों के प्रति आधुनिक समाज की अवमानना चित्रित करना है। नाटक के कथानक और पात्र महाभारत और पुराण से लिए गए हैं। यह नाटक उत्तर महाभारत की मिथकीय कथा के माध्यम से स्वातंत्र्योत्तर भारत की सामाजिक, राजनैतिक, पारिवारिक और व्यक्तिगत विषमताओं को उजागर करता है। इसमें मिथकीय कथानक के माध्यम से आधुनिक रूपों को चित्रित किया गया है।

नाटक के कथानक के स्रोत पर एक दृष्टि डालें तो इसकी कथा उत्तर महाभारत की है, जहाँ महाभारत के अंत में कौरव पुत्रों की मृत्यु से विक्षिप्त माता गांधारी कृष्ण को युद्ध का दोषी मानती है। क्रोधवश गांधारी कृष्ण को शाप देती है कि जिस प्रकार उन्होंने कौरवों और पांडवों को आपस में लड़ाकर समूल कौरव वंश का अंत कर दिया, उसी प्रकार उनकी मृत्यु भी एक बहेलिये के हाथों होगी और उनके कुल का अंत भी आपस में लड़ते-झगड़ते ही होगा। कृष्ण की बहेलिये के हाथों मृत्यु और यदुवंशियों का आपस में युद्ध का उल्लेख पुराण कथाओं में मिलता है।

नाटक की कथा में मिथक इन संदर्भो में आता है कि इस नाटक में कृष्ण की अंतिम पत्नी 'विनुरति' नामक एक पात्र को प्रस्तुत किया गया है, जबकि विनुरति नामक किसी भी कृष्ण की पत्नी का जिक्र

महाभारत या पुराण में नहीं मिलता। इसके अतिरिक्त नाटक में विनुरति का प्रेम-संबंध कृष्ण और रुक्मिणी पुत्र प्रद्युम्न से दिखाया गया है। नाटक में कृष्ण और प्रद्युम्न के मध्य जिस द्वंद्वात्मक स्थिति का चित्रण किया गया है, वह महाभारत या पुराण में देखने को नहीं मिलती। इसके अतिरिक्त व्यास के पुत्र को नाटक में अत्यंत नीच और एक षड्यंत्रकारी चरित्र के रूप में चित्रित किया गया है, जो मूल कथा से साम्य नहीं रखता।

'सूर्यमुख' नाटक में महाभारत के युद्ध के पश्चात युद्ध की विभीषिका दिखाई गई है। युद्ध के पश्चात बीमारी, भुखमरी, बाढ़, महंगाई आदि का प्रकोप दिखाया गया है। इसके अतिरिक्त प्रद्युम्न का आत्मनिर्वासन, प्रद्युम्न और विनुरति के संबंध को लेकर द्वारिका में लोगों के बीच क्षोभ और गुस्सा, द्वारिका की स्त्रियों के साथ-साथ अर्जुन द्वारा विनुरति को हस्तिनापुर ले जाना, प्रद्युम्न का राजमुकुट छोड़कर विनुरति की खोज में निकलना, प्रद्युम्न का द्वारिका आना और शाम्ब और विभ्रु की तानाशाही से त्रस्त जनता के लिए युद्ध करना, शाम्ब और विभ्रु का द्वंद्व, प्रद्युम्न और विनुरति की विभ्रु से युद्ध करते हुए मृत्यु तथा रुक्मिणी के नवजात शिशु के माध्यम से नए युग का आह्वान करना, नाटक के मुख्य प्रसंग हैं।

'सूर्यमुख' नाटक की विशेषता इसमें नहीं है कि नाटक में उन्होंने महाभारतोत्तर परिस्थितियों और समस्याओं का चित्रण किया है, बल्कि इस नाटक की विशेषता इसमें है कि यह नाटक स्वातंत्र्योत्तर आधुनिक समाज और व्यक्ति के जीवन और समस्याओं का सफलतापूर्वक चित्रण करता है। यह नाटक अपने पौराणिक कथानक और चरित्रों के कलेवर में भी प्रासंगिक है। यह नाटक 1968 ई. में लिखा गया था। उस समय भारत में राजनीतिक और सामाजिक दृष्टि से उथल-पुथल और विषमताओं का समय था। देश में राजनीतिक दल सत्ता-प्राप्ति के लिए एक-दूसरे के विरोध में खड़े थे और आरोप-प्रत्यारोप का दौर जारी था। जनता राजनैतिक दलों के लिए मोहरे के समान थी। उनके सुख-दुःख और समस्याओं से उन्हें कोई लेना-देना नहीं था। ठीक वैसे ही जिस प्रकार नाटक में दिखाया गया है कि द्वारिका में भी राजनैतिक हालात ऐसे ही आधुनिक युगीन थे। राजनैतिक

लोलुप लोग स्वार्थ सिद्धि में जनसाधारण लोगों को विशेष महत्त्व नहीं दे रहे थे, "सब राजमहल के चोंचले हैं। प्रजा तो कीड़े-मकोड़े हैं। चाहे जलै-काको है चिंता हमारी।"[14] इस प्रकार स्वातंत्र्योत्तर भारत की जनता ने जिस जीवन की कल्पना की थी, वह पूरी नहीं हुई। स्वतंत्रता की लड़ाई में देश के जिन सपूतों और जनता ने त्यागकर जिस खुशहाल जीवन का स्वप्न देखा था, वह देश के इन नेताओं की निजी महत्त्वाकांक्षा की भेंट चढ़ गया। नाटक के आरंभ में दुर्ग के आगे भिखारियों की भीड़ खड़ी है, जो देश की आर्थिक परिस्थिति की परिचायक है। सत्ता-संघर्ष और उससे उत्पन्न परिस्थितियों का चित्रण व्याक के पुत्र के संवादों से किया गया है, "नगर में रोगियों, गुंडों और भिखारियों की संख्या इतनी बढ़ गयी है कि राह चलना कठिन है, वस्तुओं के दाम इतना बढ़ गये हैं कि मनुष्य अपने को बेचकर भी इन्हें नहीं खरीद के खा पाता।"[15]

आज की युवा पीढ़ी में एक आक्रोश है। देश के युवा पश्चिमी संस्कृति और परंपरा की ओर आकर्षित होकर अपनी परंपरा और संस्कृति को विस्मृत करते जा रहे हैं। इस होड़ में आज के युवा का व्यक्तित्व द्वंद्व, कुंठा और निराशा से घिरा हुआ है। उसका भविष्य सुरक्षित नहीं है, जिससे उसके व्यक्तित्व में एक नकारात्मकता आ रही है, जिससे क्रोध और निराशा उनके चरित्र में पैदा हो रही है। उसमें अपनी परंपरा और अतीत के प्रति कोई आस्था नहीं है। युवाओं की इस अनास्था का बोध नाटक के इस अंश में होता है, "साम्ब इन बड़े-बड़े नामों को मत लो मेरे सामने, नहीं तो मैं तुम्हारी हत्या कर दूंगा, हमारा इन नामों से केवल यही संदर्भ शेष है।"[16]

पारिवारिक विघटन, संघर्ष, निराशा, अनास्था को भी इस मिथकीय महाभारतोत्तर कथा के माध्यम से चित्रित करने का प्रयास किया गया है। उनका मानना था कि नवीन जीवन-मूल्य ही इस पारिवारिक विघटन, संघर्ष, निराशा, अनास्था को दूर कर सकते हैं। भारतीय परंपरा के प्रति अनास्था को चित्रित करने के लिए और आज के आधुनिक समाज और परिवार में खंडित होते रिश्तों को भी डॉ. लाल ने प्रद्युम्न और विनुरति के प्रेम संबंध के माध्यम से दिखाया है, जो भारतीय परंपरा के अनुसार अनैतिक है। आज आधुनिक समाज में बहुत-से ऐसे लोग मिल जाएंगे, जो ऐसे अनैतिक संबंधों को

भी पाश्चात्य परंपरा से प्रेरित होकर सही सिद्ध करने का प्रयत्न करते हैं। नाटक में दुर्गपाल नाम का पात्र भी प्रद्युम्न और विनुरति, जो सौतेले माता और पुत्र होते हैं, उनके प्रेम संबंध को नैतिक और नए युग के लिए सूर्यमुख के समान बताता है, "वह प्रद्युम्न भविष्य है। वह नया है। सूर्यमुख है वह। उसने इस अंधकार में प्रेम का एक नया मनवंतर शुरू किया है। इस संबंध को तुम्हें नये अर्थ और संस्कार में देखना होगा।"[17]

इस प्रकार मिथकीय महाभारतोत्तर कथानक और पात्रों के माध्यम से स्वातंत्र्योत्तर भारतीय आधुनिक सामाजिक, पारिवारिक विघटन और विषमताओं को नाटककार डॉ. लक्ष्मीनारायण लाल ने चित्रित करने का प्रयत्न किया है। नाटक के सभी पात्र किसी-न-किसी के प्रतीक रूप में चित्रित किए गए हैं, जैसे कृष्ण नाटक में अतीत का प्रतीक हैं। वर्तमान का प्रतीक साम्ब है। भविष्य का प्रतीक प्रद्युम्न है। आधुनिक सत्ता का लालची विभ्रु है। कृष्ण रूढ़ियों के प्रतीक के रूप में भी चित्रित किए गए हैं, जिसके अंधानुकरण के परिणामस्वरूप अशांति फैल जाती है। विनुरति को अंतरात्मा के रूप में चित्रित किया गया है। साथ ही वह आधुनिक नारी की भी प्रतीक है, जो किसी भी सामाजिक बंधन को नहीं मानती, "यह मेरा जन्मसिद्ध अधिकार है। मेरा पति वही होगा, जो मेरा प्रियतम है।"[18] ईर्ष्या और बाधा के प्रतीक के रूप में रुक्मिणी है, जो साम्ब, वेनु तथा प्रद्युम्न के मध्य संशय पैदा करती है। मृत परंपरा का प्रतीक है- अर्जुन। इस प्रकार नाटक के सभी पात्र प्रतीकों के रूप में उभरकर आते हैं जो परंपरा और आधुनिकता की टकराहट को चित्रित तो करते ही हैं साथ ही इससे उत्पन्न सामाजिक, पारिवारिक विघटन और विषमताओं को भी प्रतीकों के माध्यम से प्रस्तुत करते हैं। साथ ही आज के युवा के व्यक्तित्व में द्वंद्व, कुंठा, निराशा, विघटन, संघर्ष, एवं अनास्था आदि को भी चित्रित किया गया है।

2.4 एक और द्रोणाचार्य

'एक और द्रोणाचार्य' शंकर शेष कृत एक ऐसा नाटक है, जिसमें आधुनिक मनुष्य की विडंबना, व्यक्तिगत संघर्ष, सामाजिक स्थिति आदि को पौराणिक और आधुनिक दो समानांतर कथाओं के माध्यम से चित्रित किया गया है। नाटक के कथानक पर दृष्टि डालें तो यह शिक्षा जगत में व्याप्त सुविधाभोगी लोगों के भ्रष्टाचार तथा एक मध्यवर्गीय परिवार, जो इस शिक्षा जगत से गहरे रूप में जुड़ा हुआ है, उसकी विसंगति को चित्रित करता है। कथानक महाभारत के द्रोणाचार्य के जीवन, उससे जुड़ी घटनाओं और आज के आधुनिक समाज में शिक्षा-व्यवस्था में शिक्षकों के हालात में जो समानता दिखती है, उसको आधार बनाकर गढ़ा गया है। एक पौराणिक कथा में द्रोणाचार्य के आचार्य के रूप में परिवार के आर्थिक संकट, व्यवस्था और कर्त्तव्यनिष्ठा के मध्य उनका द्वंद्व और फिर व्यवस्था के साथ समझौता दिखाया गया है और दूसरी कथा आधुनिक संदर्भो में अरविंद का एक शिक्षक के रूप में उसके आदर्श, कर्त्तव्य, शिक्षा जगत में व्याप्त भ्रष्टाचारियों के राजनीतिक जाल में फंसकर उसके समझौते को दिखाया गया है। दोनों ही कथाओं में एक साम्य दिखता है, जो वास्तविक और स्वाभाविक लगता है। द्रोणाचार्य की पत्नी कृपी अपने घर की दरिद्रता से खिन्न पौराणिक कथा वाले प्रसंग में द्रोणाचार्य को कोसती रहती है। अरविंद की पत्नी लीला इस आधुनिक कथा में मध्यवर्गीय परिवार की जरूरतों से अवगत नाटक के प्रथम दृश्य में दिखती है, किंतु उसे कोसते हुए, डांटते और झगड़ते हुए देखा जा सकता है, "और राशन कार्ड बन गया ? नहीं बना न ? गए भी थे? परवाह किसको है ! माँ का आपरेशन कब तय हुआ है ? इसका मतलब अस्पताल नहीं गए। अकेले कहाँ-कहाँ मरूंगी? बोलते क्यों नहीं कुछ ? क्या हो गया तुम्हें ?"[19] दूसरी ओर कृपी भी अपने परिवार की आर्थिक तंगी और दरिद्रता से परेशान द्रोणाचार्य को परिवार की जरूरतों और सच्चाई से अवगत कराती है और द्रोणाचार्य से कई तरह के प्रश्न करती है तथा उन्हें घर के हालात के लिए जिम्मेदार ठहराती है क्योंकि आचार्यत्व में व्यस्त द्रोणाचार्य ने अपने घर और उनकी जरूरतों को ज्यादा महत्त्व नहीं दिया था। नाटक में कृपी द्रोणाचार्य से कहती है, "कृपी: विश्वास क्यों होगा।

कभी अपने लड़के की हड्डियाँ गिनी तुमने ? भिखमंगे का लड़का कहाता है तुम्हारा बेटा। मुझसे पूछो, कैसे जुटाती हूँ दो जून की रोटी।

द्रोणाचार्य: इतना नारकीय जीवन।

कृपी: नरक बनाया किसने ? मैंने या तुमने ? बोलते क्यों नहीं ? कहा मर गई अकड़ तुम्हारी ? होंगे बड़े आचार्य- लेकिन उससे अन्न नहीं आ जाता कपड़े नहीं आ जाते।"[20]

नाटक में लीला आधुनिक पत्नी के रूप में चित्रित की गई है, जिसे जीवन के सभी सुख चाहिए, वह चाहे किसी भी शर्त में क्यों न हो। अरविंद अपने समाज के प्रति और शिक्षक होने के नाते अपना दायित्व और कर्त्तव्य का पालन करना चाहता है। इसीलिए वह सच को सच और झूठ को झूठ ही कहना चाहता है, किंतु हर बार लीला उसे सच का साथ देने के नुकसान बताती है और समय तथा अपनी जरूरतों के अनुसार कार्य करने को कहती है। इसके बाद भी वह सच का ही साथ देना चाहता है। शिक्षा-जगत में भ्रष्ट लोग बार-बार उस पर दवाब डालते हैं कि वह सच न बोले और झूठ का साथ दे तथा अपना निर्णय बदल दे। अरविंद हर बार यह तय करता है कि वह अपना निर्णय नहीं बदलेगा और सच का ही साथ देगा, किंतु भ्रष्ट समाज उसकी निजी जिंदगी के आस-पास कई ऐसी दिक्कतें पैदा कर देता है कि वह हर बार आखिर में अपना निर्णय बदल देता है। चंदू जो कि अरविंद के कॉलेज का ही एक छात्र है और नकल के झूठे आरोप में उस पर कार्यवाही होती है। चंदू यह जानता है कि शायद प्रोफेसर अरविंद उसका साथ दें और सच को सामने लाएं। अरविंद और चंदू के संवाद से बोध होता है कि अरविंद का व्यक्तित्व किस प्रकार कर्त्तव्यनिष्ठ है, किंतु उसके आगे किस-किस तरह की परिस्थितियां खड़ी की जाती हैं, ताकि वह सच न बोले और अपने निर्णय बदल दे,

"अरविंद: पर तुम्हे शक क्यों होता कि मैं न्याय का साथ नहीं दूंगा ?

चंदू: क्योंकि लोग अक्सर ठीक मौके पर बदल जाते हैं।

अरविंद: क्या मुझे दूसरों की तरह...

चंदू: नो, सर ! वैसी बात नहीं है। पर आप पर दवाब डाला जाएगा। नौकरी से हटाने की धमकी दी जाएगी। जान से मारने का डर भी दिखाया जाए तो कोई अचरज नहीं।

अरविंद: मैं धमकियों से नहीं डरता।"[21]

इस प्रकार नाटककार ने अरविंद के चरित्र के माध्यम से आधुनिक शिक्षा-व्यवस्था में एक ऐसे शिक्षक को प्रस्तुत किया है, जो अपने 'प्रोफेशनल एथिक्स' के प्रति ईमानदार है। मध्यवर्गीय समाज में व्यक्ति हमेशा अपनी जरूरतें पूरी करने के लिए परेशान रहता है, जैसे नाटक में लीला का अरविंद पर बनाया जाने वाला दबाव कि वह व्यवस्था के साथ और आज की जरूरतों के हिसाब से कार्य करे, जिससे घर की सारी जरूरतें कम समय में पूरी हो सकें। दूसरी ओर कॉलेज का भ्रष्ट तंत्र चाहता है कि अरविंद भी इस भ्रष्ट तंत्र का हिस्सा बनकर रहे, किंतु जब अरविंद उनका साथ नहीं देता, तब भ्रष्ट आधुनिक शिक्षा-व्यवस्था उसे अपने राजनैतिक षड्यंत्रों में फंसाकर हर बार अपने पक्ष में कर लेती है, "अरविंद ऐसा अध्यापक है, जो 'प्रोफेशनल एथिक्स' के महत्त्व पर बल देता है, परंतु व्यवस्था द्वारा प्रस्तुत प्रलोभनों में उसकी चिंता पिघल जाती है और वह व्यवस्था का अंग बन जाता है।"[22]

नाटक में यदु अरविंद का ही मित्र है, जो उसके ही कॉलेज में शिक्षक है। यदु आधुनिक समाज का सुविधाभोगी व्यक्ति है, जिसे कर्त्तव्य और ईमानदारी जैसे सकारात्मक मूल्यों से कोई मतलब नहीं है। वह वाइस प्रिंसिपल बनना चाहता है, किंतु यह तब असंभव है, जब तक अरविंद प्रिंसिपल बनता है। इसीलिए वह भी अरविंद को हमेशा इस बात के लिए प्रेरित करता रहता है, जिससे वह भ्रष्ट शिक्षा तंत्र के खिलाफ न जाए और अपने हित और फायदे की दृष्टि से निर्णय ले, जिससे उसे भी कार्यस्थल पर लाभ हो, "तो जाओ, प्रिंसिपल बन जाओ। मेरा वाइस प्रिंसिपली के लिए रास्ता बनाओ। तुम प्रेसिडेंट का साथ दोगे तो वह भी तुम्हारा साथ देगा। रही चंदू और उसके साथियों की बात, प्रेसिडेंट उनसे खुद निबट लेगा।"[23] आधुनिक कथा में चंदू के साथ अरविंद न्याय नहीं करता। सारी सच्चाई

जानते हुए कि नकल उसने नहीं की, बल्कि नकल प्रेसिडेंट के बेटे राजकुमार ने की है। वह चंदू से यह वादा करके कि वह सच कहने से पीछे नहीं हटेगा। अंततः वह दबाव में आकर सच से मुकर जाता है, जिसकी सजा चंदू को भुगतनी पड़ती है। एक छात्र, जिसे अपने शिक्षक पर भरोसा होता है, वह टूट जाता है। अरविंद के छल करने से चंदू की जिंदगी बर्बाद हो जाती है। पौराणिक कथा में भी द्रोणाचार्य एकलव्य के साथ छल करते हैं। जब वह एकलव्य की अद्भुत धनुर्विद्या देखते हैं और यह जान लेते हैं कि वह अर्जुन से भी श्रेष्ठ धनुर्धर है, तब वह एकलव्य से गुरु दक्षिणा में एकलव्य के दाहिने हाथ का अंगूठा मांग लेते हैं,

"एकलव्य: क्या मेरी गुरु-दक्षिणा भी स्वीकार नहीं ?

द्रोणाचार्य: क्यों नहीं, क्यों नहीं ! अब तुम जिद करते हो तो...लेकिन तुम दे भी सकोगे ?

एकलव्य: आप मांगिए तो।

द्रोणाचार्य: मेरी गुरु-दक्षिणा तुम्हे बहुत दुःख देगी।

एकलव्य: प्राणों से अधिक तो नहीं लेगी।

द्रोणाचार्य: तो सुनो, मुझे तुम्हारे दाहिने हाथ का अंगूठा चाहिए।"[23]

इस प्रकार द्रोणाचार्य और अरविंद दोनों ही पात्रों में एक प्रकार के व्यक्तित्व का दर्शन होता है। द्रोणाचार्य एकलव्य के साथ छल करता है ताकि एक गुरु के रूप में उसकी अपूर्णता छिपी रहे साथ ही भविष्य में अर्जुन ही सदा श्रेष्ठ धनुर्धर बना रहे और लोग इतिहास में अर्जुन का ही नाम श्रेष्ठ धनुर्धर के रूप में जानें दूसरी ओर अरविंद भी चंदू के साथ छल करता है, अनुराधा का भी साथ न देकर अंततः उसके विश्वास को खंडित करता है। इस प्रकार अरविंद को भी नाटक में समझौतावादी व्यक्ति के रूप में चित्रित किया गया है, जिसका व्यक्तित्व द्रोणाचार्य से मिलता जुलता है। इस संदर्भ में विमलेन्दु जो इस नाटक में मृत चित्रित किया गया है, जिसकी आत्मा बार-बार अरविंद के सामने

आती है और उसे न्याय, कर्तव्य, निष्ठा इन सबसे दूर रहने को कहती है और याद दिलाती है कि किस प्रकार वह भी एक निष्ठावान और अपने कर्तव्य के प्रति ईमानदार था, किंतु इससे उसे मिला क्या ? उसकी हत्या कर दी गई। उसका परिवार, पत्नी दर-दर की ठोकरें खा रहे हैं। अतः वह भी इन भ्रष्ट तंत्रों के साथ में मिलकर ही कार्य करे तभी उसका कल्याण है। नाटक में कई स्थानों पर विमलेन्दु अरविंद से यह एहसास दिलाता है कि वह भी उसके नाटक के द्रोणाचार्य के समान समझौतावादी है। अंततः विमलेन्दु अरविंद को कहता भी है, "विमलेन्दु : तू द्रोणाचार्य है। व्यवस्था और सत्ता के कोड़ो से पिटा हुआ द्रोणाचार्य-इतिहास की धार में लकड़ी की ठूंठ की तरह बहता हुआ, वर्तमान के कागार से लगा हुआ-सड़ा- गला द्रोणाचार्य। व्यवस्था के लाईटहाउस से अपनी दिशा मांगने वाले टूटे जहाज-सा द्रोणाचार्य।

अरविंद: मैं द्रोणाचार्य नहीं, अरविंद हूँ-प्रोफेसर अरविंद।

विमलेन्दु : बकवास ! तू द्रोणाचार्य है। कौरवों की भाषा बोलने वाला, युद्ध में भी उनका साथ देने वाला। तू किस बात का प्रोफेसर है ? तू द्रोणाचार्य है।"[24]

इस प्रकार शंकर शेष द्वारा रचित नाटक 'एक और द्रोणाचार्य' मुख्यतः समस्या से प्रारम्भ होकर समस्या पर ही जाकर समाप्त हो जाता है। किंतु यह नाटक आज की आधुनिक सामाजिक, शैक्षणिक व्यवस्था में फैलती सड़ांध की ओर इशारा करता है। जहाँ अरविंद जैसा एक और द्रोणाचार्य पैदा होता है या समाज के द्वारा बना दिया जाता है। इस नाटक में आज के आधुनिक मानव की आंतरिक यंत्रणा, मानवीय नियतियों आदि को दो साम्य प्रतीत होती पौराणिक और आधुनिक नाट्य कथा के माध्यम से चित्रित करने का प्रयत्न किया गया है।

2.5 शुतुरमुर्ग

सातवें दशक की इसी कड़ी में एक महत्त्वपूर्ण नाटक ज्ञानदेव अग्निहोत्री द्वारा रचित 'शुतुरमुर्ग' है। यह नाटक भी प्रतीकों के माध्यम से आधुनिक समाज की भ्रष्ट सामाजिक और राजनैतिक व्यवस्था

को चित्रित करता है। नाटककार ने तत्कालीन ख़राब राजनैतिक स्थितियों को इस नाटक के माध्यम से प्रस्तुत किया है। देश में झूठी योजनाएं, झूठे वादे, अकर्मण्य समितियों के गठन जैसी स्थितियों, जिसके फलस्वरूप देश में सिर्फ अराजकता, गरीबी और शोषण बढ़ता है, को दिखाने का प्रयास किया गया है, जो उनके समकालीन और आज के राजनैतिक हालातों की भी एक कड़वी सच्चाई बन चुकी है।

इस नाटक की सबसे बड़ी उपलब्धि इसकी प्रतीकात्मकता है। शुतुरमुर्ग भी इस नाटक में प्रतीक है उन सत्ताधारी राजनेताओं का, जो जनता द्वारा निर्वाचित होने के बाद अपने लिए तमाम सुख-सम्पत्ति जुटाने में लग जाते हैं, किंतु जनता जब अपने लिए कुछ मांग करती है तो ये सत्ताधारी ऐसे मुंह छिपा लेते हैं, जैसे किसी खतरे को सामने देखकर शुतुरमुर्ग अपना मुंह रेत में छिपा लेता है। नाटक में सत्ताधारियों का जो प्रतीक है शुतुरमुर्ग उसके संदर्भ में 'विरोधीलाल' जो कि इस नाटक का एक प्रमुख पात्र है कहता है, "शुतुरमुर्ग ! आह ! कितना प्यारा पक्षी है ! जब नग्न सत्य उसे चारों ओर से घेर लेते हैं और वह भाग नहीं पाता तो आँखों समेत वह अपना चोंच रेत में डुबो देता है और पलायन की उस संपूर्ण अनुभूति में यह कल्पना करता है कि उसे कोई नहीं देख रहा है, कोई नहीं जान रहा है, कोई नहीं समझ रहा है और वह सुरक्षित है !"[25] कहने का अर्थ यह है कि ऐसे ही ये सत्ताधारी अपना मुंह जनता की मांगों से छिपा लेते हैं। आज वर्षो बाद भी इस नाटक की प्रासंगिकता बनी हुई है, क्योंकि इन सत्ताधारियों की नीतियों और सोच में कोई विशेष अंतर नहीं आया है वे आज भी शुतुरमुर्ग के समान ही जनता की जरूरतों और मांगों पर प्रतिक्रिया देते हैं।

नाटककार ने इस नाटक में प्रतीकों के साथ-साथ व्यंग्य के माध्यम से भी राजनैतिक अव्यवस्था पर प्रहार किया है। सत्ताधारियों की कई ऐसी नीतियां, ऐसे कार्य एवं योजनाएँ होती हैं जो कि सामाजिक हित की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण नहीं होती हैं लेकिन वह कार्य और वह योजनाएं उन सत्ताधारियों के लिए कामनाओं का द्योतक होती है। जैसे नाटक में भी राजा की यह कामना होती है कि वह अपने शुतुरनगरी में शुतुरमुर्ग की एक स्वर्ण प्रतिमा स्थापित करे। उसकी यह कामना राज्य के सभी कार्यों

और जनता के हित से श्रेष्ठ है। उसके इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए राज्यभर से चंदा लिया जाता है, वास्तुशिल्पकारों को बुलाया जाता है। डॉ. हरीश नवल अपनी पुस्तक 'हिंदी नाटक : तीन दशक में लिखते हैं, "राजा के रूप में कई वर्षों से वह शुतुरमुर्ग की प्रतिमा के ऊपर स्वर्ण-छत्र लगवा रहा है। स्वर्ण-छत्र की यह समस्या देश की सभी समस्याओं से उपर है।"[26]

इस प्रकार यह नाटक दायित्वहीन, सुविधाभोगी सत्ताधारियों के चरित्र को ही चित्रित करता है। इस नाटक में जिस शुतुरनगरी का चित्रण किया गया है वह कोई भी राज्य देश हो सकता है, जहाँ गरीबी, भुखमरी और अकाल पड़ा हुआ हो। जहाँ राजा अपनी योजनाओं पर स्वर्णिम कामनाओं की चादर डालने में अपने राज्य के जीवन को अस्त-व्यस्त कर देता है और अपने दायित्व से सदा विमुख रहता है। अतः नाटक के राज्य, राजा, समाज और सभी अन्य पात्र आज की आधुनिक सत्ता, सत्ताधारियों, समाज और समाज के लोगों के प्रतीक हैं। नाटक के ये प्रतीक और नाटक के संवादों में व्यंग्य आधुनिक सत्ताधारियों, समाज और उनके चरित्र को ही चित्रित करते हैं। नाटक के पात्रों के नामकरण से भी आधुनिकता का स्वतः ही बोध हो जाता है। डॉ मदान लिखते हैं, "आधुनिकता का बोध नगर बोध से हुआ है, खोखली शुतुर-नगरी से। यह आधुनिक-बोध व्यंग्य और विसंगति के रूप में नाटक के संवादों, स्थितियों और स्वयं पात्रों के नामकरण से स्पष्ट है।"[27]

इस राज्य का भी यही हाल है जहाँ भूख, भय, अकाल, अनास्था चारों ओर फैली है। नाटक के संदर्भ में नाटककार ने स्वय कहा है कि इस नाटक में जो राजा है वह खुद शुतुरमुर्ग नहीं है, बल्कि वह समाज के चरित्र और प्रवृत्ति को जानता है। दरअसल शुतुरमुर्ग के लक्षण और प्रवृत्तियां समाज में लोगों के भीतर हैं जो अपने दायित्व का निर्वाह करने से बचते हैं। राजा उसके इस स्वभाव और प्रकृति को अच्छे से जानता है। अतः अपने उद्देश्य की पूर्ति हेतु वह उनका इस्तेमाल करता है। तभी वह खुद को सचेतन मुर्ग कहकर संबोधित करता है। नाटककार का इन प्रतीकों के संदर्भ में कहना है, "मेरे नाटक का राजा शुतुर व्यवहार से पीड़ित नहीं है। वह स्वयं शुतुरमुर्ग नहीं है, पर उसे मानव-

स्वभाव में दूर तक धँसी शुतुरमुर्गी प्रवृत्ति का ज्ञान है। इसी ज्ञान को वह अपने स्वार्थ के लिए मोड़ लेता है। तभी तो वह अपने आपको सचेतन मुर्ग कहता है।"[28]

नाटक में राजा, भाषणमंत्री, रक्षामंत्री, और विकासमंत्री सभी की निकृष्टता देखी जा सकती है। इस रूप में अंततः राजा और उनके मंत्रीपरिषद इस नाटक में शोषक वर्ग का प्रतिनिधित्व करते हैं और विरोधीलाल, मामूलिराम, और मरता हुआ मनुष्य आधुनिक समाज के शोषित वर्ग का ही प्रतीक हैं।

इस प्रकार 'शुतुरमुर्ग' नाटक की यह उपलब्धि कही जा सकती है कि यह आज के आधुनिक मानव की प्रवृत्तियों को, जो शुतुरमुर्ग के समान ही स्वार्थ लोलुप हो चुकी हैं, जो कभी किसी से जुड़ते भी हैं तो अपनी स्वार्थसिद्धि के लिए, ऐसे लोगों के मनोविज्ञान को बड़ी कुशलता से प्रतीकों और व्यंग्यों के माध्यम से चित्रित करने में नाटककार ज्ञानदेव अग्निहोत्री सफल रहे हैं।

2.6 बकरी

सर्वेश्वर दयाल सक्सेना का नाम हिंदी की नई कविता के प्रमुख कवि के रूप में स्थापित है। एक नाटककार के रूप में 'बकरी' उनकी सर्वप्रथम और श्रेष्ठ नाट्य रचना है। स्वातन्त्र्योत्तर राजनैतिक व्यंग्य नाटकों में 'बकरी' सफल नाटक है, जोकि अपने समकालीन राजनैतिक हालात को ही बयां नहीं करता बल्कि आज के राजनैतिक परिवेश और परिस्थितियों को बड़े व्यंग्यात्मक रूप में चित्रित भी करता है। 'बकरी' नाटक स्वातन्त्र्योत्तर विघटित राजनैतिक हालातों और साधारण जनता की खीझ को प्रकट करता है। यह नाटक साधारण जनता के अन्याय और अत्याचार के प्रति व्यंग्य के माध्यम से प्रतिरोध की चेतना का उदाहरण है। इस संदर्भ में डॉ. हरीश नवल लिखते हैं, "यह नाटक पूरी व्यवस्था के विरुद्ध कटाक्ष के साथ-साथ एक रचनात्मक विद्रोह की आहट संजोये हुए है।"[29]

नाटक के कथानक पर दृष्टि डालें तो नाटककार ने अपनी समकालीन शोषित जनता का सजीव चित्रण प्रस्तुत किया है। जनता, सत्ता तथा व्यवस्था के अंधविश्वासों के मध्य कथा एक स्त्री से जुड़ी है, जिसकी बकरी को तीन लोग गांधी जी की बकरी बोल कर, हड़प लेते हैं। स्त्री इसका विरोध

करती है तो उसे भारतीय सुरक्षा अधिनियम के तहत गिरफ्तार कर लिया जाता है। बकरी यहाँ प्रतीक है उस जनता का जिसके साथ यह शोषक वर्ग छल करता है। बकरी का प्रतीकार्थ प्रतिष्ठा और धनदायिनी भी है। यह अपने मालिक की बुद्धि को ही चर जाती है। तभी इस बकरी का मालिक बकरी के नाम से तमाम संस्थाओं की स्थापना करता है, जैसे बकरी सेवा मंडल, बकरी संस्था, बकरी सेवा संघ आदि। संस्थापकों का इन संस्थाओं से लाभ कमाना ही उद्देश्य होता है, "बकरी (गांधी जी की बकरी) के बल से 'बकरी संस्थान, बकरी सेवा संघ, आदि खोलकर गरीब, बाढ़, अकाल आदि पीड़ित ग्रामीणों से ये लोग धन वसूल करते हैं। यही लोग बल और धन के प्रयोग से चुनाव जीतकर प्रजातंत्र को खरीद लेते हैं।"[30] नाटक के इस अंश से बोध होता है कि नाटककार की समकालीन राजनैतिक स्थितियों से आज की आधुनिक राजनैतिक और सामाजिक स्थितियां कितना साम्य रखती हैं। आज भी तमाम संस्थाओं के नाम गाँधी और न जाने कितने ऐतिहासिक पुरुषों के नाम पर रखे जाते हैं, जोकि नाटक की इस बकरी के ही समान प्रतीत होते हैं, इन संस्थानों से अपने राजनैतिक और निजी लाभ हेतु ये सत्ताधारी न जाने कितने पैसे बनाते हैं। नाटक में नवचेतना का प्रतीक एक युवक को चित्रित किया गया है। वह नाटक के अंत में इंकलाब का नारा भी देता है। देश में युवाओं ने इन नारों से इन शोषक तंत्रों के विरुद्ध सभी को लामबद्ध किया है। शोषकों का प्रतीक और प्रतिनिधित्व इस नाटक में जो पात्र कर रहे हैं, वह हैं- कर्मवीर, दुर्जनसिंह, सत्यवीर। अधिकारी, पूंजीपति आदि नाटक में सिपाही के साथ ही मिलकर किस प्रकार देश की जनता का वर्षो से दोहन और शोषण कर रहे हैं इसका प्रतीकों और व्यंग्यों के माध्यम से बड़ा सटीक चित्रण किया गया है। तभी इन प्रतीकों और व्यंग्यों के माध्यम से नाटक के मूल भाव को एक पाठक या दर्शक के रूप में बड़ी सरलता से समझा जा सकता है।

नाटक में गीतों का भी विशेष महत्त्व है। गीतों के माध्यम से ही व्यंग्य प्रभावशाली बन पड़े हैं। नाटक का प्रारंभ नट-नटी के गीतों से ही होता है, लेकिन नाटक में नट को एक विद्रोही के रूप में चित्रित किया गया है। जब मंडली के सभी गायक गायन प्रारंभ करते हैं तो नट चुप हो जाता है और नटी के

आँख दिखाने पर गायन करता है, किंतु वह गायन के बोल को राजनैतिक संदर्भों में व्यंग्य रूप में गाता है, "नटी के गायन 'सदा भवानी दाहिने सम्मुख रहें गणेश। पांच देव रक्षा करें ब्रह्मा, विष्णु, महेश, इस पर नट का गायन 'पांच देव सम पांच दल, लगी ठौंग की रेस। जिनके कारण हो गया आज परदेस'। आगे चलकर नट का विद्रोही मुद्रा में गाना 'संकट मोचू। बना दे हमें घोंचू। सर न नोंचू न उनका मुंह नोंचू। हे संकट मोचू।"[31] इस प्रकार नाटक में नट भी उस आधुनिक कलाकार का प्रतीक कहा जा सकता है जो अपनी गायन कला से शोषकों का विद्रोह करते हैं।

नाटक में गांधी जी की बकरी कहकर नाटककार ने शोषित जनता का जो प्रतीक प्रस्तुत किया है। वह मूलतः गांधी जी की गांधीवादी विचारधारा का दुरुपयोग और उसके अनुचित प्रयोग की वेदना को ही इंगित करता है। गांधी या कई ऐसे स्वतंत्रता सेनानी के नाम पर या किसी युग पुरुष के नाम पर वर्षों से जनता को गुमराह कर ठगी करना, इन राजनैतिक और शोषक वर्ग के द्वारा किया जाता रहा है। नाटक में दुर्जन सिंह नामक पात्र, जो शोषक वर्ग का प्रतीक है वह कहता है कि गांधी जी की बकरी के दर्शन हेतु खाली न आएं। यह नाटककार का व्यंग्य है उन धूर्त ठगों के ऊपर जो इस तरह की झूठी बातों को फैलाकर या जनता को गुमराह करने का काम करते हैं। जिससे वह अधिक से अधिक जनता को लूटकर धन कमा सकें। नाटक में सिपाही द्वारा 'डंडा ऊँचा रहे हमारा' का यह गीत गाना, आज के आधुनिक समय में कानून के लोगों द्वारा डंडे की जोर-जबरदस्ती की नीति को चित्रित करता है, "डंडा ऊँचा रहे हमारा। सबसे प्यारा सबसे न्यारा। सुख-सुविधा बरसाने वाला। शक्ति सुधा बरसाने वाला। प्रभुता सत्ता का रखवारा।"[32]

इस प्रकार यह नाटक जहाँ अपने समकालीन राजनैतिक और सामाजिक हालतों को चित्रित करने में सफल था वैसे ही इसकी प्रासंगिकता आज भी है, नाटक आधुनिक समय के भी राजनैतिक और सामाजिक हालतों को चित्रित करने में सफल है। बकरी इस नाटक में निरीह जनता का प्रतीक है। जिसका शोषण कल भी हो रहा था और आज भी कमोबेश ऐसा ही प्रतीत होता है। नाटक अपने प्रतीकों और व्यंग्य के माध्यम से गरीब, शोषित जनता के दर्द को कहने में सफल है। इस शोषण से

उसकी मुक्ति की कामना पूर्ण नहीं होती है और वह बकरी के समान ही अंतत: दुही जाती है। प्रतीकों और व्यग्यों के माध्यम से नाटक में आधुनिकता बोध हैं , अत: आज के भी राजनैतिक और सामाजिक हालातों को व्याखायित करने में यह एक सार्थक नाटक है, ऐसा कहना गलत नहीं होगा। सर्वेश्वर दयाल सक्सेना अपने इस नाटक 'बकरी' की भूमिका में जो लिखते हैं उससे नाटक का सही और सार्थक अर्थ-बोध हो जाता है, "बकरी गरीब और नरीह जनता का प्रतीक है। नाटक का परिवेश है- जनता के मध्य गरीबी, अन्याय और शोषण, परंतु उसकी मुक्ति-कामना एक अनुभूति, प्रतिक्रिया बनकर रह जाती है। जनता 'बकरी' के समान दुही जाती है।"[33]

2.7 योर्स फेथफुली

मुद्राराक्षस के नाटक पाश्चात्य नाट्य साहित्य के अब्सर्ड नाटक अर्थात् असंगत नाटक से प्रभावित माने जाते हैं। हिंदी नाट्य साहित्य में इसकी संख्या बहुत अधिक नहीं दिखती है। किंतु मुद्राराक्षस के कुछ नाटक अब्सर्ड नाटक की श्रेणी में रखे जाते हैं। 'तिलचट्टा', 'तेंदुआ', 'योर्स फेथफुली', 'मरजीवा' आदि कुछ इस श्रेणी के महत्त्वपूर्ण नाटक हैं। मुद्राराक्षस के नाटकों में भी शोषण व्यवस्था द्वारा जनता का शोषण और उस शोषण से उत्पन्न सामाजिक विघटन तथा जीवन मूल्यों के पतन के विविध पक्षों को ही उद्घाटित किया गया है। मुद्राराक्षस के नाटक 'योर्स फेथफुली' के पात्रों को देखें तो ये सभी पात्र शोषण-तंत्र के प्रति निष्ठावान दिखते हैं जो कि भ्रष्टाचार और शोषण में लिप्त हैं। नाटक में चित्रित पात्र जैस क्लर्क, चपरासी, पुलिस आदि सभी अपने-अपने कार्य वर्ग से जुड़ी मनोवृत्ति के ही संवाहक हैं, जो कि भ्रष्ट शोषण-तंत्र का ही हिस्सा हैं। सभी पात्र भ्रष्ट तंत्र को जीवित रखने में सहयोगी हैं। अपने निजी जीवन में इन तमाम विसंगतियों को झेलते हैं। किंतु इसके बाद भी ये इस भ्रष्ट व्यवस्था तंत्र से जुड़े रहते हैं। आज के समय में भी राजनैतिक, सामाजिक व्यवस्था तंत्र, सब में भ्रष्टाचार व्याप्त है। आज निजी जीवन में कोई भी व्यक्ति कितनी ही विसंगतियों को क्यों न झेल रहा हो लेकिन वह भी प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रूप से इस भ्रष्ट व्यवस्था तन्त्र का हिस्सा अवश्य ही बन जाता है और इस व्यवस्था को पोषित करता है। नाटक के कई अंशों में इस शोषक व्यवस्था के

शोषण का दर्शन होता है और उसके मध्य लोगों की उलझी हुई जिंदगी को देखा जा सकता है, जैसे नाटक में उस अधिकारी के चरित्र का भोगवादी व्यवहार जिसमें वह अपने दफ्तर की स्टेनो कंचनरूपा का शारीरिक शोषण करता है। कंचनरूपा का पूरा व्यक्तित्व इस दफ्तरी तंत्र में पिसकर रह जाता है, "इसका प्रत्यक्ष रूप इस नाटक के उस अधिकारी के चारित्रिक स्खलन में देखा जा सकता है, जो अपने कार्यालय की स्टेनो कंचनरूपा की मर्यादा का अपहरण करता है और 'कंचन' का संपूर्ण अस्तित्व भ्रष्ट शासन के अंतर्गत सिमटकर चला आता है। नाटककार एक भयानक सत्य के संदर्भ में जीवन की विसंगतियों को झेलते हुए पात्रों की मानसिकता और परिस्थितियों को झेलने की बाध्यता का अंकन करता है।"[34] मुद्राराक्षस का यह नाटक 'योर्स फेथफुली' अपने नाट्य शीर्षक को सार्थक करता है। जिसमें फेथ अर्थात् विश्वास जैसे शब्द बोधात्मक है। भ्रष्ट व्यवस्था तन्त्र के प्रति भ्रष्टाचारियों का फेथ अर्थात् विश्वास, जिसमें आस्था रखकर ही हमारा निजी विकास हो सकता है।

दरअसल समकालीन आधुनिक हिंदी नाटकों में वस्तु-विश्लेषण के संदर्भों में देखें तो पात्रों के नियोजन का मुख्य उद्देश्य उनकी प्रवृत्तियों को उद्धरित करना है। समकालीन आधुनिक हिंदी नाट्य रचना मुख्यतः उन परिस्थितियों को उद्घाटित करती है, जिसमें आज का मनुष्य खंडित है। साथ ही जीवन की विसंगतियों को झेलते हुए आज वह अवशिष्ट प्रतीत होने लगा है।

मुद्राराक्षस के नाटकों के संदर्भ में कहे तो उनका यह नाटक 'योर्स फेथफुली' या अन्य जैसे 'तिलचट्टा', 'तेंदुआ', 'मरजीवा' आदि नाटक आधुनिक मानवीय त्रासदी को ही चित्रित करते हैं जो पाश्चत्य संस्कृति से प्रभावित हो रहे हैं। जिसमें मानवीय यौन विकृतियाँ और खंडित जीवन है, साथ ही राजनैतिक, सामाजिक विसंगतियों को भी चित्रित करता है। किंतु इनके नाटकों में आधुनिकता बोध होते हुए भी नाट्य संरचना में कई नाट्य स्थलों पर स्वाभाविकता का अभाव है जो कि नाटकीय संभावनाओं के प्रति प्रश्न खड़े करता है।

2.8 कथा एक कंस की

नाटककार दयाप्रकाश सिन्हा आज के प्रसिद्ध रंगकर्मी, नाटककार और निर्देशक भी हैं। उनका नाटक 'कथा एक कंस की' हिंदी आधुनिक नाटकों में एक रंगमंच पर सफल और चर्चित नाटक है। जिसका सवर्प्रथम मंचन 1975 ई. लखनऊ में स्वयं अपने निर्देशन में किया था। इसके कथानक और पात्रों की बात करें तो मिथकीय पौराणिक पात्र 'कंस' के जीवन से जुड़ी कथा है। नाटककार का उद्देश्य पौराणिक कथा में मिथकीय प्रयोगकर आधुनिक युगीन मनुष्य की प्रवृत्ति को चित्रित करना है। जिसमें यह दिखाने का प्रयत्न किया गया है कि किस प्रकार किसी व्यक्ति को सत्ता का शीर्षपद प्राप्त होते ही वह महत्त्वाकांक्षी और कई बार निरंकुश शासक बन जाता है। नाटककार 'कंस' को इस नाटक में एक ऐसे निरंकुश राजा के रूप में प्रस्तुत करता है जो आधुनिक व्यक्ति, युग विशेष और उससे भी बढ़कर एक संस्था के रूप में प्रस्तुत होता हैं। नाटक में मनोवैज्ञानिक विश्लेषण समष्टि और व्यष्टि दोनों ही धरातलों पर होता है। कंस की मनःस्थिति का समष्टि विश्लेषण हुआ है और निष्कर्ष स्वरूप उन कारणों को जानने का प्रयत्न किया गया है जिन कारणों से वह न केवल निरंकुशता की प्रेरणा प्राप्त करता है बल्कि इसके लिए वह बाध्य भी होता है। इसके पीछे के कारणों का बोध इस प्रकार होता है कि जो प्रवृत्ति नाटक में कंस के बाल्यकाल में होती है वह वयस्क होने पर बदल जाती है अर्थात् बाल्यकाल में कंस के चरित्र में विनम्रता, सद्गुण और सद्भाव होता है वहीं बाद में उसके चरित्र में क्रूरता और निरंकुशता आ जाती है, "संपूर्ण कथा कंस के इर्द-गिर्द घूमती है। कंस का द्वंद्व सर्वोपरि है। बचपन में कंस का आचरण सद्गुण और सद्भाव संपन्न था। बाद में उसका चरित्र स्वेच्छाचारी दिखाया गया है।"[35] कंस के अंतर्मन का जो बिम्ब उभरता है वह मनोविज्ञान की सूक्ष्म रेखाओं के माध्यम से उभरता है, और जो एक सर्वकालिक सत्य प्रकट होता है वह यह है कि सत्ता के शीर्ष पर हर कोई नहीं बैठ सकता अतः एक ही व्यक्ति बैठ सकता है। नाटक में इस तथ्य बोध हेतु प्रलंब और प्रद्योत नामक पात्रों की कल्पना की गई है। नाटककार ने इस तथ्य को दिखाने का प्रयत्न किया है कि यह कथा कंस को केंद्र में रखकर अवश्य लिखी गयी है लेकिन यह कथा कंस के

अतिरिक्त उन सभी निरंकुश शासकों की भी है, जो इतिहास में समय-समय पर आते-जाते हैं। नाटक का आरम्भ उस स्थान से होता है जहाँ कंस अनिद्रा से व्याकुल रहता है और उस अवस्था में वह दुर्ग के अटारियों पर इधर से उधर कंगूरे तक बेचैन अकेला घूमता रहता है। नींद आने पर वह स्वप्न देखता है कि किसी के दो विकराल हाथों ने उसकी ग्रीवा को पकड़ रखा है। वह जोर से चिल्लाता है, "कहाँ से प्रारंभ होती है यह कथा, एक साधारण मनुष्य की असाधारण महत्त्वकांक्षा की कथा, एक साधारण मनुष्य के भगवान बनने की कथा, एक धड़कते लहू के ठंडे होकर धीरे-धीरे पत्थर से जमने की कथा, कहाँ से प्रारंभ होती है यह कथा।"[36]

कंस के स्मृति पटल पर पूर्व में बीती सभी घटनाएं कौंध जाती हैं। पुनः एक बार कंस अपने अतीत के जीवन को जीता है। नाटक में नन्द की कथा को नाटक में आश्रय मात्र के लिए रखा गया है। कंस सत्ता लोलुप एक शासक का प्रतीक है जो कि मगध के राजा जरासंध के राज्य विस्तार की इच्छा का माध्यम बनता है। दया प्रकाश सिन्हा ने नाटक की सार्थकता के संदर्भ में बताया है कि, कंस के चरित्र में उन्हें हिटलर का प्रतिबिम्ब दिखता है। एक ऐसे महत्वाकांक्षी विश्वविजय बनने की आकांक्षा रखने वाले शासक के शासन के उत्थान-पतन के साथ-साथ उसकी विक्षिप्त द्वंद्वात्मक अवस्था की भी, जहाँ अंततः खुद को अकेला ही पाता है, "कंस के चरित्र सृष्टि में आज के तानाशाह जैसे हिटलर की क्रूर महत्त्वाकांक्षा निहित है। स्वयं नाटककार ने कहा है कि उन्होंने इस नाटक के द्वारा एक निरंकुश शासक के उत्थान-पतन के अतिरिक्त उसकी महत्त्वाकांक्षाओं में निहित त्रासदी को पकड़ने की कोशिश की है।"[37] नाटककार ने कंस के माध्यम से एक व्यक्ति की मूल प्रवृत्ति को भी चित्रित करने का प्रयत्न किया है कि कैसे एक व्यक्ति की समय-समय पर प्रवृत्ति परिवर्तित हो सकती है। व्यक्ति की प्रवृत्ति किसी के प्रभाव, प्रेरणा या किसी परिस्थितिजन्य भी परिवर्तित हो सकती है। आधुनिक मानव की प्रवृत्ति भी आज संशयात्मक, संदिग्ध ही है। आज सामाजिक, राजनैतिक या व्यक्तिगत इन सभी संदर्भों में आधुनिक मानव की प्रवृत्ति संशयात्मक ही है। कंस की प्रवृत्ति इन सदर्भों में आधुनिक मानव की प्रवृत्ति का ही प्रतीक है। कंस की बाल्यकाल और वयस्क दोनों ही

समय की प्रवृत्तियों में बहुत अंतर है। बाल्यकाल में वह संगीत प्रेमी, भावुक, करुण, अहिंसात्मक होता है साथ ही स्वप्नदर्शी, फूल और गंध को महसूस करने वाला होता है, जिसे अपने पिता और बहन से बहुत प्रेम होता है। वासुदेव भी न केवल उसका संबंधी होता है बल्कि उससे मित्रवत संबंध भी होता है। किंतु बाद के समय में वयस्क होने पर अपने पिता उग्रसेन के जीवन बोध से प्रेरणा प्राप्त कर हिंसक प्रवृत्ति का हो जाता है। निरंतर अपनी सत्ता विस्तार की महत्त्वाकांक्षा के परिणाम स्वरूप वह हिंसात्मक होता चला जाता है, किंतु साथ ही कंस का खुद का व्यक्तित्व भी उतना ही असुरक्षित और संत्रासग्रस्त हो जाता है। अतः यह कहा जा सकता है कि यह नाटक आज के आधुनिक व्यक्ति की मूल प्रवृत्ति में होने वाले परिवर्तन की प्रक्रिया भी है और उसकी कथा भी है। नाटक के अंत में कंस के संवादों में उसके आत्मबोध का चित्रण होता है जहाँ वह अपने आप से प्रश्न करता है, "हर अत्याचार आत्म-मंत्रणा है, क्या हर हत्या आत्महत्या ?"[38]

अतः यह कहा जा सकता है कि सत्ता के शीर्ष पर बहुत जगह नहीं होती है, वहाँ कोई एक ही व्यक्ति खड़ा हो सकता है। ऐसे में यह सत्ता और सत्ता विस्तार की महत्वाकांक्षा इंसान को एकांकी जिंदगी की ओर ढकेल देती है, जहाँ वह भय और संत्रास से घिरा रहता है। कंस अपने व्यवहार में हर दृष्टि से एक आधुनिक व्यक्ति के समान ही प्रतीत होता है। आधुनिक मानव के ही समान कंस आंतरिक और बाह्य दोनों ही रूप में विभक्त है। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि जिस मिथकीय चेतना का प्रयोग 'कथा एक कंस की' में किया गया है उसका संबंध आधुनिकता से भी जुड़ता है।

नाटक में अस्ति और स्वाति कंस की दो पत्नियाँ हैं। इसमें अस्ति का चरित्र और प्रवृत्ति स्वतंत्र व्यक्तित्व की है। इसीलिए नाटक में अस्ति का स्वतंत्र नारी अस्तित्व कंस के अंह से टकराता रहता है। यूं तो अस्ति कंस के प्रति एक समर्पित पत्नी है किंतु कंस, जिसके अन्दर अहं भरा हुआ है और सत्ता के भय से उत्पन्न संत्रास से वह अस्ति की हत्या कर देता है। इस संदर्भ में यह कहा जा सकता है कि सत्ता का घमंड और उन्माद इंसान के अन्दर अहं को भर देता है और कोई भी अहंकारी सत्ताधारी किसी के स्वतंत्र व्यक्तित्व को स्वीकार नहीं करता है, क्योंकि ऐसे स्वतंत्र व्यक्तित्व का

इंसान हमेशा ही सत्ताधारियों को चुनौतियां देता आया है। आधुनिक समाज में भी ऐसे तमाम सत्ताधारी समय-समय पर रहे हैं, जिनका सामना स्वतंत्र व्यक्तित्व के लोगों से होता रहा है। कंस भी नाटक में एक स्थल पर कहता है कि, "चाहे वह पत्नी हो, चाहे मित्र, चाहे बहन, उसे नष्ट होना ही है।"[39] इस प्रकार कंस किसी और के सत्य को नहीं स्वीकारता है। स्वयं द्वारा अनुभूत किया हुआ सत्य ही उसके लिए सर्वोपरि है। इसलिए वह आधुनिक मानव के उस चरित्र के निकट प्रतीत होता है जो संशयग्रस्त होता है।

इस प्रकार दयाप्रकाश सिन्हा कृत यह नाटक 'कथा एक कंस की' भी आधुनिक जीवन की त्रासदी को ही चित्रित करता है, जिसमें नाटककार ने पौराणिक मिथकीय कथा से आश्रय लेकर आधुनिक जीवन के रूप को प्रस्तुत किया है। कंस की प्रवृत्ति, शासक के रूप में सत्ता विस्तार की उसकी महत्त्वाकांक्षा, उसकी निरंकुशता, उसक सत्ता से उत्पन्न संत्रास आदि सभी आधुनिक मानव की भी नियति हैं। जिस तरह से बाह्य और आंतरिक रूप से कंस का अस्तित्व बंटा हुआ था। उसी प्रकार आज के आधुनिक मनुष्य का शरीर और आत्मा अर्थात् उसका आंतरिक और बाह्य व्यक्तित्व एक-सा नहीं रह गया है। तभी कंस और आज का आधुनिक व्यक्ति संशय में जीता है। जिसके कारण आज व्यक्ति एक दूसरे से अलग होता जा रहा है। अतः यह कहा जा सकता है कि नाटककार के कंस की निरंकुश प्रवृत्तियों का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण करने के पीछे उद्देश्य आधुनिक मानव के ही दोहरे व्यक्तित्व और प्रवृत्तियों को उजागर करना है।

2.9 प्रजा ही रहने दो

गिरिराज किशोर का 'प्रजा ही रहने दो' नाटक हिंदी नाट्य साहित्य में एक बहुचर्चित नाटक है। इस नाटक की कथा-वस्तु और पात्र-चयन अंधा-युग के ही समान है अर्थात् महाभारतकालीन पृष्ठभूमि जिसमें एक राज परिवार की एकछत्र शासन की इच्छा के परिणाम स्वरूप महाभारत का युद्ध होता है और उसका विनाशकारी परिणाम निकलकर सामने आता है। यह विनाश जनता की कुंठा,

निराशा, भटकाव दिशाहीनता तथा ऊब को ही जन्म देता है। आज आधुनिक युग में भी अपने राजनैतिक दल के विस्तार और व्यक्तिगत लाभ के लिए शासकों के व्यक्तित्त्व का पतन हो चुका है। धृतराष्ट्र के ही समान अंधा शासक और शासन समय-समय पर विद्यमान रहे हैं। जिससे ऊबकर जनता की भी शासकीय व्यवस्था के प्रति आस्था समाप्त हो चुकी है। नाटक के प्रथम दृश्य में ही धृतराष्ट्र के शासन के प्रति जनता का मोहभंग और अविश्वास प्रकट हो जाता है। राजाज्ञा की घोषणा से प्रथम दृश्य प्रारंभ होता है। जैसे ही उद्घोषक राजाज्ञा की घोषणा करना चाहता है और गोमुखा बजाने वाला गोमुखा बजाकर लोगों को रोकना चाहता है, किंतु घोषणा सुनने के लिए कोई होता ही नहीं है। जिसके बाद सेवक और उद्घोषक के बीच जो संवाद होता है उससे आधुनिक राजनीति के प्रति जनता का मोहभंग, उपहास, भय, आशंका, व्यंग्य और ऊब सब दिखता है। उद्घोषक और सेवक के बीच का संवाद दृष्ट्व्य है,

"उद्घोषक : तुम्हें मेरे प्रश्नों का उत्तर देना होगा। आज कुछ भी तो नहीं ..न त्योहार और न पर्व, फिर लोग कहाँ गये ? राजाज्ञाओं के प्रति इतनी उदासीनता। लगता है उनका समय आ गया है ! तुम हँसते हो। राजाज्ञा के संदर्भ में हँसना विद्रोह की गंध उत्पन्न करता है।

सेवक : जड़ता फैल रही है।

उद्घोषक : नहीं, जनता स्वार्थी है। स्वार्थ की बात ही सुनना चाहती है।

सेवक : उद्घोषक जी, मैं समझा नहीं, आप राजा की तरफ हैं या प्रजा की। लीजिये मैं गोमुखा फूंके देता हूँ।"[40]

इस प्रकार नाटक के प्रथम दृश्य में महाभारत की कथा और पात्रों में दर्शक या पाठक नहीं उलझता है। बल्कि आज की आधुनिक राजनीति के प्रति जनता के चुभते अनुभव और उनका सत्ता के प्रति उपहास, आशंका, व्यंग्य, भय आदि सीधे अर्थो में समझ आ जाता है। महाभारत के सभी पौराणिक पात्र एक व्यक्ति के स्थान पर प्रवृत्तियों के रूप में चित्रित किये गए हैं। नाटककार का मुख्य उद्देश्य

आधुनिक शासकों और जनता की प्रवृत्तियों को ही उजागर करना है। स्वातंत्र्योत्तर आधुनिक शासन व्यवस्था जनता की जरूरतों उसकी तकलीफों की ओर से अपना मुख मोड़ लेती हैं, जिससे वह सत्ता, जनता को धृतराष्ट्र और गांधारी के समान ही प्रतीत होने लगती है, जिसमें एक अंधदृष्टि रखता है और दूसरी गांधारी जो सब सच जानकार भी अपनी आँखों पर से पट्टी नहीं हटाती है। दोनों ही मदांध राज शक्ति का पर्याय प्रतीत होते हैं। इन संन्दर्भों में यह नाटक आधुनिक भाव-बोध को ही प्रकट करता है। दूसरे दृश्य में नाटककार ने प्रहरियों के माध्यम से जो संवाद प्रस्तुत किया है वह सताधारियों की अनावश्यक नीतियों का बोधक होता है, जिसके जनता की भलाई का कोई सरोकार नहीं है लेकिन तब भी ऐसी नीतियाँ या योजनाएं घोषित की जाती हैं जो प्रजा अहितकारी हैं। तभी ये प्रहरी व्यंग्य करते हैं, आलोचना करते हैं, जिससे आधुनिक सत्ताधारियों की नीयत तो स्पष्ट होती ही है, जनता के प्रतीक रूप में ये सजग दृष्टा और भोक्ता भी प्रतीत होते हैं,

"दूसरा प्रहरी : लगता है तुमने घोषणा नहीं सुनी !

चौथा प्रहरी : घोषणा की अघोषणा। सीधी सी बात है, अगर राजा जुए को राष्ट्रक्रीड़ा घोषित करता है तो वह अपने आदेश से मनुष्य को घास भी चखा सकता है और..

तीसरा प्रहरी : और गधे को हलवा भी खिला सकता है !

पहला प्रहरी : चाम में मैं अधिक विश्वास नहीं करता सेवावृति करने वालों के शरीर पर या तो यह रहता नहीं या फिर मोटा पड़ता जाता है।

दूसरा प्रहरी : हम लोगों के शरीर पर तो है।

चौथा प्रहरी : तुम राजमहल के प्रहरी जल्दी बन गये। धीरे-धीरे इस पद पर पहुंचे होते तो इन सब ध्वनियों के अभ्यस्त हो गए होते.. यहाँ कभी बाढ़ आती है और कभी ठंडी-ठंडी बयार बहती है।"[41] इस प्रकार यह नाटक भी अंधा-युग के समान ही महाभारत के पश्चात् आज के आधुनिक युग में भी उन अंधवृत्तियों की बार-बार पुनरावृत्ति होने की बात कहता है। यहाँ इस नाटक में महाभारत की

कथा गौण है। नाटककार का मुख्य उद्देश्य आधुनिक संवेदना को और उस सांकेतिकता को प्रकट करना है। वह संवेदना और सांकेतिकता जो सदियों से सत्ताधरियों की गलत नीतियों के कारण जनता के अन्दर इस नाटक में पैदा होते दिखती है। सत्ता और जनता के मध्य उपजी इन प्रवृत्तियों का बोध प्रहरियों, नागरिकों की कल्पना और उनके स्वाभाविक संवादों से स्वतः ही होता है। सुयोधन के अन्दर जिस प्रकार सत्तारूढ़ होने की प्रबल आकांक्षा होती है वैसे ही तमाम राजनेताओं की भी होती है। जनता में दिशाहीनता, कुंठाएं, विकृतियाँ आदि ऐसे ही और भी गहराती जाती हैं। आज के आधुनिक सत्ताधारी भी वैसे ही सत्ता लोलुप हैं। अपनी कुटिलताओं में सत्य और धर्म का मुखौटा लगाए अपनी सत्ता के विस्तार में लगे हुए हैं, जिसके लिए यदि युद्ध भी करना पड़े तो उसे धर्म के नाम पर उपयुक्त सिद्ध करके राज्य को युद्ध में थकेल देते हैं, बिना सोचे कि युद्ध के पश्चात् राज्य और राज्य के नागरिकों, प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष रूप से शामिल जनता का क्या होगा ? गांधारी सुयोधन से कहती है, "जाओ, सुयोधन। नये युग के लिए नई नीति का निर्माण करो। एक नीति एक ही समय के लिए उपयोगी होती है। पहले युद्ध को खेल की तरह खेला जाता था, अब खेल को भी युद्ध की तरह लो।"[42]

इस प्रकार नाटक के पात्रों को प्रवृत्तियों के पर्याय के आधार पर दो वर्गों में बाँट सकते हैं। जैसे प्रथम वर्ग में शोषक वर्ग, सत्ता लोलुप वो पात्र आएँगे जिनकी नीतियों के कारण जनता तमाम कष्टों को भोगती है। जिसके कारण जनता दिग्भ्रमित और कुंठाग्रसित हो जाती है। नाटक के ऐसे पात्रों में धृतराष्ट्र, गांधारी, सुयोधन, सकुनी आदि आते हैं। इन सभी का उद्देश्य और लक्ष्य एक समान सत्तारूढ़ होना है। दूसरा वर्ग वह है जो शोषित है, जिसमें युधिष्ठिर, कुंती, द्रौपदी आदि पात्र आते हैं। नाटक में द्रौपदी जनता का पर्याय बन जाती है। पांच पतियों के होते हुए भी अपनी रक्षा हेतु उसे स्वयं खड़ा होना पड़ता है। उसके चरित्र और वाणी में स्पष्टता, प्रखर तेज, नाटक में उसकी हंसी राजनैतिक, सामाजिक, धार्मिक सभी व्यवस्थाओं पर प्रश्नचिन्ह खड़ा कर देती है। कटु अनुभव उसके व्यक्तित्व को प्रखर बना देते हैं। तभी अपने अपमान का प्रतिशोध लेने के लिए स्वयं निडरपूर्वक

सबके सामने खड़ी हो जाती है। उसके अन्दर का भय, संकोच, शील सब समाप्त हो जाता है। महाभारत के युद्ध के पीछे उसका संकल्प ही प्रतीत होता है। अंततः नाटक में युद्ध समाप्त होने पर पुनः वह हंसती हुई दिखती है क्योंकि युद्ध में सब कुछ समाप्त हो जाता है, इस युद्ध में उससे पुत्र, भाई, भतीजे सब छिन जाते हैं। फिर वह सवाल करती है कि क्या युद्ध कोई समाधान दे सकता है ? "सचमुच युद्ध क्या समाधान दे सकता है ? उसके स्वर गूंजते रह जाते हैं- मैं सबकी अपराधिनी हूँ लेकिन मुझसे मेरे स्वर मत छीनो..मुझे यहीं रहने दो। मुक्त होने दो। प्रजा को प्रजा ही रहने दो।"[43]

इस प्रकार नाटक में आधुनिक संदर्भ, संकेत और प्रतीक ही महत्त्वपूर्ण रह जाते है। पात्रों की प्रवृत्तियां मुख्य रूप से दो कालों को जोड़कर समान धरातल पर लेकर आ जाती है। अतः यह नाटक भी अपने पौराणिक कलेवर में आधुनिक राजनैतिक हालातों को ही बयां करता है जो राजनैतिक मूल्यहीनता और अंधत्व राजनीति की ओर ही संकेत करता है। जिसके परिणाम स्वरूप जनता में भय, उपहास, आशंका, विद्रोह और अंततः इनसे राजनैतिक और सामजिक विद्रूपताएं ही जन्म लेती हैं।

2.10 रस-गन्धर्व

मणि मधुकर का हिंदी नाट्य लेखन में विशेष योगदान है। इन्होंने एब्सर्ड नाट्य रंग संदर्भो को लोक नाट्य रंग संदर्भो के साथ जोड़ने का प्रमुख कार्य किया है। इस नाटक की विशेषता यह है कि कथ्य और शिल्प दोनों ही दृष्टियों से एक प्रभावी नाटक है। नाटक को दो अंकों में विभक्त किया गया है। जिसे पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध कहा गया है। नाटक में किसी कथानक का आश्रय नहीं लिया गया है। नाटक आधुनिक संदर्भो को वहन करता है, जिसमें लोक नाट्य के तत्त्वों को समाहित किया गया है। नाटक का समय स्पष्ट नहीं है लेकिन पात्रों को धारनगरी के राजा भोज की प्रजा के रूप में चित्रित किया गया है। इस नाटक में मणि मधुकर ने परंपरागत नाट्य रूपों को आधुनिक चेतना से जोड़कर एक नवीन संदर्भ में प्रस्तुत किया है, "'रस-गन्धर्व' में विसंगति है- विसंगति का नाटक है, साहित्य शास्त्रीय स्थापनाओं से मुक्ति है, मूर्तता-अमूर्तता है और कल्पना- लोक है लेकिन उसे न मात्र एब्सर्ड

नाटक कहा जा सकता है, न यथार्थवादी न मात्र एक फैंटेसी और न प्रतीकात्मक नाटक। वस्तुतः उसकी सारी विशेषता अपने उस लचीलेपन में है, उस समन्वित सौंदर्य और संश्लिष्ट काव्य में है जो उसमें पैदा होती जाती है। उसमें पारंपरिक नाट्यतत्त्वों का, लोक-नाटक की उन्मुक्तता और लय-बहुलता का आकर्षक और कलात्मक प्रयोग किया गया है।"[44]

यह नाटक 'रस-गन्धर्व' मुख्यतः सामाजिक राजनैतिक विसंगतियों को खास कर राजनैतिक विसंगतियों को चित्रित करता है, जिसमें आम जनता पिसते ही रहती है। देश की स्वतन्त्रता के इतने दशकों बाद भी जनता राजनैतिक नीतियों का शिकार ही होती आई है। जनता राजनैतिक कठपुतलियां ही प्रतीत होती आई है। नाटककार इस नाटक में आम जनता की पिसती हुई जिंदगी का चित्रण चुभते हुए व्यंग्य और हास्य संवादों के माध्यम से प्रस्तुत करता है। लेकिन नाटक की विशेषता यह है कि इसके लिए नाटककार ने न कोई गढ़ा-गढ़ाया कथानक चुना है, न कोई चर्चित पात्र योजना है, न ही नाटककार कथानक में क्रमबद्धता रखता है और न कोई अंतिम निष्कर्ष दिया है। किंतु इसके पश्चात् भी यह नाटक आज के आधुनिक समाज में राजनैतिक तंत्रों में पिसते हुए लोगों के दर्द को चित्रित करता है। लोगों के तकलीफों के लिए दोषी राजनैतिक व्यवस्था तंत्र पर व्यंग्य के माध्यम से चोट करता है। नाटक का मुख्य स्थान जेल का एक हिस्सा है। जेल का यह हिस्सा राजनैतिक अव्यवस्था रूपी कैदखाने का ही प्रतीक स्वरूप है। इस जेल में चार व्यक्ति कैद हैं- अ, ब, स, द जो आम जनता का ही प्रतीक हैं। इनके हास्य-व्यंग्य संवादों और चेष्टाओं में सीधे अर्थों में तो अटपटे प्रतीत होते हैं, लेकिन इनके दूसरे अर्थों को समझे तो उसमें आम जनता की पीड़ा, विवशता का ही बोध होता है। जिसमें सत्ता पक्ष इनका शोषण करता है, अपनी स्वार्थ सिद्धि हेतु जनता का सिर्फ इस्तेमाल करता है। किंतु जब जनता के विकास की बात आती है तो ये सबसे पहले उनके रास्ते को अवरुद्ध कर देते हैं, जिससे जनता विक्षिप्त और असंतुलित होती जाती है। प्रस्तुत नाटक में पात्र 'अ' का विक्षिप्तता की अवस्था में चिल्लाना इस तथ्य को पुष्ट करता है,

"सेल का खून, चाबी-ताले का खून

दाल में काले का खून

कमली वाले का खून, ईमली वाले का खून

गोर का खून, कांच- कटोरे का खून

बिन पानी सब सून-खून-खून

काला खून, गोरा खून।"[45]

नाटक की शुरुआत ही गोली, लड़ाई, खून, विस्फोट और कूड़े जैसे संकेतो से होती है। जिससे सत्ता और जनता के बीच के विरोधाभास की ओर संकेत हो जाता है। स्वतंत्रता से पूर्व और स्वतंत्रता के पश्चात् उत्पन्न सामाजिक स्थितियों का भयानक सत्य और राजनैतिक व्यवस्था की नग्नता चारों कैदियों के संवादों के माध्यम से सामने आती जाती है। चारों कैदियों की संवाद शैली, भाषा में गालियां, भाव आदि में एक विस्फोटक आवाज है जो बंदूकों में दिखायी गयी है। साथ ही चारों अपनी कुंठा और दिशाहीनता के बारे में कहते हैं कि वो क्या चाहते हैं ? जाना कहाँ है ? मंजिल और रास्ते किस दिशा में है ?

नाटक में प्रस्तुत प्रसंग और कैदियों की यह भाषा आधुनिक समाज और आज के व्यक्ति की प्रतीत होती है, जिसके व्यक्तित्व में एक कुंठा और दिशाहीनता आ चुकी है। उनके अन्दर व्यवस्था के विरुद्ध अविश्वास, क्रोध और घृणा ने जन्म ले लिया है, इसीलिए उनके अन्दर बहुत सारे सवाल हैं। जो सवाल आज की जनता के हो सकते हैं। अविश्वास और भाषा में ऐसी असंयमित गालियाँ आज की आधुनिक जनता की भी हैं जो दिशाहीन और कुंठित हो चुकी है। पात्र 'अ' और 'ब' के संवादों से नाटक के एक स्थल पर उनके सवाल और उनके हालातों का बोध होता है,

" अ : मौत तुम्हारी आँखों में हैं और जीवन तुम्हारी धमनियों में।

ब : क्या कर रहे हो तुम लोग ? जल्दी से काम पर लग जाओ। वह आ रहा है। वह संतरी। वह टूटी टांगवाला खच्चर। गरीबी हट गयी, कुर्सी पट गयी, रात कट गयी ?"[46]

नाटक में स्त्री पात्र है राजकुमारी, जो शापग्रस्त अप्सरा है तथा नाटक में चित्रित ये चार कैदी भी शापित गन्धर्व हैं। नाटक में कई स्तरों पर प्रतीकात्मकता है। नाटक में राजकुमारी कोई शक्ति नहीं बल्कि प्रवृत्ति के रूप में है। नाटक में वह विभिन्न संवेदनात्मक रूपों से जुड़ी हुई है। इसमें अंत में अपनी नियति और स्थिति से पुनः कैदी और संतरी से गन्धर्व बने ये लोग खुश नहीं रहते हैं। इसका कारण यथार्थ से उठाकर स्वप्न में रख दिया जाना होता है, फिर ये धिक्कारते हैं नाटककार को इस चालू फार्मूले के लिए और कहते हैं,

"द : निर्देशक भाड़े का टट्टू है और मनोरंजन मार्गी संस्थाओं के हाथों बिक चुका है।

अ-ब-स-द-ह : हम लेखक और निर्देशक की मिलीभगत का विरोध करते हैं।

स : ऐसा कोई नाटक नहीं खेलेंगे –

ह, द : जिसमें हम मनुष्य न रहकर गन्धर्व बन जायें।

सब (एक साथ) : हम गन्धर्व नहीं हैं। हम मनुष्य हैं और यह मानते हैं कि युद्ध में न देवताओं की विजय होती है, न दानवों की। मनुष्य के संकल्पों की विजय होती है।"[47]

नाटक की समाप्ति होती है अंतहीन अपना-अपना चेहरा ढूंढने की जारी कोशिश के साथ। नाटक के पूर्वार्द्ध के समाप्त होने से पूर्व संकेतो और व्यंग्यों की एक चुभती हुई तुकबंदी के माध्यम से आधुनिक जनता और सत्ता के बीच के संघर्ष को ही चित्रित किया गया है। अतःनाटक के पूर्वार्द्ध की समाप्ति सांकेतिकता, गतिशीलता, व्यंग्यात्मकता, तीखेपन और एक कसाव के साथ होती है।

नाटक के उत्तरार्द्ध में एक नया मोड़ आता है जब वही पात्र अ,ब,स और द दरजी, राहगीर, तथा जादूगर बन जाते हैं। फिर वही चारों पात्र श्रोता, अभिनेता, दर्शक, भोक्ता बनकर आते हैं। फिर रोचक रूप से प्रसंग भी बनते-बदलते जाते हैं। साथ ही संगीत, लयात्मकता, नृत्य, संवाद, मुद्रायें नाटक को गाते हुए एक अलग ढ़ंग से आधुनिक अर्थ व्यंजना सौंदर्य देते चले जाते हैं। नाटकीय कल्पना की दृष्टि से जो प्रमुख हो जाती है वह है फैंटेसी, परिकथा जो आम जनता के भाग्य निर्माण के कार्य को दर्शाती है, " स्वतः ही बहुत सार्थक व्यंग्य हो जाता है कि कैसे व्यवस्था आम जनता को उलझाती है, व्यर्थ के कार्यों -स्वप्नों में उलझाकर उसे मूल समस्या से, क्रान्ति और विद्रोह से, परिवर्तन से दूर हटाती है। इस अर्थ में फैंटेसी यहाँ अनिवार्य, सार्थक, रोचक अंग बन जाती है।"[48]

रस-गन्धर्व में एक स्वतंत्र रंग चेतना और एक विशेष लय देखी जा सकती है। जिसका कारण लोकधर्मिता के तत्त्वों को अपना लेना है। यह एक प्रकार से नए नाट्य रूप की विशेषता है। जहाँ पात्र स्वतः ही भिन्न-भिन्न भूमिकाएं अपना लेता है। कहीं भी इसकी प्रतीकात्मकता में बाधा नहीं आती है। इसकी अपनी लोक धुन के गीत-संगीत या नृत्य नाटक को कहाँ से प्रारंभ करते या दृश्य परिवर्तित करते हैं या स्पष्ट करते हैं। नाटक की काव्य लयात्मकता ही इस नाटक को विशिष्ट बनाती है, जो कि नाटक के प्रारंभ से अंत तक देखी जा सकती है। अतः इसे ही नाट्य रचना का मुख्य अंग कह सकते हैं। लोकधुन पर आधारित इस नाटक का गीत दृष्ट्व्य है,

"तू दुबला क्यों हो गया, रे भाई रामधनिया

तुझको क्या चिंता लग गयी, रे भाई रामधनिया

कब का यूं ही रहेगा ढांचा तू हड्डियों का

कब तक तेरे आँखों में सूनापन बरसेगा

टूट गया, पर बता, और अब

कितना टूटेगा, रे भाई, कितना टूटेगा ?

तू तो माटी में मिल गया, रे भाई रामधनिया।"[49]

अंततः इसे लोकनाट्य परंपरा और एब्सर्ड नाटक के तत्त्वों को समाहित कर एक आधुनिक नाटक कहा जाना गलत नहीं होगा। लोकनाट्य परंपरा जिसमें लोकगीतों की शैली, व्यंग्यों और संवादों के माध्यम से आधुनिक मनुष्य के अस्त-व्यस्त जीवन में उत्पन्न विवशता, घृणा, असंतोष, कड़वाहट, विद्रोह की बेचैनी और मुक्ति की कामना हेतु आकुलता ही इस नाटक का उद्देश्य और सत्य है। साथ ही आधुनिक मनुष्य के अन्दर विभिन्न स्तरों पर चल रहे वैचारिक द्वंद्वों को प्रतीकों के माध्यम से अभिव्यक्त करना इस नाट्य कृति का मुख्य लक्ष्य है।

2.11 कोर्ट मार्शल

स्वदेश दीपक कृत नाटक 'कोर्ट मार्शल' जिस वर्ष (1991 ई. में) प्रकाशित हुआ था, वह दशक सामाजिक, धार्मिक और राजनैतिक दृष्टिकोण से बहुत ही अस्थिर रहा है। वह हताशा, कुंठा, साम्प्रदायिक हिंसा, घृणा और अमानवीयता का दौर रहा है। वक्त के साथ आज तक प्रवृत्तियां, हालात कमोबेश वैसे ही विध्वंसक रहे हैं। हमारी सामाजिक व्यवस्था में परंपराओं से चली आ रही वर्ण-व्यवस्था, जिसके आधार पर समाज आज भी बंटा हुआ है, उसकी ही एक अफसरशाही क्रूर प्रतिक्रिया इस नाटक में देखी जा सकती है। जिस कारण रामचंदर नामक एक सेना के जवान को अपने ही अफसर को गोली मारनी पड़ती है। ऐसी कौन सी मज़बूरी थी ? ऐसे कौन से हालात थे ? आज के आधुनिक युग में भी ऐसी कौन-सी व्यवस्था है जो किसी व्यक्ति को विद्रोही बना देती है। सेना जैसे व्यवस्था तंत्र में एक व्यक्ति अपना मानसिक संतुलन खो देता है और हत्या कर देता है ? इन्हीं सवालों का उत्तर ढूंढ़ता हुआ यह नाटक आधुनिक युग में भी वर्ण-व्यवस्था और अफसरशाही में पिसते हुए आज के एक सत्य को उद्घाटित करता है। ऐसी परंपरा जो आधुनिक भारतीय समाज में तो रूढ़ प्रतीत होती है, किंतु यह परंपरा और व्यवस्था जिसे वर्ण-व्यवस्था कहते हैं वह आज भी

बहुत लोगों के व्यक्तित्व में भीतर तक समाहित है, "यह नाटक इसीलिए प्रभावित करता है कि वह आज के वर्तमान, उसकी क्रूर सच्चाई, भयावह अमानवीय तंत्र और आदमी की छटपटाहट और विद्रोह का बेहद प्रासंगिक और चुनौतीपूर्ण नाटक लगता है।"[50]

नाटक में वैसे देखें तो कोई विशेष कथानक तत्व नहीं है, न विशेष घटनाएं और न उनका विकास, किंतु इसके बाद भी नाटक एक घटना प्रसंग के माध्यम से आधुनिक समाज में आज भी व्याप्त धार्मिक और जाति व्यवस्था की उस संकीर्ण और रूढ़ परंपरा में विश्वास करने वालों की मानसिकता को चित्रित करता है। कथानक पर दृष्टि डालें तो एक छोटा-सा प्रसंग है जिसमें रामचंदर नामक एक सैनिक अपने दो अफसरों को गोली मार देता है, जिसमें एक की मौत हो जाती है। रामचंदर का भी कोर्ट मार्शल होता है। नाटक में गोली मारने के कारणों का सच जैसे-जैसे सामने आता जाता है वैसे-वैसे यह नाटक भारतीय समाज की उस रूढ़ परंपरा जिसे हम जाति और वर्ण-व्यवस्था के नाम से जानते हैं उसका अमानवीय और दमित और शोषित करने वाला चेहरा सामने आता है। जिससे आज भी हमारा समाज खुद को मुक्त नहीं कर पाया है, "बराबर की बात तो दूर, सोचने के स्तर पर भी हम अपने से छोटे को बराबर का अधिकार देने को तैयार नहीं। कारण वे सामंती प्रवृत्तियाँ, सामंती सोचने का तरीका, फ्यूडल टैंडंसीज जिनसे हमें अभी तक आजादी नहीं मिली।"[51]

इस नाटक में कई ऐसे पात्र हैं जो कि अवसरवादिता, ठंडी संवेदना, मूल्यहीनता तथा अमानवीय रूढ़िगत प्रवृत्ति के द्योतक और पोषक बनते हैं। जैसे-कर्नल सूरत सिंह, मि.कपूर, डॉक्टर गुप्ता, वकील तथा सूबेदार बलवंत सिंह आदि। इन सभी पात्र-चरित्रों ने आपस में ऐसी सांठ-गाँठ बना रखी है कि इसमें रामचंदर की पूरी अस्मिता, उससे जुड़ी वह घटना इन सभी को झूठ से छिपा लेने का प्रयत्न किया जाता है। किंतु धीरे-धीरे उस सच से पर्दा उठता चला जाता है जिसमें आखिरकार रामचंदर को मजबूरन अपने ही अफसर पर गोली चलाने और विद्रोह करने के लिए मजबूर होना पड़ता है।

दो अंकों के इस नाटक के पहले अंक में घटना और समस्या का विस्तार किया गया है तो दूसरे अंक में नाट्य संघर्ष और उसका निष्कर्ष देखने को मिलता है। दो अंकों के इस नाटक में पात्रों के माध्यम से मानवीय चरित्र के कई पक्ष सामने आते हैं जिसे इस नाटक की मौलिकता कहा जा सकता है। जैसे नाटक में पात्रों का यथार्थ और वास्तविकता, क्रूर सच, कौतूहल और जिज्ञासा के साथ करुणा और क्रूरता का एक सच जो आज भी कहीं न कहीं किसी न किसी रूप में देखने को मिल ही जाता है। नाटक में रामचंदर आज के आधुनिक युग में भी इस जाति व्यवस्था में पिसते हुए आम आदमी का प्रतीक बन जाता है और उसका पूरे नाटक में मौन रहना और सिर्फ यस सर! यस सर! कहना अपने विद्रोह को स्वीकार कर सत्य के प्रति अडिग रहने की ओर संकेत करता है। नाटक में मुकदमा अपने आप में अर्थ व्यंजक है, "कोर्ट मार्शल मुकदमे की प्रक्रिया का ही नाटक है इसीलिए उसमें स्वंय मुकदमा ही अर्थ-व्यंजक हो जाता है। केंद्रीय पात्र रामचंदर का पूरे नाटक में मौन रहना भी अर्थ-व्यंजना, सांकेतिकता और प्रतीकार्थ को बढ़ाता है, गहरा करता है। रामचंदर केवल 'सर-सर' करता है।"[52]

भारतीय समाज हमेशा से ही जातिगत व्यवस्था में बंटा हुआ रहा है। इस व्यवस्था में मानव ने मानव का सदा से ऊँची और नीची जाति के नाम पर शोषण और भेद-भाव का व्यवहार किया है। वक्त के साथ आज आधुनिक युग में यह परंपरा रूढ़ तो हो गई किंतु समाज आज भी पूर्णतः इससे मुक्त नहीं हो पाया है। तभी रामचंदर जैसे पात्रों की कल्पना नाटककार स्वदेश दीपक और अन्य नाटककार करते हैं। आज भी इस व्यवस्था के विरुद्ध समाज में लोग आवाज उठाते रहे हैं किंतु कई बार यह शोषण इस हद तक बढ़ जाता है कि वह एक हिंसा का रूप धारण कर लेता है। नाटक का रामचंदर ऐसे ही शोषण का शिकार, एक पिछड़ी जाति का सेना में कार्यरत एक सिपाही होता है जो अपने ही कार्यस्थल पर अपने से बड़े आफिसर के शोषण का शिकार होता है जिसके परिणाम स्वरूप अंततः वह गोली चलने पर मजबूर हो जाता है। कभी-कभी शोषण शारीरिक न होकर मानसिक होता है और रामचंदर भी अपने इस मानसिक शोषण, जिसमें उसे उसकी जाति विशेष से इरादतन अपमानित

किया जाता है और शायद ऐसी ही परिस्थिति में एक व्यक्ति के अन्दर सशस्त्र विद्रोह जन्म लेता है। रामचंदर भी अंततः बंदूक उठा गोली चलाने पर मजबूर हो जाता है। अंत जानते हुए भी न उसे किसी बात का डर होता है न परिणाम की चिंता तभी नाटक के अंत में भी वह कर्नल सूरत सिंह द्वारा सजा को स्वीकारने के लिए तैयार दिखता है। दोनों के मध्य संवाद से रामचंदर के इस चरित्र का बोध होता है,

" सूरतसिंह : रामचंदर, तुम्हें मौत से डर लगता है ?

रामचंदर : नहीं सर, रामचंदर किसी से नहीं डरता।

सूरतसिंह : मैं कल सुबह तुम्हें सजा-ए-मौत दे रहा हूँ, तुम्हें देने के लिए मेरे पास सिवाय मृत्युदंड के और कुछ नहीं।

रामचंदर : (सीना तानकर) आप जो देंगे, सर आँखों पर सर।"[53]

इस प्रकार स्वदेश दीपक द्वारा रचित यह नाटक 'कोर्ट मार्शल' आज के आधुनिक युग के कई प्रश्नों को हमारे सामने खड़ा करता है जैसे कि नाटक में कोर्ट मार्शल रामचंदर का होता है लेकिन क्या यह आज के आधुनिक समाज का भी कोर्ट मार्शल नहीं ? क्या यह सवाल आज के आधुनिक समाज से नहीं है कि आज भी जातिगत व्यवस्था और मानसिकता क्यों है ? यह कब तक समाज में उपस्थित रहेगी ? क्या यह कोर्ट मार्शल समय और कानून का नहीं है ? क्या यह क्रूर व्यवस्था तन्त्र का नहीं है जहाँ आज भी भेद-भाव किया जा रहा है ? कई ऐसे प्रश्न यह नाटक अपने समकालीन सामाजिक और अपने लोकतंत्र से करता है। जहाँ समता और समानता के अधिकार की बात की जाती है वही आज भी रामचंदर जैसे पात्रों के साथ जातिगत भेदभाव अक्सर सुनने को मिल जाते हैं। अतः यह नाटक 'कोर्ट मार्शल' हमारे समाज और लोकतंत्र की विसंगतियों को, उसकी गहरी चुप्पी को तोड़ता है तथा रामचंदर जैसे शोषित व्यक्ति के विद्रोह को चित्रित करता है जहाँ अंततः सारी सच्चाई जानने के बाद उसका विद्रोह सार्थक और प्रासंगिक लगने लगता है।

निष्कर्षतः स्वरूप कहा जा सकता है कि स्वातंत्र्योत्तर हिंदी नाटक भारतीय समाज,परंपरा उसके बदलते आधुनिक सकारात्मक-नकारात्मक मूल्यों आदि को अभिव्यक्त करने में सफल रहे हैं। एक तरफ स्वातंत्र्योत्तर भारतीय राजनीति का स्वरूप विघटित होता चला गया जिससे राजनैतिक विघटित आकांक्षाओं ने सामाजिक व्यवस्था को कोई भी ठोस आधार प्रदान नहीं किया, इसीलिए आधुनिक समाज तथा परिवार, शिक्षा और रोजगार के अभाव में भटकता दिखता है। निजी रूप से लोगों का नैतिक पतन होने लगा, जिससे पारिवारिक विघटन आरंभ होता है। पश्चिमी परंपरा और संस्कृति के अनुसरण ने परिवार में रिश्तों का महत्त्व और अपनत्व कम कर दिया है। इन पारिवारिक विषमताओं ने सामाजिक विषमता और कुरीतियों को जन्म दिया और राजनीति, समाज, धर्म, परिवार आदि सभी संस्थाएं अर्थ यानी धन केन्द्रित होती चली गयी हैं। प्रेम, आस्था, भरोसा, कर्तव्य, आदि ने मानो समाज में स्थान ही खो दिया है। स्वातंत्र्योत्तर हिंदी नाटक इन सारी विसंगतियों को अपनी नाट्य रचना में स्थान देते हैं।

जगदीशचंद्र माथुर का 'कोणार्क' जिसमे एक कलाकार, एक शिल्पकार के साथ सत्ता द्वारा किये गए अन्याय-अत्याचार को दिखाया गया है। इस नाटक में नाटककार ने इतिहास और मिथकीय कथा द्वारा जीवन की जटिल अनुभूतियों को प्रकट किया है, जिसमें एक कलाकार के जीवन संघर्ष और सत्ता के साथ उसकी टकराहट को दर्शाया गया है। एक कलाकार का अपने स्वाभिमान की रक्षा हेतु सत्ता का विरोध करते हुए दिखाया गया है। अपने स्वाभिमान और अपनी कला की खातिर आज भी कलाकारों को संघर्ष करते देखा जा सकता है। धर्मवीर भारती का 'अंधा युग' एक क्लासिकल नाट्य रचना है जिसमें आधुनिक मानवीय जीवन और उसकी आत्महीन और विवेकहीन जीवन दृष्टि को प्रस्तुत किया गया है जो कि उसे विनाश की ओर धकेलता है। महाभारत के युद्ध और अंत के परिणाम के माध्यम से द्वितीय विश्वयुद्ध के भयावह परिणाम को ही प्रस्तुत किया है। इसके पश्चात डॉ. लक्ष्मी नारायण लाल का नाटक 'सूर्यमुख' देखें तो यह नाटक भी महाभारत की पृष्ठभूमि को ही केन्द्रित करके लिखा गया है, किंतु इनके नाटक की विशेषता है कि इस नाटक के माध्यम से

स्वातंत्र्योत्तर आधुनिक भारतीय सामाजिक राजनैतिक समस्याओं को उजागर करने के साथ ही साथ अपने परंपरागत मूल्यों के प्रति आधुनिक समाज की अवमानना को चित्रित किया गया है। नाटक के कथानक और पात्र महाभारत और पुराण से लिए गए हैं। नाटक उत्तर महाभारत की मिथकीय कथा के माध्यम से स्वातंत्र्योत्तर भारत की सामाजिक, राजनैतिक, पारिवारिक और व्यक्तिगत विषमताओं को उजागर करता है। मिथकीय कथानक के द्वारा आधुनिक रूपों को चित्रित किया। इसके अलावा चाहे शंकर शेष द्वारा रचित नाटक 'एक और द्रोणाचार्य' हो अथवा ज्ञान अग्निहोत्री द्वारा रचित नाटक 'शुतुरमुर्ग' या सर्वेश्वर दयाल सक्सेना का नाटक 'बकरी' सभी की विसंगतियां लगभग एक समान हैं। ठीक उसी प्रकार मुद्राराक्षस का नाटक 'योर्स फेथफुली' हो या दया प्रकाश सिन्हा का 'कथा एक कंस की' हो या फिर गिरिराज किशोर का 'प्रजा ही रहने दो' अथवा मणि मधुकर का 'रस-गन्धर्व' हो या स्वदेश दीपक द्वारा रचित नाटक 'कोर्ट-मार्शल' इन सभी नाटकों में स्वातंत्र्योत्तर बदलते हुए भारतीय समाज, राजनीति, परिवार और व्यक्तिगत विषमताओं को चित्रित किया गया है। इनमें से कुछ नाटकों में परंपरागत और ऐतिहासिक पृष्ठभूमि एवं पात्रों के माध्यम से तो कुछ में आधुनिक पृष्ठभूमि के माध्यम से आधुनिक मानव जीवन की विसंगतताओं को उद्घाटित करने का सफल प्रयास किया गया है।

संदर्भ-

1. खेमानी, कुसुम; हिंदी नाटक के पांच दशक; राधकृष्ण प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली; संस्करण- दूसरा, 2015; पृ 10.
2. नवल, हरीश; हिंदी नाटक: तीन दशक; अनंग प्रकाशन, शाहदरा, दिल्ली; संस्करण, प्रथम, 2004; पृ.25
3. वही; पृ 25 .
4. खेमानी, कुसुम; हिंदी नाटक के पांच दशक; राधकृष्ण प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली; संस्करण, दूसरा, 2015; पृ 63 .
5. वही; पृ 63, 64.
6. भारती, धर्मवीर; अंधा युग; किताब महल, प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली; संस्करण, 2010; पृ 3 .
7. वही; पृ 77.
8. वही; पृ 81.
9. खेमानी, कुसुम; हिंदी नाटक के पांच दशक; राधकृष्ण प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली; संस्करण, दूसरा, 2015; पृ 71.
10. भारती, धर्मवीर; अंधा युग; किताब महल, प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली; संस्करण, 2010; पृ 40, 41.
11. खेमानी, कुसुम; हिंदी नाटक के पांच दशक; राधकृष्ण प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली; संस्करण, दूसरा, 2015; पृ 73 .
12. रस्तोगी, गिरीश; हिंदी नाटक का आत्मसंघर्ष; लोकभारती प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली; संस्करण, 2002; पृ 94 .
13. राठी, नीलम; साठोत्तर हिंदी नाटक (मिथकीय-तत्त्वों के संदर्भ में); संजय प्रकाशन, प्रगति विहार, दिल्ली; संस्करण, 2001; पृ 143.
14. वही; पृ 145 .
15. वही; पृ 146 .
16. वही; पृ 146 .
17. वही; पृ 147 .

18. वही; पृ 148 .

19. शेष, शंकर; एक और द्रोणाचार्य; परमेश्वरी प्रकाशन, प्रीत विहार, नई दिल्ली; संस्करण, 2013; पृ 5 .

20. रस्तोगी, गिरीश; हिंदी नाटक का आत्मसंघर्ष; लोकभारती प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली; संस्करण, 2002; पृ 259 .

21. शेष ,शंकर; एक और द्रोणाचार्य; परमेश्वरी प्रकाशन, प्रीत विहार, नई दिल्ली; संस्करण, 2013; पृ 17 .

22. खेमानी, कुसुम; हिंदी नाटक के पांच दशक; राधकृष्ण प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली; संस्करण, दूसरा, 2015; पृ 174 .

23. शेष, शंकर; एक और द्रोणाचार्य; परमेश्वरी प्रकाशन, प्रीत विहार, नई दिल्ली; संस्करण-2013; पृ 23 .

24. वही; पृ 75 .

25. अग्निहोत्री, ज्ञानदेव; शुतुरमुर्ग;भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, लोदी रोड, नई दिल्ली; संस्करण, 2011; पृ 29 .

26. नवल, हरीश; हिंदी नाटक: तीन दशक; अनंग प्रकाशन, शाहदरा, दिल्ली; संस्करण, प्रथम, 2004; पृ.58.

27. वही; पृ 58 .

28. खेमानी, कुसुम; हिंदी नाटक के पांच दशक; राधकृष्ण प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली; संस्करण, दूसरा, 2015; पृ 185 .

29. नवल, हरीश; हिंदी नाटक: तीन दशक; अनंग प्रकाशन, शाहदरा, दिल्ली; संस्करण, प्रथम, 2004; पृ 111.

30. वही; पृ 111 .

31. वही; पृ 112 .

32. वही; पृ 113 .

33. खेमानी, कुसुम; हिंदी नाटक के पांच दशक; राधकृष्ण प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली; संस्करण, दूसरा, 2015; पृ 185 .

34. वही; पृ 187 .

35. नवल, हरीश; हिंदी नाटक: तीन दशक; अनंग प्रकाशन, शाहदरा, दिल्ली; संस्करण, प्रथम, 2004; पृ 134.
36. खेमानी, कुसुम; हिंदी नाटक के पांच दशक; राधकृष्ण प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली; संस्करण, दूसरा, 2015; पृ 166 .
37. नवल, हरीश; हिंदी नाटक: तीन दशक; अनंग प्रकाशन, शाहदरा, दिल्ली; संस्करण, प्रथम, 2004; पृ 134.
38. खेमानी, कुसुम; हिंदी नाटक के पांच दशक; राधकृष्ण प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली; संस्करण, दूसरा, 2015; पृ 166 .
39. वही; पृ 167 .
40. रस्तोगी, गिरीश; हिंदी नाटक का आत्मसंघर्ष; लोकभारती प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली; संस्करण, 2002; पृ 224, 225 .
41. वही; पृ 225, 226 .
42. वही; पृ 229 .
43. वही; पृ 230 .
44. वही; पृ 249 .
45. वही; पृ 250 .
46. वही; पृ 250 .
47. वही; पृ 251 .
48. वही; पृ 252 .
49. वही; पृ 254 .
50. वही; पृ. 276 .
51. वही; पृ 277 .
52. वही; पृ 278 .
53. वही; पृ 280 .

तृतीय अध्याय

मोहन राकेश के नाटकों में परंपरा और आधुनिकता

आधुनिक यांत्रिक युग ने एक ऐसे समाज का निर्माण किया है, जहाँ परंपरागत जीवन मूल्यों का विघटन हो रहा है। मनुष्य अपने निर्णय को लेकर द्वंद्वात्मक स्थिति में है। अस्तित्व की तलाश में आज लोग निरंतर प्रयासरत हैं। पारंपरिक विघटन की बात करें तो मानवीय संबंधों में परिवार एक ऐसी इकाई है, जो सबसे ज्यादा प्रभावित हुई है। संयुक्त पारिवारिक मूल्य टूटते जा रहे हैं। हमारे परंपरागत मूल्यों में किसी भी रिश्ते का आधार जहाँ प्रेम और सौहार्द होता था, वह आज के युग में सिर्फ एक आवरण ओढ़े सतही मात्र रह गया है।

मोहन राकेश ऐसे ही द्वंद्वों में उलझे मनुष्यों के जीवन को मिथकीय नाट्य कथा और ऐतिहासिक चरित्रों के माध्यम से प्रस्तुत करते हैं। मोहन राकेश 60 के दशक में आधुनिक हिंदी नाटक के अग्रदूत माने जाते हैं। अपने अल्प जीवन काल में इन्होंने कुल तीन नाटकों की रचना की, 'आषाढ़ का एक दिन'(1958), 'लहरों के राजहंस'(1963), 'आधे-अधूरे'(1969) और अंतिम नाटक 'पैर तले की जमीन' है, जिसे लिखते हुए उनकी असमय मृत्यु हो गई। उनकी नोटिंग के आधार पर उनके मित्र कमलेश्वर ने बाद में इस नाटक को पूरा किया है।

3.1 आषाढ़ का एक दिन

नाट्य कथानक को देखें तो इसका संबंध संस्कृत के महाकवि कालिदास के जीवन से संबंधित है, किन्तु यह एक ऐतिहासिक नाटक नहीं है। नाटककार का उद्देश्य मात्र यहाँ कालिदास के जीवन, युग और रचना संसार की मदद से आज के समकालीन मानव, उसके द्वंद्व, साहित्य, साहित्यकार का कर्त्तव्य और राजाश्रय आदि बड़े प्रश्नों को बड़ी संवेदना तथा निष्ठा से चित्रित करना है। नाटक में

चरित्र ऐतिहासिक है, किन्तु कथा मिथकीय है। अतः इसमें ऐतिहासिक तथ्य ढूँढना व्यर्थ है। कथा का मुख्य स्रोत कालिदास का जीवन होते हुए भी कथा में घटना चक्र मुख्यतः कालिदास की प्रेयसी मल्लिका के इर्द-गिर्द घूमता रहता है। नाटक का प्रारंभ ही आषाढ़ के पहले दिन से शुरू होता है, जहाँ धारासार वर्षा होती रहती है और मल्लिका भी वर्षा जल और अन्दर से कालिदास के प्रेम में भीगी घर में प्रवेश करती है, "आषाढ़ का पहला दिन और ऐसी वर्षा माँ ! ऐसी धारासार वर्षा ! दूर-दूर तक की उपत्यकाएँ भीग गयीं और मैं भी तो ! देखो ना माँ, कैसी भीग गयी हूँ !"[1] मल्लिका की माता अम्बिका क्षुब्ध रहती है क्योंकि कालिदास का व्यक्तित्व उसे आत्मकेंद्रित लगता है। उसे लोक निंदा का भय रहता है। अम्बिका की यह चिंता एक माता की पुत्री के प्रति चिंता है। किन्तु मल्लिका तो कालिदास के प्रति पूर्ण समर्पित है। मल्लिका के मन में लोक निंदा का कोई भय नहीं होता है। कालिदास की सफलता में अपने जीवन की सफलता मानती है तभी वह अपनी माता अम्बिका से कहती है, "तुम्हारे दुःख की बात भी मैं जानती हूँ, फिर भी मुझे अपराध का अनुभव नहीं होता। मैंने भावना में एक भावना का वरन किया है। मेरे लिए वह संबंध और सभी संबंधों से बड़ा है। मैं वास्तव में अपनी भावना से प्रेम करती हूँ जो पवित्र है, कोमल है, अनश्वर है...।"[2] मल्लिका के इस कथन से उसका परंपरागत भारतीय नारी रूप उभर कर सामने आता है। उसके लिए उसका प्रेम सिर्फ रूप या मांसल आकर्षण नहीं है। मल्लिका का प्रेम निश्छल भावनाओं का है जो आंतरिक है, जिसका संबंध आत्मा से है। भावनाएँ कोमल होती हैं तभी वह अपने प्रेम को कोमल बताती है, साथ ही ऐसे प्रेम का संबंध किसी बाह्य शारीरिक रूप आकृति से नहीं होता, भावनात्मक होता है। अतः वह उसे अनश्वर भी बताती है। नाट्य कथा में आगे कुछ ही क्षणों में कालिदास एक आहत हरिणशावक को लिए हुए आता है। जिसका उपचार कालिदास और मल्लिका मिलकर करते हैं। उसी बीच दंतुल नामक एक राजपुरुष आकर उस हरिणशावक पर अपना अधिकार जताता है और कालिदास से तर्क-वितर्क करने लगता है। किन्तु कालिदास यह कहकर कि इस प्रदेश में हिरण का आखेट निषेध है किन्तु वह यहाँ का नहीं है, इसीलिए उसे अपराधी नहीं माना जाएगा। इसी बीच मल्लिका के मुख

से कालिदास का नाम सुनकर दंतुल चकित रह जाता है और कालिदास की रचना 'ऋतुसंहार' की लोकप्रियता के बारे में मल्लिका को बताता है। इसके अलावा यह भी बताता है कि उज्जयिनी के राजा उसे राजकवि के रूप में सम्मानित करना चाहते हैं, जिसके लिए उन्होंने आचार्य वररुचि को भेजा है। किन्तु कालिदास यह प्रस्ताव प्रारंभ में स्वीकार नहीं करते हैं क्योंकि वह अपनी मिट्टी से और अपनी प्रेमिका मल्लिका से दूर नहीं होना चाहते हैं। क्योंकि दोनों ही उसके रचना-संसार के लिए प्रेरणा स्रोत होते हैं। कालिदास कहते हैं, "मैं अनुभव करता हूँ कि यह ग्राम-प्रांतर मेरी वास्तविक भूमि है, मैं कई सूत्रों से इस भूमि से जुड़ा हूँ। उन सूत्रों में तुम हो, यह आकाश और ये मेघ हैं, यहाँ की हरियाली है, हरिणों के बच्चे हैं, पशुपाल हैं।"[3] किन्तु मल्लिका कई तर्कों से आग्रह करती है कि वह इस प्रस्ताव को स्वीकार कर ले। वह कालिदास से कहती है, " यह क्यों नहीं सोचते कि नयी भूमि तुम्हें यहाँ से अधिक सम्पन्न और उर्वरा मिलेगी इस भूमि से तुम जो कुछ ग्रहण कर सकते थे,कर चुके हो। तुम्हें आज नयी भूमि की आवश्यकता है, जो तुम्हारे व्यक्तित्व को अधिक पूर्ण बना दे। कोई भूमि ऐसी नहीं जिसके अंतर में कोमलता न हो। तुम्हारी प्रतिभा उस कोमलता का स्पर्श अवश्य पा लेगी।"[4] मल्लिका के इन तर्कों को सुनकर कालिदास दुखी मन से उज्जयिनी जाने के लिए तैयार हो जाता है और राजकवि का पद स्वीकार कर लेता है। नाट्य कथा के पहले अंक में कथा के साथ एक मूल्यबोध जुड़ा हुआ दिखता है, जिसकी जड़ें परंपरा से जुड़ी होती हैं। जहाँ प्रेम होता है और रिश्तों में एक गहराई होती है, समर्पण होता है। अपनी मिट्ट और प्रेम के आगे भौतिक सुख और शोहरत छोटी चीज होती है। जिनका प्रतीक कालिदास, मल्लिका और उनका प्रेम होता है।

उज्जयिनी में कालिदास न केवल राजकवि का पद ग्रहण करते हैं, बल्कि उनका विवाह गुप्तवंश की राजकुमारी प्रियंगुमंजरी से हो जाता है। इसके अतिरिक्त कालिदास चार और बड़े महाकाव्यों की रचना करते हैं, जिससे उनकी ख्याति चारों ओर और भी फैल जाती है। मल्लिका कालिदास की रचना, प्रदेश के व्यवसायियों से खरीदकर निरंतर पढ़ती रहती है और उसकी सफलता पर हर्षित होती है। किन्तु जहाँ कालिदास की रचना-कृति और उसके लेखकीय व्यक्तित्व को यश मिलता जाता है,

वहीं मल्लिका और उसकी माँ अम्बिका के हालात दिन-प्रतिदिन खराब होते चले जाते हैं। कुछ समय के पश्चात् अम्बिका का निधन हो जाता है। जीवन में निःसहाय मल्लिका अंततः टूट जाती है और अपने जीवन यापन हेतु विलोम से विवाह कर लेती है। जिसे वह बिल्कुल भी पसंद नहीं करती थी। किन्तु इसके उपरान्त भी मल्लिका कालिदास के बेहतर भविष्य की कामना मन में रखती है।

कालिदास से मातृगुप्त बनकर कालिदास कश्मीर का शासक बनता है, किन्तु उसका मन कहीं भी नहीं रमता और वह शासन व्यवस्था को त्याग सन्यासी बन जाता है। इसकी जानकारी मल्लिका को एक दिन मातुल उसके घर आकर देता है। जिससे मल्लिका बिल्कुल टूट जाती है और यही सोचती है कि आज उसकी साधना खंडित हो गई। मल्लिका कालिदास को हमेशा ही एक महान कवि के रूप में देखना चाहती थी। किन्तु उसके सन्यासी बनने की खबर पाकर उसका सपना मानों टूट जाता है। अपने विचारों में मल्लिका खोई रहती है तभी बारिश में भीगा अस्त-व्यस्त हालत में कालिदास मल्लिका के घर में प्रवेश करता है। मल्लिका कालिदास को देखकर खड़ी हो जाती है। कालिदास कहता है, "संभवतः पहचानती नहीं हो और न पहचानना ही स्वाभाविक है, क्योंकि मैं वह व्यक्ति नहीं हूँ जिसे तुम पहले पहचानती रही हो, दूसरा व्यक्ति हूँ और सच कहूँ तो वह व्यक्ति हूँ जिसे मैं स्वयं नहीं पहचानता!"[5] कालिदास के इस संवाद से आज के आधुनिक मानव के अन्दर से टूटने का आभास होता है। कालिदास जिस प्रकार अपने व्यक्तित्व की खोज में उज्जयिनी से कश्मीर और फिर कश्मीर से वापस अपने प्रांत लौटकर आता है। वैसे ही आज का मनुष्य भी अपने व्यक्तित्व निर्माण हेतु भटकता रहता है। उसे खुद नहीं पता रहता है कि उसकी आत्मीय खोज कहाँ जाकर समाप्त होगी ? कालिदास सारे भौतिक सुख, सारे राज्य वैभव प्राप्त करके भी अन्दर से खुश नहीं हो पाता है। अपने व्यक्तित्व को खोजते हुए फिर अंततः जहाँ से शुरू किया था अर्थात् मल्लिका और अपने प्रांत से फिर वहीं आकर रुक जाता है जहाँ उसके व्यक्तित्व का निर्माण हुआ था और महाकाव्य की रचना हेतु प्रेरणा मिलती थी। किन्तु उसके वापस आने के बाद समय बदल चुका होता है। इस सन्दर्भ में गोविन्द चातक लिखते हैं, "वास्तव में, घर की खोज उस आत्मीयता की खोज है जो सबसे

बड़ी विडंबना बन जाती है। कालिदास में अपने परिवेश के लिए एक ऐसी भूख दिखाई देती है जो उसे विगत अनुभवों से जोड़ती है। निर्वासित व्यक्ति का गृह-विरह (नास्टैलजिया) सर्वथा मानवीय है और अस्तित्व की मूल प्रवृत्ति है। यह आत्मा की, अंतःप्रज्ञा की नैतिक परिणिति है। मानव अपने जीवन में भोगे हुए पूर्ण क्षणों को पकड़ने की कोशिश में रहता है जिससे वह अपनी निजता, अस्मिता और अस्तित्व की पूर्णता अनुभव कर सके। कालिदास भी थका, टूटा-हारा किसी ऐसे क्षण में मल्लिका के द्वार पर पहुँचता है जब समय स्वयं रुक जाता है या उसके पाँव स्वयं रुक जाते हैं। काल के इसी ठहराव के क्षण में उसे यह अनुभव होता है जैसे कि वह पीछे रह गया, समय आगे भाग गया, वह किसी की प्रतीक्षा नहीं करता !"[6] नाट्य कथा में आगे कालिदास और मल्लिका के बीच अतीत में देखे सपने और बीते कल की बाते होती रहती हैं, उसी समय अन्दर से बच्चे के रोने की आवाज सुनाई देती है और कालिदास को उस समय का आभास हो जाता है, जो उसके समय से आगे निकल चुका होता है। कालिदास समझ जाता है कि समय किसी के लिए प्रतीक्षा नहीं करता है। कालिदास वहाँ की परिस्थितियों को समझ धीरे से निकल जाता है। इस प्रकार मोहन राकेश का यह नाटक 'आषाढ़ का एक दिन' ऐतिहासिक चरित्रों और मिथकीय पौराणिक कथा के समावेश से आज के आधुनिक मानव के आंतरिक द्वंद्व, अस्मिता की खोज और टूटने की कथा को ही प्रस्तुत करता है।

मानव परंपरा का वाहक होता है और मानव ही पीढ़ी-दर-पीढ़ी एक-दूसरे को इसे आगे बढ़ाने की जिम्मेदारी सौंपता है। आधुनिकता को परिभाषित करने के लिए हमें परंपरा का भी गहरा बोध होना आवश्यक है। आधुनिकता की जड़ें परंपरा से जुड़ी हैं। जब हम किसी रचना में आधुनिक तत्व खोजने का प्रयास करते हैं तब हमें यह देखना होगा कि हम आधुनिकता के किस रूप को जानने का प्रयत्न कर रहे हैं ? हमारा उद्देश्य आधुनिकता के बाह्य रूप से या आंतरिक रूप से है ? आधुनिकता के साथ मानव के जीवन-शैली में कौन-कौन से परिवर्तन आए ? आधुनिक जीवन के बाह्य और आंतरिक रूप से क्या तात्पर्य है ? मानव ने आधुनिकता से क्या पाया और क्या खोया है ? आज

आधुनिक काल में मानव के सामने कौन-कौन सी चुनौतियाँ हैं ? अतः इन्हीं प्रश्नों का उत्तर हम मोहन राकेश के नाटकों में ढूंढने का प्रयत्न करेंगे।

'आषाढ़ का एक दिन' नाटक का समग्र-मूल्यांकन करें तो इस नाटक का संबंध परंपरा और आधुनिकता दोनों से है। मोहन राकेश को अपनी परंपरा का गहरा बोध था। परंपरागत मूल्यों से कट द्वंद्वात्मक जीवन में उलझे आधुनिक मानव के जीवन को चित्रित करने में नाटककार को पूर्ण सफलता मिली है। इस सन्दर्भ में गिरीश रस्तोगी लिखती हैं, "अपनी नींव अपनी परंपरा ,संस्कार, दृष्टि से एकदम कटकर कुछ बाहरी प्रभावों के चकाचौंध में पड़कर बह जाना, लिख जाना राकेश को कभी मान्य ही नहीं रहा।"[7] इस नाटक को देखें तो ऐसा प्रतीत होता है मानो जैसे यह एक ऐतिहासिक नाटक हो। किन्तु सही मायने में यह एक आधुनिक नाटक है यह नाटक आधुनिक मानव के जीवन-यथार्थ को प्रस्तुत करता है। यह नाटक अतीत की कथा को दोहराता नहीं है, न ही इस नाटक में पात्रों का जमघट है। हर एक पात्र कथा के उद्देश्य के अनुरूप ही है। इस नाटक से मोहन राकेश का एक ही उद्देश्य है, आधुनिक मानव के द्वंद्व और उसके जटिल जीवन को प्रस्तुत करना। इसलिए इस नाटक में आधुनिकता और ऐतिहासिकता का समन्वय नहीं किया गया है, बल्कि यह नाटक प्रारंभ से अंत तक आधुनिकता और उसके यथार्थ को बड़ी सूक्ष्मता से स्पष्ट करता चलता है। मोहन राकेश अपने अगले नाटक 'लहरों के राजहंस' की भूमिका में इतिहास और साहित्य के संबंध को स्पष्ट करते हुए लिखते हैं, "इतिहास या ऐतिहासिक व्यक्ति का आश्रय साहित्य को इतिहास नहीं बना देता है। साहित्य का ऐसा उद्देश्य कभी नहीं रहा। इतिहास के रिक्त कोष्ठों की पूर्ति करना भी साहित्य का उपलब्धि-क्षेत्र नहीं है। साहित्य इतिहास के समय से बंधता नहीं, समय में इतिहास का विस्तार करता है, युग को युग से अलग नहीं करता, कई युगों को एक साथ जोड़ देता है।"[8]

'आषाढ़ का एक दिन' नाटक का संबंध यूं तो कालिदास के जीवन से है, लेकिन यह नाटक कालिदास के महान कवि बन जाने के बाद का नाटक नहीं है, बल्कि एक कवि के रूप में अपनी पहचान बनाते हुए संघर्षशील व्यक्ति का है, सफलता के चरम शिखर पर पहुँच जाने वाले कवि और उससे जुड़े

उसके जीवन का है। नाटक का संबंध कालिदास के जीवन से होते हुए भी मोहन राकेश ने मल्लिका के जीवन अन्तरंग को अधिक प्रभावशाली ढंग से प्रस्तुत किया है। मल्लिका एक ऐसी परंपरावादी लड़की है जिसकी भावना कोमल है, प्रेम में समर्पित है, इसके बावजूद अपने जीवन मूल्यों के प्रति बिल्कुल स्पष्ट और आधुनिक है, जो हर एक परिस्थिति में निर्णय लेना जानती है, उससे लड़ना जानती है। मल्लिका की प्रेम भावना कोमल और नश्वर है वह कहती है कि उसने भावना में एक भावना का वरन किया है। मल्लिका की एक ही आकांक्षा है वह कालिदास के व्यक्तित्व को सफलता के शीर्ष पर देखना चाहती है। जिसके लिए वह अपनी सारी खुशियों का त्याग कर देती है। मल्लिका कालिदास को एक महान कवि के रूप में देखना चाहती है। मल्लिका का यही त्याग एवं समर्पण भाव सम्पूर्ण नाटक में अपना अलग ही विशिष्ट प्रभाव छोड़ता है। जिससे एक बार ऐसा आभास होता है कि यह नाटक मल्लिका को केन्द्रित करके लिखा गया हो, क्योंकि मल्लिका के त्याग समर्पण के आगे कालिदास का व्यक्तित्व छोटा प्रतीत होने लगता है। नाटक में एक स्थान पर कहे गए मल्लिका के संवाद से उसके समर्पण भाव का बोध होता है, "इसलिए कि मैं टूटकर भी अनुभव करती रही कि तुम बने रहो। क्योंकि मैं अपने को अपने में न देखकर तुममें देखती थी।"[9] भारतीय परंपरा में स्त्रियाँ त्याग और समर्पण की मूरत मानी जाती रही हैं और प्रेम संबंध में त्याग और समर्पण की तो कई स्त्रियों की कथा लोक प्रसिद्ध है। मल्लिका भी उसी परंपरा की एक श्रेष्ठ नाट्य पात्र-चरित्र है। मल्लिका के प्रेम समर्पण की कालिदास के समर्पण के साथ तुलना करें तो कालिदास को आलोचकों ने आत्मकेंद्रित बताया है। कालिदास द्वंद्व में घिरा एक आधुनिक मानव का द्योतक है। जो मल्लिका से अगाध प्रेम करने के बाद भी उज्जियनी चला जाता है। वहाँ कई महाकाव्यों की रचना भी करता है। इसके लिए वह प्रेरणा का केंद्र मल्लिका को ही मानता है, किन्तु समय रहते वह लौटकर नहीं आता है। कश्मीर जाते हुए भी वह अपने प्रांत से गुजरता है किन्तु मल्लिका से भेट नहीं करता है। वह दो जिंदगियों के पाटों में फंसकर रह जाता है। वह निर्णय लेने में एक आधुनिक मानव के समान प्रतीत होता है जो संशय में रहता है। कालिदास लौटकर भी तब आता है जब

परिस्थितियाँ उसे बाध्य कर देती हैं। वहीं मल्लिका का व्यक्तित्व कालिदास की तुलना में अधिक स्पष्ट है, वह किसी भी परिस्थिति में निर्णय स्वयं लेती है। गोविन्द चातक इस सन्दर्भ में लिखते हैं, "यह निश्छल भाव उस कालिदास के प्रति है जो बेहद आत्मकेंद्रित 'कैरियरिस्ट' व्यक्ति है। उसे मल्लिका की याद तब आती है जब परिस्थितियाँ उसे उसके लिए बाध्य करती हैं और तब वह उस पूर्व-प्रेम की कड़ियों को फिर से जोड़ने का प्रयत्न करता है। कुमारसम्भव की पृष्ठभूमि हिमालय है और तपस्विनी उमा तुम हो मेघदूत के यक्ष की पीड़ा। मेरी पीड़ा हो और विरह-विमर्दिता यक्षणी तुम हो। 'अभिज्ञान शाकुन्तलम्' में शकुंतला के रूप में तुम्हीं मेरे सामने थीं। तो क्या कालिदास दोहरा जीवन जीता रहा ? दोहरा जीवन तो मल्लिका भी जीती है। वस्तुतः कालिदास और मल्लिका का यह प्रेम-भाव उन धारणाओं को ही रेखांकित करता है जो नीत्शे, बाल्ज़ाक, बायरन आदि व्यक्त कर चुके हैं कि प्रेम स्त्री का सम्पूर्ण अस्तित्व है और पुरुष के लिए एक आवयश्कता मात्र है। पुरुष की जिंदगी प्रसिद्धि है और स्त्री की प्रेम। पुरुष का प्रेम और उसका जीवन दो अलग वस्तुएँ हैं; स्त्री के लिए प्रेम आस्था है।"[10]

एक दृष्टि से यह नाटक कालिदास, मल्लिका और उनके प्रेम पर आधारित लगता है। परंतु इस नाटक की उपलब्धि एक प्रेम कथा और उसकी सफलता या असफलता को कहने में नहीं है। यह नाटक आधुनिक मानव के अंतर्द्वंद्व, विवशता और जटिलता को चित्रित करता है। कालिदास प्रतीक है आज के उस आधुनिक मानव और साहित्यकार का जो अपने व्यक्तित्व निर्माण के लिए सत्ता से जुड़ता है, किन्तु अपने व्यक्तित्व निर्माण के इस प्रयास में अपना अस्तित्व ही खो देता है। हालात ऐसे हो जाते हैं कि न वह व्यवस्था से जुड़ कर रह पाता है और न ही व्यवस्था को छोड़ पाता है। द्वंद्व मानो उसकी जिंदगी की नियति बन जाता है। नाटक में द्वंद्व आज के आधुनिक मानव और एक साहित्यकार का द्वंद्व है। इस सन्दर्भ में राकेश ने एक लेख लिखा था 'साहित्यकार की समस्याएँ' जिसे उन्होंने एक साहित्य संगोष्ठी में चंडीगढ़ में पढ़ा था। वे लिखते हैं, "एक साहित्यकार की मूल समस्या है साहित्यकार के रूप में अपना व्यक्तित्व बनाये रखने की। साहित्यकार की आर्थिक

स्वतंत्रता और विचारों एवं मान्यताओं की दृष्टि से उसकी स्वतंत्रता एक अहम सवाल है। अगर यह स्वतंत्रता नहीं है तो लेखक का व्यक्तित्व कुंठित होता है क्योंकि समझौता अनिवार्य रूप से उसके व्यक्तित्व को तोड़ता है।"[11]

मोहन राकेश ने इस नाटक में कालिदास के माध्यम से आज के एक आधुनिक सृजनशील साहित्यकार, उसके परिवेश और व्यवस्था में उलझे उसके जीवन को दिखाने का प्रयत्न किया है। कालिदास जिस प्रकार से राजकीय सम्मान और राज्याश्रय प्राप्त करने पर उत्पन्न परिस्थितियों से घिर जाते हैं और उससे मुक्ति हेतु व्यथित रहते हैं, उसी प्रकार आज का मानव भी अपनी अंतरात्मा को मार कर व्यवस्था का हिस्सा तो बन जाता है, परंतु कभी भी वह अपनी अंतरात्मा से स्वतंत्र महसूस नहीं कर पाता है। व्यवस्था से यहाँ अर्थ सिर्फ सत्ता से नहीं है, बल्कि किसी भी संस्था से है जिससे न चाहते हुए भी आज का मनुष्य नाम और अर्थ के लिए जुड़ तो जाता है लेकिन हमेशा ही द्वंद्व से घिरा रहता है। तब न उसे वह छोड़ पाता है न उसे निकलने का मार्ग दिखाई देता है। नाटक के तीसरे अंक में मोहन राकेश ने आधुनिक मनुष्य के इन्हीं द्वंद्वों की परिस्थितियों को कालिदास की जीवन परिस्थितियों से जोड़कर प्रस्तुत किया है। कालिदास मल्लिका से कहता है, "परंतु मैं यह भी जानता था कि मैं सुखी नहीं हो सकता। मैंने बार-बार अपने को विश्वास दिलाना चाहा कि कमी उस वातावरण में नहीं मुझमें है। मैं अपने को बदल लूँ, तो सुखी हो सकता हूँ, परंतु ऐसा नहीं हुआ। न तो मैं बदल सका, न सुखी हो सका। अधिकार मिला, सम्मान बहुत मिला, जो कुछ मैंने लिखा उसकी प्रतिलिपियाँ देशभर में पहुँच गयीं, परंतु मैं सुखी नहीं हुआ। एक राज्याधिकारी का कार्यक्षेत्र मेरे कार्यक्षेत्र से भिन्न था और जिस विशाल में मुझे रहना चाहिए था उससे दूर हट आया हूँ। जिस कल की मुझे प्रतीक्षा थी, वह कल कभी नहीं आया और मैं धीरे-धीरे खंडित होता गया और एक दिन मैंने पाया कि मैं सर्वथा टूट गया हूँ।"[12]

इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि कालिदास इस नाटक में एक खंडित पात्र है। जो प्रतीक है आज के आधुनिक मानव का, जिसका व्यक्तित्व भी खंडित है। कालिदास नाटक में ऐसे द्वंद्वों से

घिरा इंसान है जो किसी बड़े अवसर पर निर्णय लेने में कमजोर है। मोहन राकेश ने इस नाटक में कालिदास को सृजनात्मक शक्तियों का प्रतीक बताया है। किन्तु नाटक में कालिदास के व्यक्तित्व का सृजनात्मक स्वरूप कम और एक आधुनिक, खंडित, द्वंद्वों से घिरा हुआ दुर्बल इच्छा शक्ति का मानव अधिक सिद्ध होता है। अतः मोहन राकेश का उद्देश्य ऐतिहासिक महाकवि कालिदास का चित्रण करना नहीं था। अतः नाटक में कालिदास के चरित्र की सार्थकता आज के सन्दर्भ में अधिक है। नाटक में मूलतः समस्या विच्छिन्नता और अलगाव की है। कालिदास चाहे-अनचाहे अपने जड़ मूल से उखड़कर जिस संबंधहीनता, अकेलेपन तथा संत्रास के वातावरण में चला जाता है वह आधुनिक मानव की भी नियति बन चुकी है। राकेश ने सृजनात्मक शक्तियों का प्रतीक कालिदास को माना है। किन्तु इसके साथ वह आज के आधुनिक जीवन में समाहित उस चेतना का अंग भी है जहाँ गृह-विरह है। आज अपने परिवेश से कटकर आरोपित या अर्जित जीवन की पृष्ठभूमि में मनुष्य के आंतरिक और उसकी नियति को यह नाटक बड़ी बेबाकी और विडंबनापूर्ण ढंग से दर्शाता है। कालिदास अपनी जड़ अर्थात् भूमि से उखड़कर बिखर जाता है। उसकी अंतरात्मा खंडित हो जाती है, वहीं मल्लिका अपने त्याग, समर्पण के बाद भी खंडित नहीं दिखती है, स्थिर प्रतीत होती है। जीवन के प्रति उसकी दृष्टि आशावादी होती है। तभी कालिदास से मल्लिका का चरित्र अधिक सफल और सार्थक दिखता है।

'आषाढ़ का एक दिन' नाटक एक चरित्र प्रधान नाटक है। कथा से अधिक चरित्र उभरकर पाठक या दर्शकों के सामने आते हैं। मोहन राकेश ने इस नाटक में चरित्रों की सृष्टि बहुत ही स्वाभाविक रूप में की है। नाटक का एक छोटा पात्र भी आधुनिक परिवेश से उत्पन्न एक प्रतीकात्मक चरित्र लगता है। मोहन राकेश अपने नाट्य परंपरा के प्रति बिल्कुल एक सजग नाटककार थे। राकेश ने अपने प्रथम दोनों नाटकों में परंपरा और प्रयोग को स्थान दिया है। तभी उन्होंने इस नाटक में लोकजन में प्रचलित कालिदास जैसे ऐतिहासिक पौराणिक चरित्र की सृष्टि एक मिथक कथा से जोड़कर की है। इसके साथ के अन्य पात्रों जैसे- मल्लिका, विलोम, अम्बिका, मातुल, प्रियंगु, दंतुल आदि

मिथकीय चरित्रों की कल्पना कर कालिदास की जिंदगी से ऐसे जोड़कर प्रस्तुत करते हैं कि सभी पात्र वास्तविक एवं जीवंत चरित्र प्रतीत होने लगते हैं। जो आधुनिक मानवों की विड़म्बनापूर्ण जिंदगी को ही चित्रित करते हैं।

कालिदास-

नाटक का मुख्य पात्र कालिदास है इसलिए सर्वप्रथम कालिदास के चरित्र पर दृष्टि डालें तो नाटक के प्रथम अंक में कालिदास एक संवेदनशील, भावुक और उदार व्यक्तित्व का है, इसके अतिरिक्त सहृदय कवि जिसमें एक आत्माभिमान दिखता है, "हम जिएँगे हरिणशावक ! जिएँगे न ? एक बाण से आहत होकर हम प्राण नहीं देंगे। हमारा शरीर कोमल है, तो क्या हुआ ? हम पीड़ा सह सकते हैं। एक बाण प्राण ले सकता है, तो उंगलियों का कोमल स्पर्श प्राण दे भी सकता है। हमें नए प्राण मिल जाएँगे। हम कोमल आस्तरण पर विश्राम करेंगे। हमारे अंगो पर घृत का लेप होगा। कल हम फिर वनस्थली में घूमेंगे। कोमल दूर्वा खाएँगे। खाएँगे न ?"[13] किन्तु कालिदास प्रथम अंक के अंत तक द्वंद्व में घिरा हुआ दिखता है। जिसके बाद कालिदास का आत्मसंघर्ष ही दिखता है। उसका कोई भी सबल पक्ष उभरकर सामने नहीं आता है। राजकीय सम्मान और राजकवि का पद प्रस्ताव पाकर न चाहते हुए भी वह उस प्रस्ताव को स्वीकार कर लेता है। अतिरिक्त इसके कि मल्लिका के आगे अपने भीगे नयनों से विदा लेता है। एक कवि एक रचनाकार होने के नाते उसका विरोधी संघर्ष वहाँ दिख सकता था, जबकि कालिदास मल्लिका से कुछेक एक तर्क के बाद यह कहकर, "इसका अर्थ है तुमसे विदा लूँ।"[14] वहाँ से कालिदास चला जाता है। नाटककार ने भी दृश्य निर्देश में लिखा है, "कालिदास पल-भर आँखे मूंदे रहता है। फिर झटके से चला जाता है।"[15] कालिदास की यह द्वंद्वात्मक प्रतिक्रिया ही उसके चरित्र को नाटक में मल्लिका के त्याग और समर्पण के आगे छोटा बना देती है और मल्लिका का चरित्र महान दिखने लगता है। कश्मीर का शासन संभालने कालिदास जब जा रहा होता है तब वह अपने प्रांत के पास से गुजरता है, किन्तु वह अपने प्रांत नहीं जाता है, न मल्लिका से मिलता है। कालिदास को यह भय रहता है कि अगर वह वहाँ गया तो उसका प्रांत,

वहाँ की पर्वतमाला, वहाँ की उपत्यकाएँ कहीं उससे मूक प्रश्न न कर बैठें। मल्लिका से मिलने पर उसकी आँखें उसे बैचैन न कर दें। जो प्रांत और प्रेमिका उसकी काव्य रचना की प्रेरणा थीं, उनके बारे में एक बार भी कालिदास नहीं सोचता है। वह नहीं सोचता है कि मल्लिका इस बात को जानकार कितनी दुखी होगी। इस प्रकार कालिदास का चला जाना उसके कमजोर व्यक्तित्व को दर्शाता है। कालिदास अंततः जब नाटक में थका हारा मल्लिका के घर आता है तब वह अपने आप को और अपने द्वंद्व को स्पष्ट करने का निरंतर प्रयत्न करता रहता है। किन्तु समय का जब उसे आभास होता है कि जिस अंत से आरम्भ करने की वह बात कर रहा है, वह समय अब बीत चुका है, तब वह बिना कुछ बोले चला जाता है। कालिदास की इस प्रतिक्रिया से हर बार ऐसा प्रतीत होता है जैसे मानो उसमें समस्याओं से संघर्ष करने की शक्ति ही न हो। उसका दुर्बल पक्ष यहाँ भी उभरकर सामने आता है। नाटक में कहीं भी उसका सृजनात्मक व्यक्तित्व देखने को नहीं मिलता। वह एक आधुनिक मानव की तरह द्वंद्वों से घिरा एक साधारण मानव लगता है। इसके अतिरिक्त कहीं-कहीं उसके संवादों से उसमें एक महाकवि की झलक मिलती है और इस प्रकार कालिदास में एक दुर्बल इच्छा शक्ति का इंसान ही दिखता है। इस सन्दर्भ में विलोम का पात्र-चरित्र कालिदास से अधिक विश्वसनीय और सुलझा हुआ, स्वाभाविक और प्रभावशाली लगता है। नेमिचंद्र जैन इस सन्दर्भ में लिखते हैं, "अंततः नाटक में उद्घाटित उसका व्यक्तित्व न तो किसी मूल्यवान और सार्थक स्तर पर स्थापित ही हो पाता है और न इतिहास प्रसिद्ध कवि कालिदास को और न इस प्रकार उस माध्यम से समस्त भारतीय सृजनात्मक प्रतिभा को कोई गहरा विश्वसनीय आयाम दे पाता है। यह जरूरी नहीं है कि महान लेखक में महान गुण भी होंगे। दुर्बलताएँ उसमें भी हो सकती हैं, लेकिन उन दुर्बल पक्षों में दबकर उसका असाधारण प्रतिभा सम्पन्न व्यक्तित्व खो नहीं जाना चाहिए।"[16]

आज भी आधुनिक युग में कई साहित्यकार अपने व्यक्तित्व और रचना को एक सफल और बेहतर मंच देने के लिए व्यवस्था से जुड़ते हैं जैसे नाटक में कालिदास जुड़ता है। किन्तु आगे चलकर उनका सृजनात्मक व्यक्तित्व स्वतंत्र नहीं रह पाता है। प्रो. रमेश गौतम ने लिखा है, "कालिदास के माध्यम

से सरकारी सम्मान प्राप्त होने पर सुविधाभोगी कलाकार या साहित्यकार की स्वातंत्र्य-चेतना के कुंठित होने को नाटककार ने आधुनिक संदर्भों में आँका है। वह आधुनिक साहित्यकार की नियति का प्रतीक बन गया है।"[17] अतः यह कहना गलत नहीं होगा कि एक रचनाकर के जीवन में उसकी स्वतंत्रता ही सबसे महत्त्वपूर्ण तत्व है। किन्तु जिस प्रकार सुविधा प्राप्त होने पर आज का रचनाकार अपना लेखकीय कर्म भूलकर सुविधाभोगी हो जाता है। उसी प्रकार कालिदास भी राजसत्ता प्राप्त होने पर मल्लिका के प्रेम और त्याग को भूल जाता है। मल्लिका और उसका ग्राम उसकी रचना में सिर्फ एक प्रेरणा स्वरूप रह जाते हैं। असल जिंदगी में कालिदास आत्मकेंद्रित एक ऐसा व्यक्ति, एक ऐसा साहित्यकार है जो अपनी जिंदगी में ही उलझा, एक आधुनिक मानव का प्रतीकात्मक पात्र-चरित्र है। आज के आधुनिक मानव और कालिदास की नियति एक सी है। आज अपने घर में ही लोग कालिदास के समान अनजान महसूस करते हैं। अपनी जड़ से कटकर अपने जीवन मूल्यों को मारकर, अपने असल व्यक्तित्व के ऊपर एक आरोपित व्यक्तित्व को इंसान अधिक दिन नहीं ढो सकता है। सम्पूर्ण नाटक में कालिदास भी अपने व्यक्तित्व के ऊपर एक आवरण-सा ढोता रहता है, जिसका नतीजा यह होता है कि वह अपनी अस्मिता को ही ढूँढता फिरता है और अंततः घर लौट कर आता भी है तो वह अपना घर, यहाँ तक कि खुद को भी बदला महसूस करता है, "और सच कहूँ तो वह व्यक्ति हूँ जिसे मैं स्वयं नहीं पहचानता ! देख रहा हूँ तुम भी वह नहीं हो। सब कुछ बदल गया है।"[18]

अतः कालिदास के पात्र-चरित्र के सन्दर्भ में निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि द्वंद्व, अकेलेपन, तनाव, संत्रास, संबंधहीनता और अपनी शून्यता में भटकता, अपने जड़ परिवेश से उखड़ा एक आधुनिक मानव का प्रतीकात्मक चरित्र है।

मल्लिका-

मल्लिका के पात्र-चरित्र का मूल्यांकन करें तो पूरे नाटक में मल्लिका का चरित्र निर्विवाद दिखता है। इस नाटक में मल्लिका एक ऐसी स्त्री पात्र है, जिसमें भारतीय परम्परगत जीवन मूल्यों के प्रति आस्था दिखती है। वह अपने प्रेम में समर्पित एक ऐसी भारतीय नारी है, जिसका जीवन त्याग और समर्पण पर आधारित है। उसके जीवन का एक ही उद्देश्य है, अपने प्रेमी कालिदास को एक महाकवि बनते देखना। जिसके लिए अपनी जिंदगी की सारी खुशियों की तिलांजलि दे देती है। वह कहती है, "मेरी आँखें इसलिए गीली हैं कि तुम मेरी बात नहीं समझ रहे और मैं भी तुमसे दूर नहीं होऊंगी। जब भी तुम्हारे निकट होना चाहूँगी, पर्वत-शिखर पर चली जाऊँगी और उड़कर आते मेघों में घिर जाया करुँगी। हाँ ! देखना मैं तुम्हारे पीछे प्रसन्न रहूँगी और हर संध्या को जगदम्बा के मंदिर में सूर्यास्त देखने जाया करुँगी।"[19] इस प्रकार मल्लिका अपनी सारी खुशियों को त्याग करके भी खुश रहने की बात करती है, साथ ही कालिदास से उसके जाने के पश्चात् पीछे खुश रहने के अन्य उपादानों के बारे में भी बताती है। मल्लिका का जीवन नाटक के हर एक स्थल पर आशावादी दिखता है। जिससे उसके चरित्र में न केवल एक परम्परागत भारतीय स्त्री के जीवन-त्याग और समर्पण का रूप दिखता है, बल्कि साथ ही आधुनिक स्त्री की छवि भी स्पष्ट दिखती है। जीवन में तमाम संघर्षों और कष्टों के बाद भी वह कालिदास की तरह निर्णय लेने में संशय या द्वंद्व में नहीं दिखती है। सर्वप्रथम मल्लिका के व्यक्तित्व में वाक् स्पष्टता नाटक के प्रथम अंक के अंतिम स्थल पर दिख जाती है, जहाँ वह कालिदास को राजकवि पद को स्वीकार करने के लिए कहती है, "मैं जानती हूँ कि तुम्हारे चले जाने से मेरे अन्तर को एक रिक्तता छा लेगी। बाहर भी संभवतः बहुत सूना प्रतीत होगा। फिर भी मैं अपने साथ छल नहीं कर रही। मैं हृदय से कहती हूँ तुम्हें जाना चाहिए।"[20] अतः एक ओर मल्लिका में परम्परगत भारतीय नारी की छवि दिखती है तो दूसरी ओर एक आधुनिक नारी की छवि भी उसमें नाटक के दूसरे अंक के उस स्थल पर दिखती है जब मल्लिका को निक्षेप नामक एक ग्राम पुरुष से यह ज्ञात होता है कि कालिदास का विवाह गुप्तवंश की राज-दुहिता प्रियंगुमंजरी से हो गया है। तब

वह कहती है, "तो इसमें बुरा क्या है ? उनके प्रसंग में मेरी बात कहीं नहीं आती । मैं अनेकानेक साधारण व्यक्तियों में से हूँ । वे असाधारण हैं । उन्हें जीवन में असाधारण का ही साथ चाहिए था। सुना है राज-दुहिता बहुत विदुषी हैं।"[21] मल्लिका के इन तर्कों से मल्लिका के अन्दर एक आधुनिक स्त्री की छवि भी दिखती है । आज की नारी जिस प्रकार अपने जीवन को आधुनिक दृष्टि से देखती है, उसी प्रकार नाटक के इस अंश में मल्लिका भी देखती है । आज की आधुनिक स्त्रियाँ अपने रिश्तों को अपने व्यक्तित्व पर हावी नहीं होने देती हैं । रिश्ते और अपने व्यक्तित्व दोनों को ही दो दृष्टियों से देखती हैं । रिश्तों के असफल होने पर उस रिश्ते को तोड़ देती हैं और जीवन में नई संभावनाओं को तलाशती हैं । उसी प्रकार कालिदास के जाने पर वर्षों बाद भी कालिदास के घर वापसी न होने पर मल्लिका अपने अतीत को अपने जीवन का सत्य मानकर, अपने जीवन में आगे बढ़ जाती है और विलोम से विवाह कर लेती है । इसके बावजूद कि वह विलोम को पसंद भी नहीं करती है। नाटक में मल्लिका अपने अस्तित्व को स्वतंत्र रखती है, उसकी अपनी जिंदगी अपनी संपत्ति है । इसलिए हर निर्णय में वह असाधारण है और इसीलिए नाटक में मल्लिका का पात्र-चरित्र कालिदास से अधिक प्रभावशाली दिखता है । वह कहीं भी किसी को आलोचना का अधिकार नहीं देती है । वह कालिदास के लिए विलोम और अपनी माँ से नाटक में जगह-जगह पर तर्क करती है, अपनी भावनाओं को हारने नहीं देती है । किन्तु समय के मोड़ को देखते हुए आँखे भी बंद नहीं कर लेती है, तभी वह विलोम जैसे खल पात्र से विवाह कर लेती है । मल्लिका अपने टूटते हुए जीवन को आधार देने के लिए विवाह करती है, किन्तु नाटक के अंत तक उसकी भावनाएँ ही प्रधान रह जाती हैं । गिरीश रस्तोगी इस सन्दर्भ में लिखती हैं, "लेकिन अंत में उसका समर्पित व्यक्तित्व ही प्रधान हो जाता है । अपने वर्तमान से गहरा असंतोष होते हुए भी वह उसमें जीती है । एक ओर उसे लगता है 'परंतु तुमने वीरांगना का यह रूप भी देखा है ? आज तुम मुझे पहचान सकते हो ? मैंने अपने भाव को, कोष्ठ को रिक्त नहीं होने दिया, परंतु मेरे अभाव की पीड़ा का अनुमान लगा सकते हो ?' वितृष्णा भी, आत्मग्लानि भी, आत्माभिमान भी, टूटन भी और सारी पीड़ा और असंतोष के पीछे छिपा एक

संतोष भी, तुम रचना करते रहे और मैं समझती रही कि मैं सार्थक हूँ। मेरे जीवन की भी उपलब्धि है।"[22] निष्कर्षतः मल्लिका के पात्र-चरित्र के संबंध में यह कहा जा सकता है कि उसमे भावनाओं का वरन करने वाली एक परंपरागत भारतीय स्त्री-पात्र के गुण भी हैं तो दूसरी ओर अपने भावों और उलझनों में अपने निर्णयों को लेकर स्पष्ट है। मल्लिका के चरित्र को देखकर ऐसा प्रतीत होता जैसे यह मोहन राकेश की काल्पनिक पात्र मात्र न हो, बल्कि उनकी आकांक्षा हो, एक ऐसी आकांक्षा जिसमें एक ऐसी स्त्री चरित्र हो जो एक रचनाकार के लिए प्रेरणा स्रोत हो, रचनाशक्ति हो, रचना विस्तारक हो, कभी भी वह बाधक न हो।

विलोम-

मोहन राकेश के इस नाटक में विलोम एक महत्त्वपूर्ण पात्र है। इस नाटक में किसी की दृष्टि अधिक व्यावहारिक लगती है तो वह है विलोम की। विलोम संयमित एवं भावनाओं में नहीं बहता तथा व्यावहारिकता में वह एक चतुर पात्र है। विलोम भी आज के आधुनिक मानव का ही एक प्रतीक है जो हर एक अवसर पर अपने हाव-भाव और अपनी वाक् कला से लोगों के बीच अपना प्रभाव स्थापित करने का प्रयत्न करता है,

"विलोम : घिरे हुए मेघों ने आज अंधकार कर दिया है अम्बिका, या तुम्हें समय का ज्ञान ही नहीं रहा? आश्चर्य है, तुमने दीपक नहीं जलाया !

अम्बिका : विलोम! तुम यहाँ क्यों आए हो ?

विलोम : विलोम का आना ऐसे आश्चर्य का विषय नहीं है।

अम्बिका : चले जाओ विलोम ! तुम जानते हो कि तुम्हारा यहाँ आना..

विलोम : मल्लिका को सहन नहीं है। जानता हूँ, अम्बिका ! मल्लिका बहुत भोली है। वह लोक जीवन के संबंध में कुछ नहीं जानती। वह नहीं चाहती कि मैं इस घर में आऊँ, क्योंकि कालिदास

नहीं चाहता। और कालिदास क्यों नहीं चाहता ? क्योंकि मेरी आँखों में उसे अपने हृदय का सत्य झाँकता दिखायी देता है। उसे उलझन होती है।... किन्तु तुम तो जानती हो अम्बिका, मेरा एकमात्र दोष यह है कि मैं जो अनुभव करता हूँ, स्पष्ट कह देता हूँ।"[23] इस प्रकार विलोम के चरित्र में हमें आज का वह मनुष्य दिखता है, जो दूसरों की जिंदगी में प्रवेश कर अपनी मौजूदगी सही साबित करने का पूर्ण प्रयत्न करता है। नाटक में कई स्थलों पर वह कालिदास से टकराता है। कालिदास द्वंद्वों से घिरा अन्तर्मुखी है। जबकि विलोम समय की नब्ज़ को पहचानता है, वह हर एक परिस्थिति में अपने अस्तित्व को बनाए रखने में सक्षम है। साथ ही अपने आप को हर एक मौके पर सही साबित करने का प्रयत्न करता है। नाटक में जब भी कालिदास, मल्लिका या अम्बिका भावनाओं और द्वंद्वों की चरम सीमा पर होते हैं, तब-तब विलोम आकर उन्हें और भी परेशान कर देता है और अपने व्यक्तित्व का एहसास करवाता है। आज भी कई लोगों की यही दृष्टि है। दूसरों को परेशान देखकर उन्हें और भी उलझाते हैं, "विलोम: देख रहा हूँ इस समय तुम बहुत दुखी हो। और तुम दुखी कब नहीं रहीं, अम्बिका ? तुम्हारा तो जीवन ही पीड़ा का इतिहास है। पहले से कहीं दुबली हो गयी हो ? सुना है कालिदास उज्जयिनी जा रहा है। कालिदास उज्जयिनी चला जाएगा ! और मल्लिका, जिसका नाम उसके कारण सारे प्रांत में अपवाद का विषय बना है, पीछे यहाँ पड़ी रहेगी ? क्यों, अम्बिका ?

अम्बिका: तुम यह सब कहकर मेरा दुःख कम नहीं कर रहे, विलोम ! मैं अनुरोध करता हूँ कि तुम इस समय मुझे अकेला रहने दो।"[24] इस प्रकार विलोम भी आज के उन लोगों का द्योतक है जो दूसरों को सताने के लिए उनकी जिंदगी में बिन बुलाए ही आ जाते हैं। विलोम अपने व्यक्तित्व को यूं तो नाटक में हर एक जगह सही साबित करने का प्रयत्न करता है, किन्तु अन्दर से वह भी कम टूटा हुआ और दुखी नहीं है। लेकिन उसका वज़ूद ऐसा है जो हर बार अपने पराजय को जीत में बदल देता है। इस सन्दर्भ में गिरीश रस्तोगी लिखती हैं, "नाटक के प्रथम अंक में ही राकेश ने विलोम से कहलवाया है, विलोम क्या है ? एक असफल कालिदास। और कालिदास ? एक सफल विलोम। हम एक-दूसरे के बहुत निकट पड़ते हैं। नतीजा यह है कि बहुतों को विलोम सामान्य खलनायक

जैसा लगता है, जबकि न कालिदास आम नायक है न विलोम । इस रूप में देखने में विलोम कालिदास के व्यक्तित्व का ही एक अंश है- देखने की बात है कि जो कालिदास पाना चाहता है वह विलोम को मिलता है और जो विलोम प्राप्त नहीं कर पाया वह कालिदास प्राप्त करता है इसलिए विलोम जैसे पात्र की गठन की सार्थकता कालिदास के द्वंद्व और व्यक्तित्व को अभिव्यक्त करने में है न कि खलनायक बनाने में ।"[25]

नाटककार की सूक्ष्म दृष्टि और सांकेतिकता ही इस नाटक को हिंदी के सर्वश्रेष्ठ नाटकों की श्रेणी में पंक्तिबद्ध करती है । अतः विलोम का चरित्र इस नाटक में अधिक सशक्त और प्रभावशाली और सफल दिखता है । विलोम और कालिदास दोनों ही मानवीय दुर्बलताएँ हैं । इस दृष्टि से तमाम मानवीय दुर्बलताओं के साथ कालिदास को एक नायक के रूप में यदि मोहन राकेश ने चित्रित किया है तो यकीनन परंपरागत नायक की छवि को तोड़ा है और आगे नए लेखकों के सामने नायक के प्रति एक नई दृष्टि दी है। विलोम जैसे चरित्र की सरंचना करके आधुनिक व्यावहारिक मनुष्य को प्रतीक रूप में ही चित्रित किया है।

अम्बिका-

नाटक में मुख्य पात्र के अतिरिक्त कई ऐसे सहायक पात्र होते हैं जो नाटक की कथा के विकास में सहायक होते हैं। अम्बिका भी इस नाटक में ऐसी ही पात्र है। इस नाटक में सहायक पात्रों की यह विशेषता है कि वह न सिर्फ कथा को आगे बढ़ाने में सफल हैं, बल्कि इस नाट्य-कथा में अपनी विशेष भूमिका निभाते हैं। इस नाटक के सभी पात्र आज के आधुनिक युग में किसी न किसी मानवीय चरित्र के प्रतीकात्मक पात्र को चरितार्थ करते हैं। अम्बिका मल्लिका की माँ है जो अपने जीवन में व्यावहारिक है। नाटक में मोहन राकेश ने अम्बिका के माध्यम से ही आज की भौतिकवादी दुनिया में व्यावहारिक यथार्थवादी जीवन दृष्टि को प्रस्तुत किया है। नाटक में अम्बिका और मल्लिका के

इस संवाद से अम्बिका के चरित्र को समझा जा सकता है, "अम्बिका : और मुझे ऐसी भावना से वितृष्णा होती है। पवित्र, कोमल, और अनश्वर हूँ !

मल्लिका : माँ, तुम मुझ पर विश्वास क्यों नहीं करतीं ?

अम्बिका : तुम जिसे भावना कहती हो वह केवल छलना और आत्म-प्रवंचना है। भावना में भावना का वरन किया है ! मैं पूछती हूँ भावना में भावना का वरन क्या होता है ? उससे जीवन की आवश्यकताएँ किस तरह पूरी होती हैं ? भावना में भावना का वरन हूँ !"[26] अम्बिका का यह जीवन और भावना के प्रति दृष्टिकोण आज के उन आधुनिक यांत्रिक मनुष्यों के समीप लेकर आता है जो हृदय से नहीं सिर्फ दिमाग से व्यावहारिक बातें सोचते हैं या उनमें भरोसा रखते हैं। अम्बिका जीवन में भावनाओं को बहुत अधिक स्थान नहीं देती है। वह मानती है कि जीवन की भौतिक जरूरतें भावनाओं से पूरी नहीं की जा सकती हैं। किन्तु मल्लिका की इन भावनाओं के प्रति अम्बिका वात्सल्य सहानुभूति भी रखती है। जब भी मल्लिका को दुखी, निराश देखती है तो उसे अपने प्रेम और मातृत्व से दुलारती भी है। अम्बिका के मातृत्व की झलक नाटक में कई स्थानों पर दिख जाती है। मल्लिका, अम्बिका और विलोम के बीच जब दूसरे अंक के अंतिम स्थल पर कालिदास के आने न आने पर तर्क-वितर्क होता रहता है और विलोम काफी कटु बातें कहकर चला जाता है तब मल्लिका टूट जाती है और रोने लगती है और अम्बिका उसे अपने मातृत्व स्नेह से संभालती है। नाटककार ने दृश्य निर्देशन में लिखा है, "मल्लिका रुक जाती है। पर कुछ भी उत्तर न देकर मुँह हाथों से छिपा लेती है। अम्बिका उठकर धीरे-धीरे उसके पास आ जाती है और उसे बाँहों में ले लेती है। सारा शरीर रुलाई से काँपता रहता है, पर गले से स्वर नहीं निकलता। अम्बिका की आँखें भर आती हैं और वह उसके कांपते शरीर को अपने से सटाए उसकी पीठ पर हाथ फेरती रहती है। फिर होठों और गालों से उसके सर को दुलारने लगती है।"[27] इस प्रकार अम्बिका जितनी अपने जीवन में कठोर और व्यावहारिक दिखती है उतनी ही उसके अन्दर मातृत्व भाव भी है। वह आधुनिक स्त्री की भांति जीवन के कटु सत्य को जानती है कि जीवन की मूलभूत आवयश्कता भावनाओं से पूरी नहीं की जा

सकती है। इसीलिए वह कई बार मल्लिका के भावनात्मक जीवन मूल्य को नकारती है। किन्तु दूसरी ओर अपनी पुत्री मल्लिका के दुःख में हर पल साथ देती है, उसे अपना प्रेम देती है, उसे संभालने की कोशिश करती है। अतः इस नाटक में अम्बिका का पात्र भी नाट्य कथा के बिल्कुल अनुरूप गठित है। सिर्फ कथा को आगे बढ़ाने मात्र के लिए नहीं है बल्कि एक पूरक के समान नाटक में है। अतःअम्बिका के पात्र का इस नाटक में अपना ही प्रभाव और महत्त्व है।

मातुल-

'आषाढ़ का एक दिन' में आधुनिकता और भी कई चरित्रों में दिखती है। मातुल भी एक ऐसा ही पात्र है जो आज के आधुनिक मनुष्य की अवसरवादी प्रवृत्ति का प्रतिनिधित्व करता है। सत्ताधारियों की चाटुकारिता उसके चरित्र की विशेषता है और अवसर मिलने पर अपना रंग बदल लेना उसके चरित्र की ख़ास विशेषता है। जीवन में भौतिक सुख ही उसके जीवन का मूल तत्व है, तभी उसके लिए रिश्तों से बढ़कर कालिदास का राजपद अधिक महत्त्व रखता है। सर्वप्रथम कालिदास के राजपद नहीं स्वीकार करने पर वह क्रोधित हो जाता है और अम्बिका और मल्लिका से जाकर कहता है,

"मातुल : मैंने इसे पाला-पोसा, बड़ा किया। क्या इसी दिन के लिए कि यह इस तरह कुलद्रोही बने?

अम्बिका : तुम अपने भागिनेय की बात कर रहे थे।

मातुल : उसी की बात कर रहा हूँ, अम्बिका ! तुम समझो कि एक तरह से राज्य की ओर से हमारे वंश का सम्मान किया जा रहा है और वे वंशावतंस कहते हैं, 'मुझे ये सम्मान नहीं चाहिए"[28] इस प्रकार मातुल का अपने भागिनेय कालिदास की भावनाओं से कोई वास्ता नहीं है, वास्ता है तो उसे मिलने वाले राजपद से, जिससे उसके कुल का नाम हो और उसे अप्रत्यक्ष रूप से भौतिक लाभ हो। मातुल कवि और कविता को महत्त्व नहीं देता है। उसके लिए कवि-कर्म से महत्त्वपूर्ण, राजपद है, भौतिक लाभ है, "मेरी समझ में नहीं आता कि इसमें क्रय-विक्रय की क्या बात है। सम्मान मिलता है, ग्रहण करो। नहीं, तो कविता का मूल्य ही क्या है ?"[29] कालिदास के इस भावनात्मक काव्य

जीवन से मातुल को वितृष्णा है। उसे सिर्फ नजर आता है तो गुप्तवंश के साथ उसका संबंध। आज का मनुष्य भी अपने रिश्तों को सिर्फ लाभ और हानि के तराजू में तौल कर देखता है। जो रिश्तों में एक अपनापन हमारे परंपरागत जीवन में देखा जाता रहा है वह संभवतः लुप्त होता जा रहा है। आज अर्थ के आधार पर रिश्ते तय होते हैं। मातुल आज उसी संकीर्ण जीवन दृष्टि का प्रतिनिधित्व करता हुआ नाट्य पात्र है। बाह्य जीवन और अवसरवादी जीवन दृष्टि आज के मानव का सत्य बन चुका है। लेकिन अंततः मातुल भी अपने इस दिखावे और खोखले जीवन से ऊब जाता है, जिसकी झलक हमें नाटक के आखिरी अंक में दिखती है। इस सन्दर्भ में गिरीश रस्तोगी का मत है, "राकेश इस भौतिक दृष्टि के बहुत समर्थक नहीं हैं। अंतिम अंक में मातुल के संवादों में कृत्रिम जीवन से वितृष्णा और ऊपरी चमक से भरे जीवन का खोखलापन ही दिखाया गया है- आंतरिकता और आत्मीयता का, अपनी मिट्टी की सोंधी गंध का अभाव ही जैसे उसे तोड़ देता है। मातुल के यहाँ के संवादों में सभ्यता, शिष्टता में छिपी बनावट को ही खोला गया है। भौतिक और अवसरवादी दृष्टि जो कुछ समझ पाती है वह सदा झूठ होता है। यानी सत्य सदा उसके विपरीत होता है। अवसरवादिता और बाह्य जीवन का आकर्षण आज के मनुष्य की मनोवृत्ति है।"[30]

अतः यह कहा जा सकता है कि मातुल आज के आधुनिक मानव के उस मनोवृत्ति का प्रतिनिधि पात्र है जो आज अवसरवादिता और भौतिक सुखों को ही जीवन का सर्वोपरि सत्य मानता है। जिसके लिए वह जीवनभर अपने ऊपर अलग-अलग व्यक्तित्व को धारण करता रहता है। किन्तु अंततः इन बाह्य जीवन से ऊब कर अपने वास्तविक जीवन को जीना चाहता है।

दंतुल, प्रियंगुमंजरी, अनुस्वार, अनुनासिक, रंगिणी और संगिणी-

नाटक के अन्य पात्रों में दंतुल है जो सत्ताधारियों का प्रतिनिधित्व करता है, जिसकी भाषा में संयमता नहीं है। कठोर हृदय, हिंसक और अहंकार से भरा हुआ। ऐसे पात्र तब भी सत्ता में दिख जाते थे और आज भी होते हैं। जो सत्ता के मद में अहंकारी होते हैं और आमजन को सत्ता का भय दिखाकर उनसे

उनकी वस्तु भी छीन लेना चाहते हैं। नाटक के प्रारंभ में ही दंतुल और कालिदास की हरिणशावक को लेकर झड़प होती है, जिसमे दंतुल के व्यक्तित्व की झलक हमें दिख जाती है, "दंतुल: तो क्या मेरे ललाट की रेखाओं को देखकर ? जान पड़ता है चोरी के अितरिक्त सामुद्रिक का भी अभ्यास करते हो।

कालिदास : इस प्रदेश में हरिणों का आखेट नहीं होता राजपुरुष ! तुम बाहर से आए हो, इसीलिए इतना ही पर्याप्त है कि हम इसके लिए तुम्हें अपराधी न मानें।

दंतुल : तो राजपुरुष के अपराध का निर्णय ग्रामवासी करेंगे! ग्रामीण युवक, अपराध और न्याय का शब्दार्थ भी जानते हो !

कालिदास: शब्द और अर्थ राजपुरुषों की संपत्ति है, जानकार आश्चर्य हुआ।

दंतुल : राजपुरुषों के अधिकार बहुत दूर तक जाते हैं। मुझे देर हो रही है। यह हरिणशावक मुझे दे दो।"[31] अतः दंतुल की भाषा से दंतुल के मद और उसके अहंकार का पता चलता है। जो कि सत्ताधारियों के पक्ष का प्रतिनिधित्व करता है।

प्रियंगुमंजरी भी सत्तापक्ष की प्रतिनिधि पात्र है, जिसके व्यक्तित्व में विनम्रता, कुशलता, संस्कार, और शिष्टता दिखती है। कालिदास की राजमहिषी के रूप में मल्लिका के आगे ईर्ष्या, घबराहट और हीनता का भाव भी आता है। प्रियंगु कालिदास की पत्नी बनकर भी कालिदास की जिंदगी में मल्लिका की जगह नहीं ले पाती है। इसलिए मल्लिका को लेकर अपने अन्दर की ईर्ष्या, घबराहट, भाव को कई जगहों पर अपने झूठे दर्प में छिपा लेती है। आधुनिक समाज के उच्चवर्गों की स्त्रियों में इस तरह का व्यक्तित्व आज देखने को मिल जाता है। जो अपनी ही जिंदगी के वैभव के मद में खोई रहती हैं। जिंदगी में अपनी दौलत और शोहरत की नुमाइश करती रहती हैं। किन्तु जिंदगी की असल खुशी से अक्सर मेहरूम रहती हैं और जब कभी असल जिंदगी से सामना होता है तो वह घबरा जाती हैं और अपने झूठे दिखावे की जिंदगी से उसे छोटा साबित करने का प्रयत्न करती हैं, "अंत में ग्रामीण

सादगी और अनन्यता के आगे पराजित होकर एक खिसियाहट के साथ अपने झूठे महत्त्व को बनाए रखते हुए चली जाती है। सत्ताधारियों की अल्पज्ञता और स्थूल दृष्टि का संकेत भी प्रियंगु के माध्यम से दिया गया है।"[32]

इस नाटक में अन्य पात्रों में रंगिणी, संगिणी, अनुस्वार और अनुनासिक भी आधुनिक प्रतीकात्मक पात्र हैं। ये सभी पात्र भी सत्ता पक्ष से जुड़े हुए हैं। इनकी कल्पना शक्ति साधारण जीवन रूपों को समझने में अक्षम है। वे दुनिया को अपनी ही नज़र से देखते हैं। नाटक में रंगिणी और संगिणी इसी तरह की पात्र हैं। जब दोनों कालिदास के गाँव आती हैं तो कालिदास के गाँव को अपनी कल्पना से बिल्कुल भिन्न पाती हैं। वह मल्लिका से कहती है, "संगिणी : यह मैं नहीं मान सकती। इस प्रदेश ने कालिदास जैसी असाधारण प्रतिभा को जन्म दिया है। यहाँ की तो प्रत्येक वस्तु असाधारण होनी चाहिए।"[33] इस प्रकार रंगिणी, संगिणी का वास्तविक दुनिया के प्रति अल्प ज्ञान उसकी अज्ञानता को दर्शाता है, साथ ही ग्राम के छोटी-छोटी वस्तुओं को लेकर उनका अति-उत्साह उनकी कृत्रिमता को दर्शाता है। शोध के सन्दर्भ में प्रतीत होता है जैसे वह जीवन के बाह्य तत्त्वों को ही एकत्रित कर रही है, न कि जीवन के उन मूल रहस्यों को जो कालिदास के जीवन की प्रेरणा थी। अतः रंगिणी, संगिणी नाटक में उस आधुनिक चरित्र का प्रतिनिधित्त्व कर रही है, जो सत्ता सम्पन्न वर्ग से है। जिनको वास्तविक जीवन और दुनिया का ज्ञान ही नहीं है।

अनुस्वार और अनुनासिक भी नाटक के सफल पात्र-चरित्र हैं। नाटक में इनके आने से रस परिवर्तन होता है और नाटक मनोरंजनपरक बनता है साथ ही नाटक में बोझिलता भी नहीं आती है। इसके अतिरिक्त ये सत्ता पक्ष के ऐसे चरित्र हैं जो निरर्थक औचित्य-अनौचित्य के विवाद में उलझे रहते हैं और किसी निष्कर्ष पर नहीं पहुँचते हैं। एक तरह से अनुस्वार और अनुनासिक सत्ता में पलने वाले एक ऐसे पात्र हैं जो दिमागी दिवालियेपन के प्रतीकात्मक चरित्र हैं, "दोनों कर्मचारी एक वर्ग विशेष के संदिग्ध, असंदिग्ध, औचित्य, अनौचित्य के विवाद में उलझे मत वैभिन्न्य से उपजे दिमागी दिवालियेपन के द्योतक हैं। चलते-फिरते ढंग से इनके छोटे-छोटे वाक्यों में बड़ी गंभीर बातें कह दी

गयीं और यह राकेश की 'अनुभूति' और 'अभिव्यक्ति' के अनुशासन का बड़ा अच्छा उदाहरण है, अर्थ सन्दर्भ की दृष्टि से भी और नाटकीय परिकल्पना की दृष्टि से भी। इस नाटक की सारी पात्र योजना देखकर एक यह सत्य भी सामने आता है कि पहली बार हिंदी नाटक में किसी नाटककार ने छोटे-छोटे पात्रों को भी उनका सम्पूर्ण व्यक्तित्व दिया है, उनकी उपस्थिति को नाटक में अनिवार्य और महत्त्वपूर्ण बना दिया है।"[34]

इस प्रकार चरित्र सृष्टि के सन्दर्भ में 'आषाढ़ का एक दिन' सम-विषम तत्वों के जोड़ से निर्मित एक उत्कृष्ट नाटक है। इन पात्रों में सिर्फ परस्पर संघर्ष है, ये नहीं कहा जा सकता है। ये सभी पात्र एक दूसरे के पूरक भी हैं और एक-दूसरे से अलग भी हैं। तभी यह आज के मनुष्य के अंतर्विरोधों पर आधारित एक आधुनिक नाटक है। किन्तु तमाम अंतर्विरोधों के पश्चात् भी वे आपस में जुड़े हुए हैं। जैसे मल्लिका और अम्बिका, कालिदास और विलोम, कालिदास और मातुल एक दृष्टि से ये सभी एक-दूसरे के विपरीत चरित्र वाले लगते हैं, लेकिन कहीं न कहीं इनके बीच समीकरण दिखता है। जैसे कालिदास का एक सकारात्मक चरित्र है। वहीं विलोम के चरित्र में नकारात्मक रूप दिखता है। एक अपनी जिंदगी में भावुक है। दूसरा यथार्थवादी और व्यावहारिक, जो जिंदगी में भावना को बहुत महत्त्व नहीं देता है। एक द्वंद्वों में घिरा है तो दूसरा द्वंद्वों को पचाए हुए है। विलोम के चरित्र में खलनायक तब उभरकर आता है जब वह कालिदास के अन्दर की खलवृत्ति को उभारता है, "राकेश ने ठीक ही कहा है कि आषाढ़ का एक दिन' में पराजित टूटा हुआ कालिदास नहीं, अपने में संयोजित विलोम है।"[35] अन्य पात्र मात्र दंतुल, मातुल, रंगिणी, संगिणी जैसे पात्र भी नाटक की कथावस्तु के अनुरूप ही गठित किये गए हैं और नाटक में कहीं भी ये पात्र सिर्फ कथा को आगे बढ़ाने में सहायक ही नहीं हैं, बल्कि एक कड़ी के रूप में हैं जो कथा से जुड़े हुए हैं। इन पात्रों की भूमिका भी अपने स्थान पर सार्थक है। अतः मोहन राकेश कृत 'आषाढ़ का एक दिन' एक ऐसा आधुनिक नाटक है जिसमें आधुनिक मानव को अपने परम्परागत जीवन मूल्यों से कट कर द्वंद्वों में घिरा एवं भटकता

दिखाया गया है। आज के आधुनिक मनुष्य की सुविधाभोगी और व्यावहारिक मनोवृत्ति को विभिन्न प्रतीकात्मक चरित्रों के माध्यम से चित्रित किया गया है।

3.2 लहरों के राजहंस

मोहन राकेश की दूसरी नाट्य-रचना है 'लहरों के राजहंस'। जिसका प्रकाशन 1963 ई. में हुआ था। 'लहरों के राजहंस' नाट्य-कृति की रचना-प्रक्रिया और उसे एक अंतिम रूप देने में राकेश को एक लम्बा अरसा लग गया। इस नाटक की भूमिका तो बहुत पहले बन चुकी थी, पर हर बार राकेश को नाट्य कृति में कुछ अधूरा सा लगता था। अंतिम स्थाई रूप प्राप्त करने से पूर्व इस नाटक को कई सोपानों से गुजरना पड़ा है। सर्वप्रथम इस नाटक के बीज दर्शन 1946-47 ई. में लिखित एक कहानी 'अनाम ऐतिहासिक कहानी' में होता है। मोहन राकेश इससे संतुष्ट नहीं थे, अतः राकेश ने इसकी रूप रेखा में परिवर्तन कर इसे एक ध्वनि रेडियो नाटक के रूप में तैयार किया, जिसका नाम दिया 'सुंदरी' और इसका प्रसारण बम्बई रेडियो स्टेशन से हुआ। इस नाटक में राकेश को अभी भी कुछ कमी लग रही थी। इसके पश्चात् मित्रों के कहने पर फिर से 1956-57 ई. में कुछ संशोधन और परिवर्तन कर इसे एक रंग नाटक या एकांकी का रूप दिया, जिसका नाम दिया 'रात बीतने तक'। इसे भी प्रसारित किया गया पर विशेष सफलता नहीं मिली। उन दिनों मोहन राकेश लगातार इस नाटक को लेकर चिंतन-मनन करते रहे फिर उसी दौरान 1958 में इनका प्रथम उत्कृष्ट नाटक 'आषाढ़ का एक दिन' भी प्रकाशित हो गया। जिससे राकेश को 60 के दशक में एक नाटककार के रूप में विशेष पहचान मिली। इसके चार-पांच वर्ष बाद सन् 1963 में राकेश नन्द और सुंदरी के जीवन पर आधारित इस नाट्य-कृति को अंतिम रूप देने में सफल हुए जिसका नाम उन्होंने दिया 'लहरों के राजहंस'। इस प्रकार इस नाट्य-कृति को एक अंतिम स्थाई रूप देने में मोहन राकेश को 15 वर्ष से भी अधिक समय लग गए। अतः एक उत्कृष्ट रचना के पीछे कई बार, कितना समय और कितनी मेहनत लगती है, उसका अनुमान मोहन राकेश के इस नाटक से लगाया जा सकता है।

‘लहरों के राजहंस’ का कथानक मूलतः महाकवि अश्वघोष के 'सौन्दरानन्द’ पर आधारित है। नाट्य कथानक के केंद्र में गौतम बुद्ध के छोटे भाई नन्द और उनकी पत्नी सुंदरी है। नाटक के परिवेश की बात की जाए तो उसे उतना महत्त्व नहीं दिया गया है, जितना कि नाटक से व्यंजित आधुनिक मानव मन की जटिलताओं और अंतर्द्वंदों को। मोहन राकेश का यह नाटक भी ऐतिहासिक कथा और चरित्रों के माध्यम से आज के आधुनिक मानव के अंतरद्वंद्व, पार्थिव, अपार्थिव जीवन मूल्यों तथा अस्तित्व संकट को प्रकट करता है। मोहन राकेश के नाटकों की यह विशेषता है कि वे अपने नाटकों के माध्यम से बाह्य समसामयिक समस्याओं का यथार्थवादी चित्रण प्रस्तुत करने का प्रयत्न नहीं करते हैं। अपने नाटकों के माध्यम से आधुनिक मानव के उलझते-टूटते रिश्ते और मानव मन की आंतरिक द्वंद्वात्मक पीड़ा आदि को सामने रखना उनका नाट्य उद्देश्य है। मोहन राकेश को जैसा कि हम जानते हैं अपनी परंपरा का बोध बहुत अधिक था, तभी वे अपने पहले के नाटक में और इस नाटक में भी परम्परागत जीवन मूल्यों को महत्त्व देते दिखते हैं। ‘आषाढ़ का एक दिन’ में भी एक तरफ कालिदास अपने परंपरागत जीवन मूल्यों से कटकर द्वंद्वों से घिर जाता है। जिन बाह्य जीवन उपलब्धियों के लिए वह सब कुछ छोड़कर चला जाता है उसी ज़मीन, जड़ और जीवन मूल्यों की तलाश में वापस आता है। ठीक उसी प्रकार इस नाटक में नन्द अंतर्द्वंद्व में उलझा आज का प्रतीकात्मक चरित्र है। नन्द का अंतर्द्वंद्व बुद्ध के दिखाए गए मार्ग और भोगवादी जीवन-दृष्टि के बीच का है। दूसरी ओर सुंदरी जो बाह्य जीवन के आकर्षण और सुखों को जीवन का सत्यमान कर जीने वाली प्रतीकात्मक पात्र-चरित्र है, “नन्द और सुंदरी ऐतिहासिक पात्र होते हुए भी आज के सन्दर्भ में नितांत आधुनिक हैं क्योंकि उनके द्वारा आज के मानव की बेचैनी, विवशता और आंतरिक संघर्ष को प्रेषित किया गया है। स्वयं राकेश कहते हैं कि नन्द और सुंदरी की कथा एक आश्रय मात्र है, क्योंकि मुझे लगा कि इसे समय में परिक्षेपित किया जा सकता है। नाटक का मूल अंतर्द्वंद्व उस अर्थ में यहाँ भी आधुनिक है जिस अर्थ में ‘आषाढ़ का एक दिन’ के अंतर्गत है।”[36] इस नाटक में भी नाटककार ने ऐतिहासिक

पात्रों को युगीन बना दिया है, साथ ही इनका चित्रांकन भी बड़ी गहराई और एकाग्रता से करते हुए इन ऐतिहासिक पात्रों के माध्यम से आधुनिक अर्थ को व्यंजित किया है।

तीन अंको का यह नाटक कपिलवस्तु के राजकुमार नन्द के बौद्ध भिक्षु बनने और न बनने के द्वंद्व और नन्द की पत्नी सुंदरी के रूप-यौवन और उसके आकर्षण के दर्प की नाट्य-कथा है। इस कथानक में द्वंद्व दो स्तरों पर है। जिसके केंद्र में नन्द और सुंदरी हैं और सुंदरी को अपने रूप-सौंदर्य पर अत्यंत गर्व है। उसके अन्दर एक आत्माभिमान है कि उसका सौंदर्य आकर्षण नन्द को हमेशा ही उसके साथ बाँधकर रखेगा। यशोधरा की तरह नहीं जो बुद्ध को अपने रूप आकर्षण में बाँधकर रख भी नहीं सकी। वह इस सन्दर्भ में कहती है, "सुंदरी : राजकुमार सिद्धार्थ आज गौतम बुद्ध बनकर आए हैं, इसका श्रेय भी तो देवी यशोधरा को है।

अलका : देवी यशोधरा को है ?

सुंदरी : नहीं ! देवी यशोधरा का आकर्षण यदि राजकुमार सिद्धार्थ को बाँध सकता, तो क्या आज भी वे राजकुमार सिद्धार्थ ही न होते ? नारी का आकर्षण पुरुष को पुरुष बनाता है, तो उसका अपकर्षण उसे गौतम बुद्ध बना देता है।"[37] सुंदरी को अपने रूप आकर्षण पर दृढ़ विश्वास है कि नन्द सदा ही उसके रूप पाश में बंधे रहेंगे और अपने भाई के समान बौद्ध भिक्षु नहीं बनेंगे। आज के समकालीन समय में भी मानव अपने शरीर की सुंदरता और आकर्षण को बनाए रखने के लिए न जाने कौन-कौन से प्रसाधन इस्तेमाल करता है। किन्तु अपनी अंतरात्मा को दूसरों के लिए द्वेष और नफरतों से भरे रहता है। आत्मा की शुद्धता पर केन्द्रित आज बहुत कम मनुष्यों का ही व्यक्तित्व होगा। सुंदरी अपनी इस भौतिकवादी जीवन दृष्टि को ही साबित करने और उसके अस्तित्व को बनाए रखने के लिए कामोत्सव का आयोजन करती है। इस कामोत्सव के आयोजन से वह अपने स्वाभिमान और विश्वास को जिंदा रखना चाहती है। यह स्वाभिमान उसके आचरण के साथ-साथ उसके संवादों में भी देखा जा सकता है, "स्वाभिमान उसके हाव-भाव, गतियों में ही नहीं उसके कथनों में भी है। वह सोच ही

नहीं पाती कि 'भरा पूरा यौवन और हृदय में धूल भरा आकाश' इनमें मेल ही क्या है ? और यह कामना किसी के मन में जागती ही क्यों है ? राजहंसों के जोड़ों की किलोल के आगे उसे गौतम बुद्ध का निर्वाण और अमरत्व सारहीन, निरर्थक लगता है लेकिन उसका विश्वास कुछ टूटता है यह जानकर कि बहुत से अतिथि कामोत्सव में नहीं आयेंगे।"[38] सुंदरी इसके पश्चात् भी अपनी इस उत्सव कामना में कहीं भी कमी नहीं आने देना चाहती है। वह मैत्रेय से कहती है कि मैं अपनी कामना को कल के लिए क्यों टालूँ। रूप-गर्विता सुंदरी के लिए यह कामना के इस महोत्सव का अर्थ सिर्फ बाहरी नहीं था, बल्कि यह उसके अन्दर की कामना की पूर्ति का एक साधन है। उसके अन्दर गर्व, विश्वास के पीछे छिपा द्वंद्व और पीड़ा है जिसे वह बाहर नहीं आने देना चाहती है, परंतु उसके अन्दर की यह पीड़ा और द्वंद्व बढ़ता ही जाता है। सुंदरी कहती भी है, "सुंदरी : मैं अव्यवस्थित नहीं हूँ। किसी का कोई भी षड़यंत्र मुझे अव्यवस्थित नहीं कर सकता। अपने उद्वेग का वास्तविक कारण मैं स्वयं हूँ और किसी को मैं अधिकार नहीं देती कि वह मेरे उद्वेग का कारण बन सके।"[39] इस प्रकार नाटक के प्रथम अंक में रूप-गर्विता सुंदरी का व्यक्तित्व ही उभरकर सामने आता है। दूसरी ओर इस अंक में नन्द का व्यक्तित्व एक साधारण पुरुष की तरह ही उभरकर सामने आता है, जो संयमित, संतुलित और अपनी पत्नी की ख़ुशी के प्रति निष्ठावान है।

दूसरे अंक में मोहन राकेश ने नन्द के व्यक्तिव और उसके संघर्ष को ही पूर्णतः उभारा है। पूरा अंक एक नाटकीय वातावरण से निर्मित है, जिसमें चारित्रिक संघर्ष और तनाव है। दूसरे अंक का प्रारंभ ही नेपथ्य से श्यामांग के स्वर से होता है। जिसे सुनकर नन्द विचलित-सा हो जाता है और उसे लगता है कि मानो श्यामांग का प्रलाप उसके अन्दर की आवाज हो,

श्यामांग : "कहाँ हूँ मैं ? क्यों हूँ मैं यहाँ ? मेरा स्वर, पानी की लहरों का स्वर, सब-कुछ एक आवर्त में घूम रहा है। एक चील.. एक चील सब कुछ झपटकर लिए जा रही है। इसे रोको। इसे रोको।

नन्द : आधी रात से अब तक यह स्वर नहीं रुका। सोचता था यह रुके, तो कुछ देर सोने का प्रयत्न करूँ। परंतु यह स्वर जैसे रात पर ही नहीं, मेरी चेतना पर भी पहरा दे रहा है। यह मुझे सोने नहीं देता।"[40] नन्द के अन्दर के इस प्रश्न 'मैं कहाँ हूँ' ? का उत्तर उसे नाटक के तीसरे अंक में मिलता है, जहाँ भिक्षु आनंद उसे बताता है कि तुम्हारे पास कक्ष उद्यान तो है किन्तु घर नहीं है, जहाँ तुम्हारी आत्मा विश्राम कर सके, "भिक्षु आनंद : मैं घर देखना चाहता था, नन्द...घर..कक्ष या उद्यान नहीं। तुम्हारे पास कक्ष और उद्यान सब कुछ है, घर नहीं है ... घर जिसमें तुम्हारी आत्मा को विश्राम मिल सके।"[41] नन्द के जीवन की यह परिस्थिति आज के मानव की परिस्थिति भी है। जिस प्रकार नन्द अपने वास्तविक जीवन को न जीकर दूसरे के आदर्श को जीता रहता है। जिससे वह सुंदरी के आगे तो खुद को प्रसन्न दिखाता है, किन्तु अन्दर से उसकी अंतरात्मा उतनी ही उद्द्वेलित है। ठीक उसी प्रकार आज का मानव भी अपनी जिंदगी न जीकर दूसरे की आरोपित जिंदगी जीता रहता है और अंततः अन्दर से अशांत और व्याकुल रहता है। नन्द अपने केश कटवाने से पूर्व यह प्रयत्न भी करता है कि वह सुंदरी के जीवन आदर्श को ही जिए। किन्तु द्वार पर भिक्षा मांगने आए गौतम बुद्ध का स्वर सुनकर सुंदरी के मोहपाश में बंधे नन्द की चेतना मानो खंडित हो जाती है। नाट्य-कथा में भी दिखाया गया है कि पहले तो दर्पण नन्द की सांसो की तेज गति से धुंधला जाता है और फिर हाथ से दर्पण छूटकर टूट जाता है, "नन्द के हाथ से दर्पण के गिर जाने तथा टूट जाने का नाट्य व्यापार बहुत सार्थक तथा गहरा अर्थ देने वाला है। 'दर्पण' यहाँ नन्द की मानसिकता को व्यक्त करने वाला एक दूसरा रंग-प्रतीक बन जाता है। इस विभाजित मानसिकता के कारण ही नन्द सुंदरी की रूप माधुरी में पूरी तरह तल्लीन नहीं हो पाता और गौतम बुद्ध के पास जाकर क्षमा मांगने की बात सोचता है। अपनी इस मानसिकता के संबंध में नन्द का यह स्वगत कथन है, 'कुछ है जो चेतना पर कुंडली मारे बैठा रहता है और मुझे अपने से मुक्त नहीं होने देता। मैं उससे मुक्त होना चाहता हूँ, परंतु क्या सचमुच मुक्त होना चाहता हूँ, क्या चाहता हूँ ? यह क्यों कभी मन में स्पष्ट नहीं हो पाता ?"[42] इस प्रकार द्वंद्व में उलझा हुआ नन्द का विभाजित मन ही दूसरे अंक में देखने को मिलता है। आधुनिक मनुष्य का मन

भी आज विभाजित है। आज मनुष्य यांत्रिक जीवन और उसके चकाचौंध के पीछे की अंधेरी जिंदगी को जानता है। कौन-से जीवन का मार्ग उसके लिए सही है, कौन-सा गलत, यह जानते हुए भी वह तय नहीं कर पाता है। वह उसी जगमगाते क्षणिक जीवन सुख के पीछे बेतहासा भागता रहता है। खंडित व्यक्तित्व और द्वंद्वों में ही खुद को घिरा पाता है। नन्द आज के उस खंडित व्यक्तित्व का प्रतीकात्मक स्वरूप है जिसका मन आज विभाजित है, खंडित है और द्वंद्वों से घिरा है।

नाटक के तीसरे अंक में नन्द क्षत-विक्षत केश कटाकर लौटता है। नन्द का यह रूप देखकर सुंदरी का अपने रूप आकर्षण में बांधे रखने का प्रयत्न और विश्वास खंडित हो जाता है। उसका अभिमान आहत हो जाता है, वह कहती है जो आया है वह नन्द नहीं कोई और इंसान है। इस स्थल पर दोनों का अभिमान आहत और खंडित होता है,

"सुंदरी : लौट आए हैं ? नहीं। लौटकर वे नहीं आए। जो आया है, वह व्यक्ति कोई दूसरा ही है।

नन्द : दूसरा ? तो तुम भी कह रही हो कि मैं कोई दूसरा व्यक्ति हूँ। केवल इसीलिए कि किसी ने हठ से मेरे केश काट दिए हैं ? मुझे पहले से थोड़ा अपरूप कर दिया है ? क्या इतने से ही व्यक्ति एक से दूसरा हो जाता है ?"[43] नाटक के अंत में दोनों ही पात्र का स्वाभिमान आहत होता है। दोनों ही अपने टूटे स्वाभिमान को छिपाने के लिए कई तर्क देते चले जाते हैं। अंततः नन्द अपने आहत स्वाभिमान के साथ चला जाता है और सुंदरी टूटे विश्वास और स्वाभिमान के साथ सिसकियाँ लेती रह जाती है। नन्द के इस कथन से कि केश कट जाने के पश्चात् भी सिर्फ उसका बाह्य रूप बदला है न कि उसकी इच्छा और अंतरात्मा। इसका अर्थ निकल कर आता है कि हर एक इंसान को अपनी मुक्ति का मार्ग स्वयं ही तलाशना होता है। गौतम बुद्ध द्वारा दिखाया गया नन्द को मुक्ति का मार्ग अपना महत्त्व रखते हुए भी उसके लिए आरोपित समान था। जो उसकी इच्छा के विरुद्ध उसके हृदय को आश्वस्त नहीं कर पाया। अपने कटे केशों को देख नन्द व्याकुल हो कहता है, "मैं तुम्हारा या किसी का विश्वास ओढ़कर नहीं जी सकता, नहीं जीना चाहता। ऊन्होंने केश काट दिए, तो क्या व्यक्ति-रूप में मैं

अधिक सत्य हो गया ? जीभ काट देते, हाथ-पैर काट देते, तो क्या और अधिक सत्य हो जाता ?"[44] इस प्रकार नन्द दो तरफा जीवन जीने में उलझ जाता है। आधुनिक जीवन का यह द्वंद्व बुद्ध के जीवन सिद्धांत और सत्य को नहीं पहचान पाता है। इसीलिए वह अब भी रूप-सौंदर्य के मोहपाश में बंधा रहता है। नन्द को जीवन की सार्थकता बुद्ध के दिखाये मार्ग में नहीं लगती, बल्कि वह जीवन के भौतिक सुखों में ही सुख की परिणिति मानता है। अतः सुंदरी के प्रेम में अगाध श्रद्धा रखते हुए ही अपने जीवन की सार्थकता मानता है। तभी वह कहता है, "काट ही दिए, तो उससे अंतर क्या पड़ता है ? कुछ ही दिनों में फिर नहीं उग आएँगे? अंतर पड़ता, यदि मेरा हृदय बदल देते- आँखें बदल देते। मेरे हृदय में तुम्हारे रूप की अब भी वही छाया है।"[45] नन्द के समान आज का आधुनिक मानव भी जीवन के बाह्य सुखों के पीछे अन्त तक भागता रहता है। नन्द का सुंदरी के प्रति मोह तब टूट जाता है जब सुंदरी चीख पड़ती है। वह बिल्कुल निसहाय अकेला महसूस करता है। वह यह सोचता है कि थोड़े से उसके रूप में परिवर्तन से क्या उसका सारा व्यक्तित्व बदल गया? वह दूसरा व्यक्ति कैसे हो गया ? सुंदरी के जिस जीवन आदर्श में वह अपना भी आदर्श देखता था वह पलभर में खंडित हो गया। इसलिए नन्द सुंदरी के मोहक बंधन में भी खुद को बाँधकर नहीं रख सका। सुंदरी का रूप-सौंदर्य, उसका भरोसा भी उसे अधूरा-सा लगाने लगा। नन्द न बुद्ध के आदर्शों के साथ रह पाता, न सुन्दरी के जीवन आदर्शों के साथ। अतः उसे इस बात का ज्ञान होता है कि उसकी यह दशा उसके खुद के द्वंदों के कारण ही है। यहाँ पर मोहन राकेश ने बुद्ध और सुन्दरी को एक जीवन-दृष्टि के रूप में प्रस्तुत किया है न कि व्यक्तित्व के रूप में। तभी नन्द दोनों के प्रभावों से विचलित रहता है और जीवन के लिए कौन-सी दृष्टि उपयुक्त है यह तय नहीं कर पाता है। दूसरी ओर सुंदरी का नन्द के प्रति क्षोभ उसके कटे हुए केश के कारण नहीं था, बल्कि टूटे हुए उसके विश्वास के कारण था। गिरीश रस्तोगी लिखती हैं, "वह साफ़ कहती है वह आकृति एक दु:स्वप्न नहीं यथार्थ है, स्वप्न मेरा अपना यथार्थ, क्या मैं उसका सामना कर सकती हूँ ? उसके पास से जाकर नन्द ने यह सब कैसे हो जाने दिया ? क्यों हो जाने दिया ?"[46] अंततः नाटक की समाप्ति द्वंद्व की चरम सीमा पर जाकर होती है।

जिस प्रकार नन्द अपने अस्तित्व और जीवन दृष्टि की तलाश में द्वंद्वों से घिरा रहता है और अंत तक भी एक मुकम्मल जीवन को नहीं अपना पाता है, वैसे ही आज का मनुष्य अपनी जिंदगी में नन्द की तरह कई तरह के प्रश्नों से घिरा हुआ है। जीवन अशांत, अस्थिर और उलझा हुआ है। अपने अस्तित्व बोध के लिए निरंतर अपने अन्दर के व्यक्तित्व से ही जूझ रहा है। अतः यह नाटक पार्थिव और अपार्थिव मूल्यों का द्वंद्व है। जिसे मोहन राकेश ने स्वयं कहा था।

इस नाटक में पात्रों और चरित्रों की बात करें तो नाटक के सभी पात्र किसी न किसी प्रतीक की व्याख्या करते नजर आते हैं। यही नहीं आस-पास के वातावरण भी सांकेतिक और प्रतीकात्मक हैं। जैसे कमल का तालाब संसार का प्रतीक है, नन्द अन्तर्मन या अचेतन मन का, सुंदरी भोगवादी दृष्टि की, बुद्ध वैराग्य का और श्यामांग नन्द के अंतर्मन की व्याकुलता का, राजहंस उन्मुक्त इन्द्रिय जीवन का और दर्पण सुन्दरी के रूप-दर्प का। इसके अतिरिक्त छाया, मृग आदि कई प्रतीकों की व्याख्या करते हैं।

सुंदरी-

नाटक में सुंदरी एक ऐसी नायिका है। जो अपने अस्तित्व के प्रश्नों से संघर्षरत है। सुन्दरी के अस्तित्व का सवाल उसके स्वाभिमान और जीवन के प्रति उसकी दृष्टि से जुड़ा हुआ है। नन्द भी अपने अस्तित्व के सवालों से घिरा नाटक के अंत तक संघर्ष करता रहता है। लेकिन सुन्दरी नन्द की तरह द्वंद्व में नहीं है। जीवन के प्रति उसका नजरिया स्पष्ट है। सुन्दरी नाटक में वैचारिक दुविधा में कहीं भी नहीं दिखती है। उसकी जीवनदृष्टि एकपक्षीय है, जो कि भोगवादी है। सुंदरी का जीवन ऐंद्रिय केन्द्रित है, इसलिए वह आत्म-प्रवंचना के भाव से भी ग्रस्त है, "वह अपने अस्तित्व में भौतिक जगत से बद्ध है, पर यह बद्धता ज्ञान के स्तर पर नहीं, द्वेष के स्तर पर है। यह वह आदिम स्तर है जहाँ चेतना मनुष्य का निर्माण नहीं करती, केवल भोग ही उसके द्वारा होता है। इसके साथ ही उसमें अहं की प्रबलता है जिसके कारण वह सह-भू बनकर रहने की अपेक्षा व्यक्तिहीन इकाई बनकर रह जाती है।"[47] आज

बहुत से लोग सुन्दरी के समान एकपक्षीय जीवन जीते हैं। भौतिक जगत से बद्ध उनका जीवन द्वेष और अहं से भरा होता है। जिस परंपरा की नींव गौतम बुद्ध जैसे युग-पुरुषों ने बहुत पहले डाली थी जिसमें अहं को त्यागकर मानव सद्भाव की बात की थी, उससे आज का यांत्रिक मानव दूर होता जा रहा है। आज लोग आत्मा से नहीं सुंदरी के समान अपने शरीर के माध्यम से जीना चाहते हैं। सुंदरी के लिए नन्द एक व्यक्ति नहीं दर्पण के समान है, जिसमें वह अपने स्वाभिमान और अहं को देखती है। उसकी आकांक्षा उसके माध्यम से ही पूरी होती है। नन्द उसकी कामना का एक माध्यम मात्र है। सुंदरी के व्यक्तित्व का एक पक्ष यह भी है कि उसका स्वाभिमान टूट जाता है, किन्तु वह ऊपर से ठोस ही दिखती है, तभी वह कहती है, "सुंदरी : चाहती, तो रोक भी सकती थी। परंतु रोकना मैंने नहीं चाहा, क्योंकि वैसा करना दुर्बलता होती। अब इतना संतोष तो है कि दुर्बलता कहीं थी, तो मुझमें नहीं थी।"[48] सुंदरी की जीवन-दृष्टि अधूरी है, किन्तु उसे वह किसी भी प्रकार से स्वीकार नहीं करती है। आधुनिक मानव भी सुंदरी के समान अपनी अधूरी जिंदगी के सच को जानता रहता है, किन्तु उसे वो स्वीकार नहीं करता है। इसलिए नाटक के अंतिम स्थल पर नन्द के चले जाने के बाद वह रोती या झगड़ती नहीं और न ही उसे रोकती है, न किसी प्रकार की साहनुभूति मांगती है। बस पत्थर-सी जड़ देखती रहती है। किन्तु उसके जाते ही सिसकियां लेते हुए अपने चेहरे को हथेलियों से ढँक लेती है अर्थात् अपने आहत स्वाभिमान को नन्द के आगे नहीं निकालती है। अंततः उसकी वेदना तीव्र हो जाती है। इस प्रकार मोहन राकेश ने सुंदरी के माध्यम से आधुनिक मनुष्य के उस चरित्र की सृष्टि की है, जिसकी भोगवादी जीवन-दृष्टि है। ऐसे व्यक्ति देह के स्तर पर ही जीते हैं और जो अपनी अंतरात्मा को देह के बाद ही जीवन में स्थान देते हैं ।

नन्द-

नन्द की परिस्थिति सुंदरी के समान कहीं एक जैसी है तो कहीं भिन्न भी है। वह यह तय नहीं कर पाता कि सुंदरी के सौंदर्य के प्रति या बुद्ध के जीवन-दर्शन के प्रति वह आसक्त है। इसीलिए नन्द के सामने उसकी अपनी निजता का प्रश्न है। या तो अपनी निजता नन्द खुद तय करे या सुन्दरी की

निजता में अपने अस्तित्व को विलय कर दे। नन्द प्रतीक है, उस आज के मनुष्य का, जिसकी अपनी निजता छिन चुकी है। या तो वह अपनी निजता का विलय कर दूसरे की जीवन-दृष्टि को आत्मसात कर लेने में अपने जीवन की सार्थकता समझता है या कभी अपनी निजता का प्रश्न उठाना भी चाहे तो द्वंद्व में घिरा वह भटक जाता है। लेकिन अपने जीवन का मार्ग खुद ही बनाना पड़ता है, जैसा कि इस नाटक में नन्द की परिस्थितियों में हम देख सकते हैं। नन्द सुंदरी की जीवन-दृष्टि का त्याग भी करना चाहता है और उसके प्रति उसका समर्पण भी है। नन्द सुंदरी और बुद्ध दोनों को ही ग्रहण भी करना चाहता है और दोनों का त्याग भी। नाटक के एक अंश में वह कहता भी है, "उनके पास था, तो मन यहाँ के लिए व्याकुल था। अब तुम्हारे सामने हूँ, तो मन कहीं और के लिए व्याकुल है। क्योंकि यहाँ हो या वहाँ , सब जगह मैं अपने को एक-सा अधूरा अनुभव करता हूँ। क्योंकि इस रूप में हो या उस रूप में, अब किसी भी रूप में मैं अपने को झुठलाकर नहीं जी सकता।"[49] नन्द की चेतना एक स्वतंत्र अस्तित्व के लिए भटकती रहती है। इसलिए नन्द के अन्दर सुंदरी और बुद्ध दोनों के जीवन के प्रति मोह के बाद एक ऊब पैदा हो जाती है, "स्वतंत्रता की चाह, यथास्थिति की ऊब और लभ्य से अलभ्य की ओर संक्रमण, नन्द के व्यक्तित्व के एक अंश को उससे अलग कर देता है। यहीं वह निस्सार अस्तित्व की विडम्बना भोगता हुआ पार्थिव और अपार्थिव के द्वंद्व में फंस जाता है।"[50] द्वंद्व में घिरे हुए नन्द के चरित्र के सन्दर्भ में जो एक धारणा मन में उभरकर सामने आती है वह यह है कि निर्णय लेने में वह एक दुर्बल व्यक्तित्व का है। किन्तु मनुष्य के पास जब नन्द के समान अपनी कोई आस्था ही नहीं रह गई हो तब उसका द्वंद्व में घिरना स्वाभाविक है। नाटक में जिस द्वंद्व और संशय से नन्द घिरा हुआ है, उसका एक कारण आज की यांत्रिक दुनिया है। आज का मानव अपने चारों ओर यंत्रों का एक ऐसा जाल बुनता जा रहा है, जहाँ मानवीय संवेदना और रिश्तों का विशेष मोल नहीं है, जैसे सुंदरी के जीवन में नन्द का अस्तित्व उसके स्वाभिमान का प्रश्न मात्र है। नन्द के जाने पर भी वह उसे नहीं रोकती है, बल्कि सिर्फ अपना दुःख जताती है, वो भी नन्द के चले जाने पर। सुंदरी की अंतिम प्रतिक्रिया भी नन्द के जाने के कारण नहीं, बल्कि आघात लगे उसके

स्वाभिमान के कारण होती है। नन्द अपने जीवन में अपनी पूर्व जीवन धारणाओं का परित्याग करना चाहता है। अपनी एक जीवन धारणा बनाना चाहता है। इसी कारण अपने जीवन मूल्यों की तलाश में नन्द बेचैन निकल पड़ता है। आज का मानव भी भटकता रहता है और विभिन्न आध्यात्मिक तथा अपने परंपरागत जीवन मूल्यों से कुछ नवीन जीवन-दृष्टि तलाशने का प्रयास करता है। किन्तु आज आध्यात्म के नाम पर ढोंग रचा जाता है और शेष जो बचा है उसमें परंपरा रूढ़ि बन चुकी है। ऐसे में मानव नन्द के समान द्वंद्वों में घिरा अपने लिए एक सही जीवन-दृष्टि नहीं तलाश कर पा रहा है। साथ ही नन्द के समान दूसरे की जीवन-दृष्टि ही जीता रहता है। अतःअपनी पूरी जिंदगी द्वंद्व और भटकाव में ही नन्द के समान गुजार देता है। अतःआधुनिक मनुष्य का जीवन इतना अवमूल्यन बन चुका है कि वह नन्द के समान अपने लिए सही जीवन मार्ग नहीं तलाश कर पा रहा है।

श्यामांग-

श्यामांग नाटक में व्यक्ति से अधिक एक एहसास की तरह प्रतीत होता है। वह नाटक में रिक्त स्थानों को भरने के काम आया है तथा नाटक की सीमित सामग्री को एक विस्तार रूप देने के प्रयोग में लाया गया है। श्यामांग के पात्र को गढ़ने के लिए राकेश ने अपना विशेष लेखनीय कौशल दिखाया है। नाटक के तीनों अंकों और संशोधित संस्करण में उसको लेकर कई प्रयोग किए गए हैं, "पहले अंक में उसे हटाना चाहा तो हट न सका। दूसरे अंक में आकर नेपथ्य के स्वरों में वह नाटक पर छा गया और अपनी चेतना में नन्द से जैसे एकाकार हो गया। पुराने संस्करण के तीसरे अंक में वह 'मुझे एक किरण ला दो, बस एक किरण, केवल एक किरण' कहता हुआ उपस्थित दिखाई देता है, पर संशोधित संस्करण में तो उसे नाटककार ने तीसरे अंक से निकाल बाहर ही कर दिया है।"[51] श्यामांग के चरित्र की जो सबसे बड़ी विशेषता है, वह यह है कि नन्द को उसके प्रलाप में अपनी अंतरात्मा की ही आवाज़ लगती है। नन्द के अन्दर के व्यक्तित्व का श्यामांग एक रूप है। जो उसके खंडित व्यक्तित्व का ही एक हिस्सा है। श्यामांग जैसा पात्र आज हमारे आस-पास होता है, जिसे देखकर लगता है जैसे इसकी सोच हमारे जीवन का ही एक प्रत्यक्ष रूप हो। उसके जीवन में घटित परिस्थितियों को

देखकर ऐसा आभास होता है जैसे कल मेरे साथ भी ऐसी परिस्थितियाँ उत्पन्न हो सकती है, फिर भी हम अपने जीवन की जटिल परिस्थितयों और द्वंद्वों से बाहर निकल नहीं पाते हैं। श्यामांग का जीवन भय, एकांकीपन और त्रास से घिरा हुआ एक विसंगतिपूर्ण जीवन है। जिसे नाटककार ने उसके ज्वार के माध्यम से व्यंजित किया गया है।

निष्कर्ष स्वरूप यह कहा जा सकता है कि नाटक का रूपबंध द्वंद्वों और तनावों पर केन्द्रित है और यह एक उत्कृष्ट नाटक है। नाटक का कथानक और सभी पात्र, इसी रूप तनाव और द्वंद्व को ही प्रस्तुत कर रहे हैं। कथानक का बहुत विस्तार न होने पर भी नाट्य कथानक अपने उद्देश्य में सफल है। नाटक आज के आधुनिक मानव का द्वंद्व, मानसिक वृत्ति आदि सभी को प्रस्तुत करने में सफल है। पात्र में नन्द और सुंदरी का द्वंद्व कई स्थानों पर समान, तो कहीं अलग है। किन्तु नन्द जहाँ अस्पष्ट और अपने अस्तित्व को लेकर भटका हुआ आधुनिक मनुष्य का प्रतीक है, वहीं सुंदरी एकालाप जिंदगी जीती हुई एक स्वाभिमानी स्त्री पात्र है, जिसके लिए उसकी जीवन दृष्टि सबसे ऊपर है। वह नन्द को एक पति के समान नहीं, बल्कि एक दर्पण के समान देखती है, जिसमें वह अपने स्वाभिमानी दर्प को ही देखती है। इस प्रकार यह कहना गलत नहीं होगा कि काव्यात्मक दार्शनिक विचारों से परिपूर्ण यह एक आधुनिक नाटक है। जहाँ आज के मानव के समक्ष बुद्ध द्वारा रखा गया एक जीवन-दर्शन है, तो दूसरी तरफ आज की यांत्रिक दुनिया का द्वंद्वात्मक जीवन।

3.3 आधे-अधूरे

'आधे-अधूरे' मोहन राकेश की तीसरी सबसे महत्त्वपूर्ण रचना है। इस नाटक में मोहन राकेश ने अपने पिछले दो नाटकों के समान ऐतिहासिकता का सहारा नहीं लिया है। कथानक और पात्रों का संयोजन भी आधुनिक समय का है। 'आधे-अधूरे' का कथानक आज के स्त्री-पुरुष के संबंधों पर आधारित होने के अतिरिक्त परिवार के विघटन की कथा को भी प्रस्तुत करता है। मोहन राकेश के सभी नाटकों में एक घर की खोज देखी जा सकती है। 'आधे-अधूरे' घर और घर के व्यक्तियों पर

केन्द्रित नाटक है। नाटककार ने इस नाटक के माध्यम से विघटित जीवन मूल्य, दाम्पत्य जीवन की विडम्बना, रिश्तों के अधूरेपन को सफलतापूर्वक दिखाया है। इस नाटक का जो केंद्रीय विषय रहा है, जिसे इस नाटक के माध्यम से प्रस्तुत किया गया है, वह है एक घर और उस घर के सदस्यों का अधूरापन। इस नाटक में राकेश ने ऐसा घर दिखाया है जो कहने को तो घर है, लेकिन घर की वस्तु से लेकर रिश्ते और संवेदनाएँ सब कुछ बिखरा हुआ है। घर के किसी अवयव में किसी भी तरह की संगति नहीं दिखती है। घर में मुख्य रूप से पांच सदस्य हैं- पति महेन्द्रनाथ, पत्नी सावित्री, बड़ी बेटी बिन्नी, छोटी बेटी किन्नी और बेटा अशोक। इस परिवार में किसी भी सदस्य का किसी से कोई विशेष लगाव नहीं है। सभी की बोली में एक कटुता है। सावित्री और बड़ी बेटी बिन्नी के बीच कुछ मौकों को छोड़कर कोई भी सदस्य किसी के लिए मधुरभाषी नहीं है। घर में सभी के रहते हुए भी कोई किसी के लिए नहीं है, " छोटी लड़की : कुछ पता ही नहीं चलता यहाँ तो। बताओ, चलता है कुछ पता ? स्कूल से आई, तो घर में कोई भी नहीं था। और अब आई हूँ, तो तुम भी हो, डैडी भी हैं, बिन्नी-दी भी हैं, पर सब लोग ऐसे चुप हैं जैसे..।"[52] घर में हर एक को दूसरे से शिकायत है। चुप रहकर इस घर में मजबूरी है और लड़ना घर से निकलने का एक बहाना। इसे घर की तरह अपनाने के लिए कोई तैयार नहीं है। भारतीय परिवार की एक अपनी ख़ास परंपरा रही है वह है रिश्तों में प्रगाढ़ता, अपनत्व की भावना और एक सूत्र में बंधा हुआ पूरा परिवार। किन्तु जैसे-जैसे आधुनिकता अपने पाँव पसारती गई, वैसे-वैसे घरों के दायरे सिकुड़ते गए और साथ ही सिकुड़ता चला गया रिश्तों का अपनत्व, प्रेम-सौहार्द, एक-दूसरे के लिए संवेदना आदि।

मोहन राकेश को अपनी परंपरा का गहरा बोध था। वह जीवन की परंपरा को महत्त्व देते थे। तभी उनकी रचनाओं में भी उन जीवन मूल्यों को देखा जा सकता है। मोहन राकेश लिखते हैं, "मेरे विचार में परंपरा को दो रूपों में देखा जाना चाहिए। जीवन की परंपरा और रचना की परंपरा। जीवन की परंपरा ज्यादा महत्त्वपूर्ण है। इसीलिए परंपरा के विकास की बात जनजीवन के सन्दर्भ में देखी और समझी जानी चाहिए, केवल साहित्य के सन्दर्भ में नहीं। सच बात तो यह है कि रचना-धर्मी व्यक्ति

जीवन की परंपरा से कटकर केवल बाहरी प्रभावों के वृत्त में सशक्त और तत्वपूर्ण रचना कर ही नहीं सकता।"[53] मोहन राकेश परंपरागत पारिवारिक मूल्यों को इस आधुनिक काल के परिवारों में टूटते देख रहे थे। तभी उन्होंने अपने इस नाटक और पूर्व के नाटकों में भी उन परंपरागत मूल्यों को टूटते हुए ही दिखाया है। मानव के अन्दर द्वंद्व की स्थिति परंपरागत जीवन मूल्यों से कटने के बाद ही देखी गई है। आधुनिक काल के शुरू होने से पूर्व रचनाकारों का लेखकीय विषय सामाजिक और राजनैतिक समस्याओं पर केन्द्रित था। उस समय पारिवारिक विघटन जैसी समस्याएँ नहीं थी। परिवार एक सूत्र में बंधा होता था। आधुनिकता और यांत्रिकता ने व्यक्ति विशेष को प्रभावित करना शुरू किया और धीरे-धीरे पारिवारिक विघटन जैसी समस्या उत्पन्न होने लगी। जैसा कि इस नाटक के परिवार और सदस्यों में देखा जा सकता है। यह नाटक और इसके सभी पात्र आज के पारिवारिक विघटन का एक सटीक उदाहरण है, "लड़का सवाल करता है, इसे घर कहती हो तुम ? बड़ी लड़की को जब सावित्री यह कहती है कि 'तेरा अपना घर है' तो वह चौंक उठती है मेरा अपना घर ? गृहस्वामी के सामने एक चुनौती है कि घर उसका है। इसीलिए वह कहता है- 'तो मेरा घर नहीं है। यह कह दो नहीं है ? उसको बार-बार यह एहसास दिलाया गया है कि वह एक कीड़ा है जो उसको खा गया है। अकेली सावित्री उसे किसी तरह थामे हुए है। वह भी जानती है कि मेरे करने से इस घर का जो कुछ हो सकता था, इस घर का हो चुका आज तक। मेरी तरफ से अब यह अंत है उसका, निश्चित अंत।"[54]

नाटक के प्रथम अंक में ही घर का मुखिया महेन्द्रनाथ वर्षों से बेरोजागर है यह बात हमें ज्ञात हो जाती है और घर की गृहस्वामिनी सावित्री नौकरी करती है, ताकि किसी प्रकार वह अपने घर की आर्थिक स्थिति को संभाले रखे। बड़ा लड़का नौकरी की तलाश में है। बड़ी लड़की अपने घर के इस वातावरण से ऊबकर अपनी माँ के मित्र मनोज के साथ भाग गई रहती है। इसके पश्चात् भी बड़ी लड़की अपने माँ-बाप के घर आती रहती है। वह कहती है कि वह इस घर में इसलिए आती रहती है ताकि वह यह देख सके कि आखिर वह कौन सी चीज है, जिसके कारण मनोज उसे हीन भावना

महसूस करवाता है, "हाँ! और मैं आती हूँ कि एक बार खोजने की कोशिश कर देखूं कि क्या चीज है वह इस घर में जिसे लेकर बार-बार मुझे हीन किया जाता है। तुम बता सकती हो ममा, कि क्या चीज है वह ?और कहाँ है वह ? इस घर की खिड़कियों- दरवाजों में ? छत में ? दीवारों में? तुममें ? डैडी में ? किन्नी में ? अशोक में ? कहाँ छिपी है वह मनहूस चीज जो वह कहता है मैं इस घर से अपने अन्दर लेकर गयी हूं ?"[55] घर में सबसे छोटी है किन्नी जो घर के लोगों का स्नेह न मिल पाने के कारण उद्दंड हो गई है और कई ऐसे कार्यो में लिप्त रहती है जिसमें उसे नहीं रहना चाहिए। इन पाँचों के अतिरिक्त काला सूटवाला, सिंघानिया, जुनेजा, जगमोहन भी इस नाटक के अन्य पात्र हैं। काले सूटवाला आदमी नाटक का सूत्रधार है। जो प्रारंभ में ही लम्बे संवाद के माध्यम से नाटक का प्रारूप बताता है साथ ही नाटक में विभिन्न संभावनाओं और नाटककार के दृष्टिकोण को भी प्रकट करता है। सिंघानिया सावित्री का बॉस है जो आज के उन गैर-सरकारी संस्थानों के मालकों का प्रतिनिधित्व करता है, जो अपनी संस्था में स्त्रियों का शोषण करते हैं। जगमोहन सावित्री का पुराना प्रेमी है जो एक व्यावहारिक अनुभवी है। वह सावित्री के घर भी उसके बुलाने पर आता है। किन्तु अपनी भावनाओं में बहकर सावित्री को कोई भी सुझाव ऐसा नहीं देता जिससे कोई परेशानी या उलझन पैदा हो। पुरुष चार 'जुनेजा' इस नाटक का सबसे अलग पात्र है। महेन्द्रनाथ घर से भागकर हमेशा जुनेजा के घर ही जाता है। जुनेजा महेन्द्रनाथ का सबसे करीबी मित्र ही नहीं है, बल्कि वह इस घर की हर एक परिस्थिति से परिचित भी है। सावित्री भी अपने दुखों के पलों में उसके कंधे पर सर रखकर रोती है। जुनेजा पर सबका विश्वास है। वह हर किसी की बात धैर्यपूर्वक सुनकर ही उसका निष्कर्ष निकालता है। जुनेजा के चरित्र की एक जो विशेषता है, वह है उसकी स्पष्टवादिता वह हर एक समस्या का विश्लेषण करता है और फिर जो तार्किक रूप से सही होता है उसे कहने में वह बिल्कुल संकोच नहीं करता है, "नाटक का यह अत्यंत सशक्त पात्र है और सावित्री तथा महेन्द्रनाथ के स्वभाव एवं संपर्क पर जबरदस्त टिप्पणी करता है। सावित्री के पास कुछ कहने को नहीं रह जाता, दोष केवल महेन्द्रनाथ या परिस्थितियों का नहीं है, सावित्री स्वयं बहुत-सी बातों के लिए जिम्मेदार

है, यह स्वीकार करने को बाध्य होती है।"[56] मोहन राकेश ने इन पाँचों पात्रों का अभिनय एक ही व्यक्ति के माध्यम से प्रस्तुत करने का विधान किया है, इन पाचों पात्रों के गुण-चरित्र आज के पुरुषों में देखे जा सकते हैं। तभी सावित्री को ये सभी पात्र किसी न किसी रूप में आधे-अधूरे ही लगते हैं। मोहन राकेश ने नाटक में पात्रों के नाम दिए हैं, किन्तु उनका संबोधन पुरुष एक, स्त्री, बड़ी लड़की, लड़का, छोटी लड़की, दो पुरुष, तीन पुरुष, चार पुरुष यह कह कर संबोधित किया है। इसके पीछे नाटककार का विशेष उद्देश्य है, आज के मानव जीवन की विभिन्न परिस्थियों को दर्शाना तथा आज के आधुनिक समाज के व्यक्ति का चरित्र चित्रण करना। इसीलिए नाटककार ने नाटक में पात्रों का संबोधन नाम वाचक के स्थान पर जातिवाचक संबोधन का इस्तेमाल किया है। इस कथन की पुष्टि सूट वाले व्यक्ति के इन संवादों से हो जाती है, "बात इतनी ही है कि विभाजित को मैं किसी-न-किसी अंश में आप में से हर-एक-व्यक्ति हूँ और यही कारण है कि नाटक के बाहर हो या अन्दर, मेरी कोई भी एक निश्चित भूमिका नहीं है। एक विशेष परिवार, उसकी विशेष परिस्थितियाँ ! परिवार दूसरा होने से परिस्थितियाँ बदल जाती, मैं वही रहता। इस परिवार की स्त्री के स्थान पर कोई दूसरी स्त्री किसी दूसरी तरह से मुझे झेलती- या वह स्त्री मेरी भूमिका ले लेती और मैं उसकी भूमिका लेकर उसे झेलता। यह निर्णय करना इतना ही कठिन होता कि इसमें मुख्य भूमिका किसकी थी- मेरी, उस स्त्री की, परिस्थितियों की, या तीनों के बीच से उठते कुछ सवालों की।"[57] नाटककार द्वारा किया गया यहाँ नाट्य-प्रयोग नाटक को आज के आधुनिक जीवन से जोड़ देता है। नाटक के पात्र और पात्रों के साथ जुड़ी परिस्थितियाँ एवं भाव हमारे खुद अपने लगने लगते हैं। इस नाटक की सबसे बड़ी उपलब्धि और शक्ति यही है कि नाटक के सभी पात्रों के चरित्रों और उनके साथ जुड़ी परिस्थितियों को बड़े वास्तविक ढंग से प्रस्तुत किया गया है। उनकी भाषा आज की चुभने वाली कटु भाषा है जो नाटक को बहुत ही प्रभावशाली बना देती है। आधुनिक काल के महानगरीय मध्यवर्गीय जीवन की त्रासदी, घुटन, रिश्तों में कटुता आदि को बेबाकी से कह डालती है। प्रतिभा अग्रवाल लिखती हैं, "आषाढ़ का एक दिन में कालिदास और लहरों के राजहंस में नन्द विशेष परिस्थितियों में घर छोड़कर

जातें हैं पर दोनों ही लौट आते हैं। सावित्री को जगमोहन अब स्वीकार नहीं करता और महेन्द्रनाथ तो हर मंगल-शनीचर को जाता और फिर लौटता रहा है। ऐसा लगता है जैसे इस परिवार के सभी पात्र-विशेषकर महेन्द्रनाथ और सावत्री भयंकर कटुता के बावजूद अभिशप्त हैं एक छत के नीचे रहने को, बाहर जाकर भी बार-बार लौटने को।"[58]

नाटक के कथानक को संक्षेप में देखें तो 'आधे-अधूरे' एक सशक्त नाट्-रचना है। इस नाटक की सबसे बड़ी सफलता है इसका शिल्प पक्ष। जिसमें भाषा, कथा का संयोजन एवं परिस्तिथियों का स्वाभाविक विकास है। सूत्रधार के रूप में काले सूट वाला व्यक्ति सर्वप्रथम आकर नाटक के प्रारंभ में नाटक का मूल उद्देश्य और नाटक के गूढ़ अर्थ को स्पष्ट करने का प्रयत्न करता है। नाट्य-कथानक में सावित्री अपने कार्यालय से आने पर घर में सब कुछ बिखरा देखती है। वह खीझ कर अपने बेरोजगार पति महेन्द्रनाथ से यह कहती है कि घर पर रहते हुए कम से कम घर की इन अस्त-व्यस्त चीजों को ही ठीक कर लिया करो। पति-पत्नी की नोंक-झोंक चलती ही रहती है कि उनकी छोटी बेटी आती है और किसी बात पर उसे भी डाँटती है। फिर बड़ी बेटी भी आती है, जो अपने घर के इस माहौल से तंग आकर अपनी माँ के मित्र मनोज के साथ भागकर उसके साथ अपना घर बसा चुकी है। घर के हालातों का प्रथम बार नाटक के इस अंश में पता चल जाता है जब लड़का भी उसी समय आता है और उनके बीच वाक् युद्ध और भी बढ़ जाता है। महेन्द्रनाथ गुस्से से घर से निकल जाता है जिसके बाद सावित्री का बॉस सिंघानिया उसके घर आता है। सावित्री अशोक को नौकरी दिलाने के लिए सिंघानिया से अधिक नजदीकियाँ रखती है। जबकि अशोक को सिंघानिया की हरकतें पसंद नहीं हैं। इसलिए वह सिंघानिया से सही से बर्ताव नहीं करता है। जिसके पश्चात् सावित्री गुस्से में यह निर्णय लेती है कि वह कभी भी अब इस घर के लिए कुछ नहीं करेगी। नाटक में कुछ अंतराल के पश्चात् अशोक और बिन्नी बैठे बातें करते रहते हैं तभी सावित्री अपने कार्यालय से आती है और जगमोहन के चाय पर आने की बात कहती है, साथ ही यह भी कहती है कि अगली बार उसके आने पर शायद वह न मिले। बिन्नी उसे थोड़ा और सोच लेने को कहती है और फिर वहाँ

से चली जाती है। जगमोहन के आने के बाद सावित्री उसके साथ चली जाती है। किन्तु जगमोहन सावित्री को विशेष प्रतिक्रिया नहीं देता है। इसके बाद सावित्री घर लौटते हुए किन्नी को अपने साथ घसीटता हुआ लाती है और किन्नी को कमरे में बंद कर देती है। इसी बीच जुनेजा का घर में प्रवेश होता है, जिसमें महेन्द्रनाथ और सावित्री के संबंधों में बढ़ते कटुता के सन्दर्भ में लम्बी बातचीत होती है। इसके बाद जुनेजा और सावित्री की बातचीत शुरू होती हैं, जिसमें सावित्री महेन्द्रनाथ और उसके मित्रों जिसमें जुनेजा भी है, के सन्दर्भ में बहुत सारी कटु बातें होती हैं। फिर जुनेजा भी सावित्री की तमाम गलतियों, चरित्र और स्वभाव को लेकर टिपण्णी करता है। सावित्री और जुनेजा के बीच आरोप-प्रत्यारोप अपने बिंदु पर होता है, जब लड़का महेन्द्रनाथ की बाहों को थामे आता है। महेन्द्रनाथ मानो बिल्कुल अन्दर से टूटा हुआ लड़खड़ा कर सीढ़ियों पर गिरता है। लड़का और जुनेजा महेन्द्रनाथ की ओर दौड़ते हैं। लड़का कहता है देखकर डैडी और एक मातमी संगीत के साथ नाटक समाप्त हो जाता है।

इस प्रकार यह नाटक आज के शहरी क्षेत्र में मध्यवर्गीय पारिवारिक विघटन को चित्रित्र करता है। आज शहर में जिस प्रकार मकानों की चारदीवारी सिकुड़ती जा रही है, उसमें रहने वाले लोगों की जिंदगी घुटती जा रही है। पारिवारिक सामंजस्य समाप्त होता जा रहा है। रिश्ते जुड़ने की जगह टूटते जा रहे हैं। उसी प्रकार इस नाटक के पात्रों के रिश्तों में भी ऊब, घुटन और तनाव बढ़ता जाता है। कोई भी रिश्ता स्वयं में सार्थक और पूर्ण नहीं है। रिश्तों की पूर्णता की तलाश में ही इस नाटक के सभी पात्र जैसे महेन्द्रनाथ से जुनेजा, सावित्री से सिंघानिया, सावित्री से जगमोहन और बड़ी लड़की मनोज से जुड़ती है। लड़का बेरोजगारी में निठल्ला, लड़कियों की तस्वीरें काटता है और छोटी लड़की घर के स्नेह से वंचित अश्लील बातें करने में ख़ुशी महसूस करती है। इस प्रकार नाटक के सभी पात्र अपनी-अपनी आधी-अधूरी जिंदगी में मानो अपने लिए एक आधार ढूढ़ रहे हों। लेकिन निराशा और असफलता के कारण टूट जाते हैं और अंततः वही विषाक्त जीवन जीने के लिए बाध्य होते हैं।

मोहन राकेश के इससे पूर्व दोनों ही नाटकों के पात्र ऐतिहासिक एवं पौराणिक पात्र चरित्र थे। परन्तु राकेश ने इस नाटक में ऐतिहासिक पात्रों के स्थान पर आज के समकालीन समाज से पात्र चरित्र की सृष्टि की है। नाटक के सभी पात्र मुख्य रूप से मध्यवर्गीय परिवार से संबंध रखते हैं। नाटक के सभी पात्रों में एक वैचारिक टकराहट है। जिसके कारण उनमें एक पारिवारिक रिश्ता होते हुए भी उनके रिश्तों में कहीं भी सामंजस्य नहीं दिखता है। रिश्तों का अधूरापन पूरे नाटक में देखा जा सकता है। सभी पात्रों में आक्रोश, कुंठा और अभाव को देखा का सकता है। इस नाटक में आधुनिक पारिवारिक विघटन को स्पष्ट देखा जा सकता है।

सावित्री-

नाटक के मुख्य पात्र महेन्द्रनाथ और सावित्री हैं। नाटक में इनके चरित्र को इनके उलझे रिश्ते तथा टूटते दाम्पत्य जीवन का मूल्यांकन कर समझा जा सकता है। महेन्द्रनाथ और सावित्री के संबंधों में ऐसी कोई भी बात नहीं है जो उन दोनों को ख़ुशी दे सके। रिश्ते में आज तक इनको एक-दूसरे से खीझ, घृणा और उपेक्षा ही मिली थी। नाटक में दोनों में से किसी एक पात्र को इस रिश्तों के अधूरेपन के लिए जिम्मेदार नहीं ठहराया जा सकता है। एक दृष्टि से महेन्द्रनाथ तो दूसरी दृष्टि से सावित्री इसकी जिम्मेदार लगती है। सावित्री महेन्द्रनाथ को एक कमजोर और अस्तित्वविहीन व्यक्तित्व का मनाती है। इसीलिए उससे खिन्न रहती है और महेन्द्रनाथ सावित्री का अपने प्रति व्यवहार देखकर दुखी रहता है। सावित्री इस बात से दुखी रहती है कि उसकी जिंदगी में महेन्द्र के अतिरिक्त कोई और होता तो वह अधिक सुखी रह सकती थी। पूर्ण पुरुष की तलाश में वह एक से दूसरे व्यक्ति के पास भटकती है, लेकिन उसकी तलाश पूर्ण नहीं होती है, "वह सोचती है कि महेन्द्रनाथ के स्थान पर यदि दूसरा पुरुष होता तो शायद जीवन में सबकुछ ठीक चलता। इसलिए वह एक के बाद दूसरे पुरुष की खोज करती है। यह खोज पहले मन के स्तर पर शुरू होती है, फिर शरीर के स्तर पर उतर आती है। हर तलाश पर लगता है जैसे आकाश बाहों में भर लिया है; पर हर बार हाथों में आकर जैसे वह टूटकर खंड-खंड हो जाता है। यहाँ अनुभव उसे दुनियादार बना देता है।"[59] सावित्री एक ऐसी आधुनिक

नारी है जिसे कोई भी पुरुष पूर्ण नहीं दिखता है। अधिक की चाह में वह किसी पुरुष के साथ सामंजस्य स्थापित नहीं कर पाती है। उसके स्वभाव में एक विचलन है जिसके कारण वह किसी रिश्ते के साथ बाँध नहीं पाती है। आज सयुंक्त परिवार के स्थान पर एकल परिवारवाद में विश्वास बढ़ता जा रहा है और उस एकल परिवार में भी रिश्तों में एक अपनापन नहीं होता है। आज लोग एक घर नहीं मकान में रहते हैं। जहाँ सब एक-दूसरे से कटे रहते हैं, हर कोई अपनी जिंदगी, अपनी शर्तों पर जीना चाहता है जैसा कि महेन्द्रनाथ और सावित्री के इस परिवार का चित्रण इस नाटक में किया गया है। सावित्री एक आधुनिक नारी है जो परिवार को आर्थिक रूप से तो संभालने की कोशिश करती है, किन्तु वैचारिक रूप से घर में सब से उसका मतभेद है। वह पति को अपूर्ण समझती है। सावित्री परंपरागत भारतीय नारी के समान अपने पति से हर परिस्थिति में जुड़े नहीं रहना चाहती है। उसकी इच्छा परिवार को एक सूत्र में बाँधने की नहीं है, बल्कि व्यक्तिगत स्तर पर अपने सुखों की तलाश करना है। तभी वह नाटक में कई पुरुषों के संपर्क में आती है। वह दूसरा घर बसाने में बिल्कुल भी संकोच नहीं करती, लेकिन हर बार विफल हो जाती है। सावित्री के चरित्र के सन्दर्भ में पुरुष चार कहता है, "पर हर दूसरे-चौथे साल अपने को उससे झटक लेने की कोशिश करती हुई। इधर-उधर नज़र दौड़ाती हुई कि कब कोई ज़रिया मिल जाए जिससे तुम अपने को उससे अलग कर सको। पहले कुछ दिन जुनेजा एक आदमी था तुम्हारे सामने। तुमने कहा है तब तुम उसकी इज्जत करती थीं। पर आज उसके बारे में जो सोचती हो, वह भी अभी बता चुकी हो। जुनेजा के बाद जिससे तुम कुछ दिन चकाचौंध में रहीं, वह था शिवजीत। पर जल्दी ही तुमने पहचानना शुरू किया कि वह निहायत दोगला किस्म का आदमी है। हमेशा दो तरह की बातें करता है। उसके बाद आया जगमोहन। पर शिकायत तुम्हें उससे भी होने लगी थी की वह सब लोगों पर एक-सा पैसा क्यों उड़ाता है ? अच्छा हुआ, वह ट्रांसफर होकर चला गया यहाँ से, वरना..।"[60] इस प्रकार पुरुष चार की बातों से लगता है जैसे सावित्री अपने पति के साथ दाम्पत्य जीवन में खुश नहीं है। लेकिन सवाल उठता है फिर उसकी ख़ुशी अन्य पुरुष के संपर्क में आकर भी तो स्थायित्व नहीं पाती है। इससे सावित्री के उस व्यक्तित्व

का बोध होता है जो महत्वाकांक्षी है। वह खुद भी असल में एक अधूरी आधुनिक समाज की प्रतीकात्मक स्त्री पात्र है जो अपनी भौतिक महत्वाकांक्षा के लिए एक पुरुष से दूसरे के पास भटक रही है। पर कहीं भी उसकी यह पूर्ण की तलाश पूरी नहीं हो पाती है, "यह भावना से विहीन संबंध-सूत्र शर्तों के साथ जुड़ा होने के कारण आन्तरिकता का विकास नहीं होने देता। इसके अभाव में पुरुषों के साथ उसका संबंध वस्तुगत या समूहगत-सा बनकर रह जाता है। यह विलक्षण बात है कि पुरुषों के साथ अपने संबंधों को वह 'एडवेंचर'के रूप में लेती है और विरोधों के बीच जीती है- क्षणिक वासना और स्थायी प्रेम की युगपत आकांक्षा उसे घर या घाट कहीं का नहीं रहने देती।"[61] सावित्री का यही चरित्र अंततः अपने उसी घर में महेन्द्रनाथ के साथ रहने के लिए बाध्य करता है। आज सावित्री जैसी न जाने कितनी आधुनिक स्त्रियाँ हैं जो पूर्णता की तलाश में भटक रही हैं।

महेन्द्रनाथ-

महेन्द्रनाथ के सन्दर्भ में यह कहा जा सकता है कि वह इस नाटक में अपनी जिंदगी की लड़ाई हारा हुआ एक पात्र चरित्र है। महेन्द्रनाथ न तो एक पति के रूप में सफल हो सका, न एक परिवार को कुशलतापूर्वक चलाने वाला घर के मुखिया के रूप में। आज महेन्द्रनाथ घर के अन्दर एक वस्तु बनकर रह गया है जिसका बहुत अधिक घर में मोल नहीं है। आर्थिक पराजित और पत्नी के ताने सुनते रहने के पश्चात् अन्दर से महेन्द्रनाथ टूट चुका है। उसका व्यक्तित्व अब बस कुढ़ते रहता है, पर कई बार जिंदगी से हारा हुआ यह इंसान आक्रामक हो जाता है, तो कई बार इन सब से ऊबकर घर छोड़ कर अपने मित्र जुनेजा के पास रहने चला जाता है।

नाटक के एक स्थल पर ये भी पता चलता है कि महेन्द्रनाथ हमेशा से ऐसा नहीं था। वह भी हँसता बोलता था, खुश रहता था, "पुरुष चार : आज महेंद्र एक कुढ़ने वाला आदमी है। पर एक वक्त था जब वह सचमुच हँसता था। अन्दर से हँसता था। पर यह तभी था जब कोई उस पर यह साबित करनेवाला नहीं था कि कैसे हर लिहाज से वह हीन और छोटा है- इससे, उससे, मुझसे, तुमसे, सभी

से। जब कोई उससे यह कहनेवाला नहीं था कि जो-जो वह नहीं है, वही-वही उसे होना चाहिए, और जो वह है..।"[62] आज भी समाज में ऐसे बहुत से मनुष्य हैं जिनकी विवाह से पूर्व की जिंदगी और विवाह के पश्चात् की जिंदगी में काफी परिवर्तन आ जाता है। आज के समकालीन समाज में वैवाहिक जीवन की असफलता मनुष्य के पूरे व्यक्तित्व को झकझोरकर रख देती है और यहाँ तक कि इंसान हँसना तक भूल जाता है। उसके अंदर का आत्मविश्वास समाप्त हो जाता है, जैसे महेन्द्रनाथ का सावित्री के साथ विवाह के पश्चात् होता है। उसका पूरा व्यक्तिव ही बदल जाता है। जहाँ एक ओर सावित्री उसे एक दब्बू, टूटा, हारा हुआ इंसान मानती है, वही वह खुद भी इस व्यक्तित्व को स्वीकार कर लेता है। इसके अतिरिक्त महेन्द्रनाथ के व्यक्तित्व की सबसे बड़ी कमजोरी यह है कि वह खुद पर बहुत अधिक विश्वास नहीं करता है और हर एक छोटी-बड़ी बातों का फैसला खुद न करके दोस्तों से पूछकर उनके कहने से चलता है। जिसके परिणाम स्वरूप उसकी पत्नी उसे एक अस्तित्वहीन और कमजोर व्यक्तित्व का इंसान मानती है। नाटक के एक स्थल पर पुरुष चार से वह कहती भी है, "स्त्री : इसीलिए कह रही हूँ कि जब से मैंने उसे जाना है, मैंने हमेशा हर चीज के लिए उसे किसी-न-किसी का सहारा ढूंढते पाया है। ख़ास तौर से आपका। यह करना चाहिए या नहीं-जुनेजा से पूछ लूँ। वहाँ जाना चाहिए या नहीं-जुनेजा से राय कर लूँ । कोई छोटी-से-छोटी चीज खरीदनी है, तो जुनेजा की पसंद की। कोई बड़े-से-बड़ा खतरा उठाना है- तो भी जुनेजा की सलाह से। यहाँ तक कि मुझसे ब्याह करने का फैसला भी कैसे किया उसने ? जुनेजा के हामी भरने से। जिंदगी में हर चीज की कसौटी जुनेजा। क्यों ? क्योंकि जुनेजा तो एक पूरा आदमी है अपने आप में। और वह खुद ? वह खुद एक पूरे आदमी का आधा-चौथाई भी नहीं है।"[63] नाटक में राकेश ने महेन्द्रनाथ के रूप में एक ऐसे आधुनिक पुरुष पात्र की कल्पना की है, जो अपनी जिंदगी को जीता नहीं है, बल्कि ढोता है। आज बहुत से लोग समाज में मिल जाएँगे जो किसी न किसी रूप में अपनी जिंदगी से हार कर अपने जीवन को जीते नहीं रहते हैं, बल्कि ढोते रहते हैं। जैसे इस नाटक में महेन्द्रनाथ। वह हर बार ज़िल्लत सहने के बाद घर से निकल जाता है, किन्तु हर बार लौट भी आता

है। महेन्द्रनाथ आधुनिक समय की देन है। जिसकी इच्छाशक्ति समाप्त हो चुकी है। उसकी जिंदगी ऐसी हो चुकी है कि वह दो पैर और दो हाथों के होते हुए भी एक रेंगता हुआ जीव बनकर रह गया है, "महेन्द्रनाथ की वर्तमान स्थिति ऐसी है कि वह जी नहीं रहा अपितु जिंदगी का भार ढो रहा है। मध्यवर्गीय बहुत से लोगों की यही स्थिति हुआ करती है।"[64] इस प्रकार महेन्द्रनाथ इस नाटक का एक ऐसा पात्र है जो आज के समकालीन समाज में उस व्यक्ति विशेष को संबोधित करता है, जो अपनी जिंदगी में हर तरह से हार चुका है। न ही उसे आर्थिक रूप से सफलता मिली, जो कि आज के समय में सफल होने का प्रतीक है, न पारिवारिक साथ, न सम्मान। इसीलिए महेन्द्रनाथ का व्यक्तित्व एक खंडित इंसान का प्रतीक है।

बिन्नी, किन्नी और अशोक-

महेन्द्रनाथ के समान परिवार के अन्य सदस्यों का भी व्यक्तित्व विसंगतियों से भरा पड़ा है। बिन्नी, किन्नी और अशोक महेन्द्रनाथ की विसंगतियों के ही अन्य रूप हैं। मूलतः मोहन राकेश ने एक ही तरह के जीवन की समस्या को दो पीढ़ियों के माध्यम से चित्रित किया है। कार्ल मार्क्स ने ठीक लिखा है, "जब जीवन एक कार्य-व्यापार मात्र रह जाता है तो उसकी ऐतिहासिक विशेषता ख़त्म हो जाती है। जिससे विभिन्न वर्गों के लोगों में एक-स्तरीयता आ जाती है। यौन आकांक्षा, जो युवा-वर्ग की अपेक्षित भूख है, वह सबकी भूख बन जाती है और एक ख़ास उम्र के बीत जाने पर बड़ी उम्र के लोग उस ओर अपना रुझान दिखाने लगते हैं। लोग ऐसा व्यवहार करने लगते हैं जैसे वे सब एक ही उम्र के हों। बच्चे बड़े लोगों की तरह हो जाते हैं। जब बूढ़े जवान होने का बहाना करें तो जवान लोगों के मन में उसके लिए कोई आदर नहीं रह जाता है।"[65] इस नाटक में भी दो पीढ़ियों की विसंगतियों और उसके अधूरेपन को दिखाया गया है। जितने भी मुख्य बड़े पात्र इसमें हैं- जगमोहन, सिंघानिया, सावित्री सभी युवाओं के समान कुत्सित व्यवहार करते हैं। छोटे उम्र के युवा जैसे किन्नी अपने तेरह वर्ष की आयु में बड़ों के समान शारीरिक संबंधों को लेकर बातचीत में आनंद लेती है। बिन्नी अपनी माँ के प्रेमी मनोज के साथ भागकर विवाह कर लेती है और अशोक बेकारी में नग्न तस्वीरों को

काटता अपना दिन बिताता है। रुकी हुई जिंदगी का शिकार अगर अशोक है तो बिन्नी और किन्नी की जिंदगी शिकार है अवरोध में कैद आक्रोश की। किन्नी में आक्रोशता है, तभी किन्नी घर में स्नेह न मिलने के कारण छोटी उम्र में भटक चुकी है। बिन्नी कैद से मुक्ति की कामना में घर से भाग जाती है। परिवार के सभी सदस्य एक ही तरह की कमोबेश जिंदगी जी रहे हैं। महेन्द्रनाथ के पास रोजगार और पैसा नहीं होने के कारण घर में न पत्नी, न बच्चे उसका सम्मान करते हैं, सिवाय अशोक के, जो थोड़ी बहुत सहानुभूति महेन्द्रनाथ से रखता है। घर के ऐसे हालात में सावित्री आर्थिक रूप से घर तो संभालती है, किन्तु वह भी हालातों से ऊब अपनी अधूरी जिंदगी को पूर्ण बनाने में भटकती रहती है। ऐसे में बच्चों के व्यक्तित्व पर इसका प्रभाव स्वाभाविक है। राकेश ने नाटक में कहीं न कहीं हमारे आस-पास की युवाओं का ही चित्रण किया है। कम उम्र में अपने माता-पिता या अभिभावकों का मार्गदर्शन न मिलने पर जीवन में भटक जाते हैं। ऐसे बच्चों पर घर के माहौल और बड़ों के चरित्र की छाया देखी जा सकती है। जैसे इस नाटक में भी महेन्द्रनाथ और सावित्री के चरित्र का ही खंडित अधूरे अंश की छाया उनके तीनों बच्चों में देखी जा सकती है। बिन्नी और किन्नी में उसकी माँ का व्यक्तित्व देखा जा सकता है। बिन्नी का असफल वैवाहिक जीवन और असंतोष उसकी माँ के व्यक्तित्व का ही हिस्सा लगता है। किन्नी का विद्रोही झगड़ालू स्वभाव भी उसकी माँ के व्यक्तित्व का ही अंग प्रतीत होता है। अशोक अपने पिता महेन्द्रनाथ के व्यक्तित्व का ही अंग है। अशोक भी अपने पिता के घर में बेकार बैठा दिन काटता है। अपनी माँ सावित्री के पुरुष मित्रों को अपने पिता के समान ही नापसंद करता है, चिढ़ता है, क्रोध करता है और घर से भाग जाने की उसकी इच्छा होती है। अतः अशोक के स्वभाव में उसके पिता की ही प्रतिछाया दिखती है।

जुनेजा, सिंघानिया और जगमोहन-

नाटक में अन्य ऐसे पात्र हैं जो महेन्द्रनाथ और सावित्री के परिवार से जुड़े हुए हैं। उनके चरित्र में एक विरोधाभास देखा जा सकता है। जैसे जुनेजा के सन्दर्भ में नाटक के शुरू से यह आभास होता है कि वह एक स्वार्थी व्यावसायिक आदमी है। लेकिन नाटक के अंतिम स्थल पर जहाँ उसकी बहस

सावित्री से होती रहती है, उस जगह पता चलता है कि वह तो मित्रता निभाने वाला एक सच्चा दोस्त है। वह हमेशा ही महेन्द्रनाथ की भलाई की बातें सोचता है। वह जुबान से कटु लेकिन सच्ची बातें कहता है। उसके चरित्र की खासियत यह है कि वह अपने आस-पास की घटनाओं को अच्छी तरह से समझता है और उनका मूल्यांकन करता है। तभी नाटक के अंत में सावित्री के सामने महेन्द्रनाथ के व्यक्तित्व के सन्दर्भ में भी तमाम दलीलें देता है। जिससे नाटक के अंतिम स्थल पर जाकर पाठक और दर्शक को महेन्द्रनाथ के व्यक्तित्व के सन्दर्भ में कई नई बातें जानने को मिलती हैं।

जगमोहन एक स्वार्थी इंसान है, जिसे किसी के प्रति विशेष लगाव नहीं है। वह बस अपने स्वार्थ और जरूरतों की पूर्ति के लिए लोगों से जुड़ता है। लोगों से बातचीत में वह मधुरभाषी भी है। दूसरों पर पैसे खर्च करने से भी नहीं झिझकता है। लेकिन भावनाओं से उनका कोई वास्ता नहीं है। उसके लिए सावित्री या कोई भी स्त्री खाली समय में मन बहलाने के लिए एक साधन मात्र है। जगमोहन अंततः सावित्री को जिंदगी में सहारा नहीं देता है, उसके साथ घर नहीं बसाता है। जगमोहन और सिंघानिया के चरित्र के सन्दर्भ में यह वक्तव्य दृष्टव्य है, "वे उस संघर्षशील सावित्री के व्यक्तित्व से प्रभावित होकर उसके प्रति आकृष्ट नहीं। उनके लिए सावित्री का संघर्ष तथा व्यक्तित्व कोई मायने नहीं रखता। उनके लिए सावित्री मात्र एक स्त्री है- पुरुष के अवकाश के क्षणों के मनबहलाव का साधन। सिंघानिया सावित्री के घर पहुँचकर जब उसकी युवा बेटी बिन्नी को देखता है तो उसका सारा ध्यान उसकी ओर केन्द्रित हो जाता है।"[66]

सिंघानिया उस वर्ग का प्रतिनिधित्व करता है जो अपने पद का दुरूपयोग कर अपने दफ्तर की स्त्रियों का शोषण करता है। उसके चरित्र में बनावट है, जिससे वह बड़ी-बड़ी देशहित और अहिंसा जैसे मूल्यों की बातें करता है। अपनी अज्ञानता को बड़ी-बड़ी बातों से छिपाता है। जुनेजा और सिंघानिया भी आज के समाज का ही हिस्सा हैं, कभी वे सहानुभूति और सहारा देने का अभिनय करते हैं तो कभी हमारी बिखरी जिंदगी का फायदा उठाने आ जाते हैं।

इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि मोहन राकेश कृत 'आधे-अधूरे' नाटक के सभी पात्र आधुनिक समाज और परिवार के ही एक उदाहरणार्थ जीवंत चरित्र हैं। इसके बावजूद भी सभी पात्रों में एक विचित्र एकरसता देखी जा सकती है। सभी पात्रों में एक तरह की जिंदगी के प्रति मोह है। उनकी जिंदगी अप्रामाणिक प्रतीत होती है। जो व्यवस्था और अपनी सुविधाओं से समझौता किये होते हैं। तभी उन सबकी जिंदगी और चरित्र में एक नकारात्मकता का ही बोध होता है। इस प्रकार देखें तो परिवार के सभी पात्र एक ही मनःस्थिति से गुजरते रहते हैं। उनमें संबंधहीनता, कटुता और एक-दूसरे के प्रति घृणा ही है। सारे पात्र एक छलावे में ही जीते रहते हैं। इसलिए सभी पात्रों को यह परिस्थितियाँ एक जगह लाकर खड़ी कर देती हैं। इसीलिए नाटककार ने नाटक में किसी को नाम से संबोधित न करके लड़का, बड़ी लड़की , छोटी लड़की, स्त्री, पुरुष, पुरुष एक, दो, तीन, चारकह कर संबोधित किया है। काले सूट वाला तभी तो कहता है कि निश्चित कुछ भी नहीं है, "परिस्थितियाँ बदल जाती हैं, मैं वही रहता। यह निर्णय करना इतना ही कठिन होता है कि इसमें मुख्य भूमिका किसकी थी- मेरी, उस स्त्री की, परिस्थितियों की, या तीनों के बीच से उठते कुछ सवालों की ?"[67] अतः यह कहा जा सकता है कि आज के समय में इस नाटक में यह परिवार आज के विघटित परिवार का एक जीवंत उदाहरण है। हाँ बस नाम बदल दो, परिवार बदल दो, परिस्थितयाँ बदल सकती हैं। लेकिन आज के पारिवारिक विघटन का सवाल वही रहेगा जो इस नाटक के माध्यम से उठाने का प्रयत्न नाटककार ने किया है।

3.4 पैर तले की जमीन

मोहन राकेश का अंतिम नाटक है 'पैर तले की ज़मीन'। जिसका एक अंक लिखकर, अपूर्ण ही छोड़ राकेश इस दुनिया को अलविदा कह गए। जिसके पश्चात् इस अधूरे नाटक को उनके मित्र कमलेश्वर ने पूरा किया है, किन्तु जिस नाट्य-कथा का लक्ष्य लेकर राकेश इस नाटक को लिख रहे थे, उस लक्ष्य तक कमलेश्वर इस अधूरे नाटक को शायद नहीं पहुंचा सके हैं। जिसके कारण साहित्य की दुनिया को इसका अधूरापन अधिक खला। इस नाटक के संबंध में 'नटरंग 21' में कुछ नोट्स छपे

थे, इन नोट्स के माध्यम से मोहन राकेश के अंतिम नाटक को समझा जा सकता है। इस नाटक में मोहन राकेश ने मृत्यु के आगे मानवीय अस्तित्व को बौना दिखाया है तथा मानवीय अंतिम इच्छाओं को चित्रित करना चाहा है। इसके अतिरिक्त नैतिकता, सामाजिक वर्जनाओं और उनके अन्य नाटकों के समान स्त्री-पुरुष के संबंधों की परीक्षा करना इस नाटक का उद्देश्य है। किन्तु नाटक अधूरा रह जाने के कारण, नाटक उस सफलता की ऊँचाई को नहीं छू सका। किन्तु फिर भी इस नाटक की पृष्ठभूमि में आज की आधुनिक ज्वलंत समस्याओं को नाटक के माध्यम से प्रस्तुत किया गया है, जैसे- मृत्यु का भय, नैतिकता, भ्रष्टाचार, बलात्कार, स्त्री-पुरुष संबंध, अपराध, निषेध और आत्मस्वीकार आदि विषयों को स्थान दिया गया है। मोहन राकेश ने 'आधे-अधूरे' के समान ही मानवीय जिंदगी के बिखराव, बेचैनी, अस्त-व्यस्त जिंदगी, खालीपन और हड़बड़ाहट को इस नाटक के माध्यम से रूपायित किया है।

नाटक के कथानक पर एक दृष्टि डालें तो यह नाटक भी आधुनिक लोगों के खंडित व्यक्तित्व की कथा है। नाटक के पात्र प्रतीक रूप में आज के वास्तविक मानवीय रूपों को संबोधित करते हैं। नाटककार मोहन राकेश ने आज के अवसरवादी मनुष्यों के चरित्रों को प्रस्तुत किया है। जिनका ऊपरी आवरण देखने से तो सभ्य और सुसंस्कृत दिखते हैं, किन्तु वास्तविकता में उन्हें बस एक अवसर मिलना चाहिए, वे इंसान से शैतान बन जाते हैं। नाटक के सभी पात्र एक विचित्र सी स्थिति में एक जगह पर इकट्ठे होते हैं। अब्दुला, निरा, झुनझुनवाला, नियामत, पंडित, अयूब, सलमा और गुड्डो दीदी, सभी एक ही स्थान पर जमा होते हैं। जो शायद उनकी नियति भी है, "उनका एक साथ इकट्ठे होना उनकी नियति है। वे एक-दूसरे को न जानते हुए भी जानतें हैं और सही अर्थों में जानते हुए भी बिल्कुल नहीं जानते। 'पानी को बढ़ने दो, तुम्हारा मुझे जान लेना जीते रहने से ज्यादा जरूरी है ?' ... 'मुझे नहीं लगता कि रुककर भी जान पाऊंगा।' लगभग सभी पात्र इसी मनःस्थिति से गुजर रहे हैं।"[68] दरअसल ये सभी पात्र कश्मीर से दूर एक पर्यटन स्थल पर दो नदियों के मध्य स्थित एक द्वीप पर एक क्लब हाउस में इकट्ठा होते हैं। बाढ़ के आने से क्लब से बाहर जाने वाले पुल में दरार

आ जाती है और सभी पात्र वहीं उस क्लब में फँस जाते हैं। क्लब के क्लर्क का नाम अब्बदुला है। अब्दुला समेत क्लब में निरा, झुनझुनवाला, नियामत, पंडित, अयूब, सलमा और गुड्डो दीदी सभी फंस जाते हैं। बाढ़ का पानी तेजी से बढ़ता रहता है और उनके अन्दर मृत्यु का भय जन्म ले लेता है। सब जीना चाहते हैं। किन्तु उनकी मुसीबत बढ़ती ही जाती है। क्लब में बिजली और टेलीफोन की लाइन भी बाधित हो जाती है। बाढ़ का पानी बढ़ता जाता है और क्लब के अन्दर प्रवेश कर जाता है। उधर बाहर जाने के एक मात्र पुल में भी दरारें बढ़ती जाती हैं। सभी लोगों के अन्दर मौत का भय दिखने लगता है। नाटक में एक ऐसा समय आता है जब सबको लगता है कि अब बचने का शेष कोई मार्ग नहीं बचा है, तो क्लब में मौजूद सभी लोग अपने-अपने तरीके से ज़िंदगी के इस आखरी लम्हे को जी लेना चाहते हैं। तभी अयूब नशें में अपनी इच्छा प्रकट करते हुए कहता है कि उसे इस अंतिम समय में एक औरत का साथ चाहिए। दूसरी ओर पंडित की पत्नी का झुनझुनवाला से संबंध रहता है। जिसका पंडित को भी बोध होता है। अयूब और पंडित दोनों नशे में कहते है, "अयूब: उधर मुझे एक औरत चाहिए। औरत जो मौत के खतरे के बावजूद मेरा साथ दे सके। समझे। नहीं समझे कोई बात नहीं।

पंडित : वो आदमी ठीक कहता है।

झुनझुनवाला : क्या ठीक कहता है ?

पंडित : ऐसी औरत चाहिए जो मौत के खतरे के बावजूद साथ दे सके।

झुनझुनवाला : ऐसी औरत होती है..

पंडित: होती है !

झुनझुनवाला : कहाँ देखी है ?

पंडित : अपने घर में ! मेरी औरत..

झुनझुनवाला : क्या मतलब ?

पंडित : मेरी औरत ! मेरी बीवी। जो मौत के खतरे के बावजूद तेरा साथ दे सकती है।

झुनझुनवाला : क्या बक रहा है तू !

पंडित : तुझे मेरी बीवी की नहीं, इस वक्त भी अपनी इज्जत का ख़याल है..

झुनझुनवाला : यह इल्ज़ाम है !

पंडित : तुझ पर नहीं खुद अपने पर। ओह यह ज़िंदगी। यह इल्ज़ाम है खुद अपने पर।"[69] इस प्रकार नाटककार ने नाटक के इस अंश में अयूब के माध्यम से आधुनिक समाज में मनुष्यों की उस दमित भावना को प्रकट करवाया है जो व्यक्ति में कहीं न कहीं किसी रूप में दबी होती है। लेकिन ज़िंदगी में एक मोड़ ऐसा आता है जब वह भावना बाहर आ ही जाती है। जैसे क्लब में फंसे लोग अपनी अंतिम इच्छा जाहिर करते हैं। पंडित, झुनझुनवाला और उसकी पत्नी के सन्दर्भ में देखें तो पंडित अपने सामने मौत को देख अपनी ज़िंदगी और उससे जुड़ी सच्चाई को स्वीकार कर लेता है। इसके अलावा अपनी पत्नी के चरित्र को खोलकर रख देता है, इसका इल्ज़ाम भी खुद लेता है। वहीं झुनझुनवाला इस आखरी वक्त में भी अपनी इज्ज़त को ही बचाना चाहता है। किन्तु पंडित नशे में अपनी ज़िंदगी के सारे सच उगल देता है। पैरों तले की ज़मीन निकलते देख पंडित अपने लिजलिजी और झूठी ज़िंदगी के सच को स्वीकार कर लेता है। तभी वह कहता है- "मेरी आज तक की ज़िंदगी एक नपुंसक आदमी की ज़िंदगी नहीं रही ? रही है ! किसलिए ? सिर्फ ज़िंदा रह सकने के लिए ? नहीं ! नहीं ! नहीं! ज़िंदा रह सकने के लिए नहीं, दूसरों की तरह ज़िंदा रह सकने के लिए। इस दोगले दौर में मैं खुद अपना आप बनकर अपने लिए नहीं रह पाया मैं एक साया बन कर रह गया, जो कभी इससे, कभी उससे चिपक जाना चाहता था।"[70] पंडित के अतिरिक्त अयूब और सलमा के भी वैवाहिक जीवन में उथल-पुथल मचा रहता है। अयूब सलमा के चरित्र पर शक करता है, जिससे दोनों ही एक दूसरे की ज़िंदगी से दूर हो जाना चाहतें हैं। इसके अतिरिक्त अयूब चरित्रहीन भी है।

बाढ़ के रूप में मौत को सामने देख अंतिम हसरत पूरी करने के लिए रीता का शारीरिक शोषण करता है। वहीं उसकी बुरी नज़र छोटी सी लड़की नीरा पर भी होती है। आधुनिक समाज में इंसान कैसे हिंसक होता जा रहा है उसका चित्रण नाटक में अयूब के माध्यम से किया गया है। नीरा जिसे नाटककार ने जीवन के प्रति आस्थावान लड़की के रूप में चित्रित किया है। वह भी नाटक के एक स्थल पर डरी सहमी दिखती है। एक ओर जहाँ वह बाढ़ के खतरे से निडर उसका सामना करने की बात करती है, वहीं अयूब जैसे इंसान के इस हैवान चरित्र को देख कर भय-ग्रस्त हो जाती है,

"रीता : नीरा .. नीरा..क्या हुआ है तुझे ?

नीरा : मुझे बहुत डर लग रहा है दीदी..

रीता : किस चीज से ..

नीरा : हर चीज से। अँधेरे से, तुम सबसे..मुझे तुमसे भी आज डर लग रहा है, दीदी। तुमसे भी। (कहते हुए वह अयूब की ओर फटी-फटी आँखों से देखती है और एकदम चीख पड़ती है) इस.. इस दरिंदे से, दीदी..(और रो पड़ती है)।"[71] बाढ़ का पानी अंततः क्लब के अन्दर घुस जाता है। क्लब में मौजूद हर एक व्यक्ति ज़िंदगी और मौत के बीच फंसा हुआ है। ऐसे में हर एक व्यक्ति ज़िंदगी में एक आखिरी इच्छा रखता है, तो आखिरी फैसला भी लेता है जैसे झुनझुनवाला मरने से पहले अपने सारे कर्ज़ उतार देना चाहता है तभी वह पंडित को चेक बनाकर देता है और कहता है कि वह अपना सारा कर्ज उतार कर मरना चाहता है, " झुनझुनवाला : ताश छोड़ो... मुझे कुछ जरूरी काम करने हैं... मैं सब कर्ज़ अदा करके मरना चाहता हूँ। खैर... ये दो लाख पांच हजार का चैक लालचंद बालचंद को दे देना.. उनका कमीशन देना था। ये एक लाख सत्ताईस हज़ार इंजीनियर चटर्जी का कमीशन...।"[72] नीरा और रीता अपनी इच्छा से मौत को गले लगाना चाहती हैं। मौत उन्हें लील जाए उससे पहले बाढ़ के पानी में कूदकर वे मौत को गले लगा लेना चाहती हैं। वहीं नियामत और अब्दुला जीना चाहते हैं। नियामत अपनी बूढ़ी माँ के लिए ज़िंदा रहना चाहता है, वहीं अब्दुला

अपने नवजात बच्चे के लिए ज़िंदा रहना चाहता है। ज़िंदगी के इस मोड़ पर हर कोई अपनी ज़िंदगी को अलग-अलग दृष्टि से देखता है। पर ज़िंदगी उनका साथ देती है और अकस्मात पानी धीरे-धीरे कम होने लगता है। क्लब में फसे लोगों को टॉर्च की रोशनी के साथ कई लोग मदद के लिए आते दिखते हैं। अंततः कई घंटे ज़िंदगी और मौत का सामना करने के बाद सभी बच जाते हैं। लेकिन कुछ एक घंटों की घटना पर आधारित यह नाटक आज के आधुनिक मनुष्य के चरित्र और स्वभाव को चित्रित करने में सफल है।

मोहन राकेश के इस नाटक से पूर्व 'आधे-अधूरे' में जहाँ मध्यवर्गीय परिवार के माध्यम से आधुनिक मानवीय रिश्तों के टूटने, उसके खोखलेपन और अधूरेपन को दिखाया गया है, वहीं ' पैर तले की ज़मीन' नाटक में उच्चवर्ग के उन लोगों की विलासिता और उसमें डूबते-उगते उनके व्यक्तित्व एवं चरित्र को बेहतरीन नाट्य-कथा के माध्यम से प्रस्तुत किया गया है। यह नाटक आज के आधुनिक मानव के सामने यह सवाल उठाता है कि आज रिश्ते अधूरे और खंडित क्यों होते जा रहें हैं। ख़ासकर उच्चवर्ग की ज़िंदगी भोग-विलास में डूबी सतही ज़िंदगी जीने के लिए अभिसप्त है। उच्चवर्ग के लोगों के पास भौतिक सुख तो हैं, पर कहीं न कहीं उनकी ज़िंदगी भी खंडित है। झुनझुनवाला भी नाटक के अंत में अकस्मात मौत को आगे देख अपनी ज़िंदगी में किये गलत कार्यों को स्वीकार कर लेता है। वह कहता है, "हाँ ... मैं पैदा हुआ तो पहला मंत्र मेरे कान में फूंका गया था कि दुनिया में बड़ी मछली छोटी मछली को खाकर ही जी सकती है और बड़ा होने के साथ-साथ मैंने जाल बुनना सीखा। हर जाल में सैकड़ो मछलियों को उलझाया और खुश होता रहा। दूसरे लोग कहते थे पैसों के पेड़ नहीं लगते। पर मेरे लोग कहते थे लगते हैं और खूब लगते हैं। मैंने पैसों के पेड़ लगाकर देखे.. वे लगे, फूले-फले। मैं सबसे बड़ा मछलीमार था। जिसके कारखाने में बड़ी-बड़ी मछलियाँ डब्बों में बंद की जाती थीं। पर आज इस वक़्त मैं देख रहा हूँ कि मैं खुद भी एक मछली हूँ। अपने ही जाल में फंसकर तड़पते अपने डब्बे में ही बंद।"[73]

आज के आधुनिक परिवारों में दाम्पत्य जीवन तनाव, बिखराव और अलगाव आदि भावों के कारण खंडित होता जा रहा है। अयूब और सलमा, पंडित और उसकी पत्नी का दांपत्य जीवन भी इन्हीं भावों के कारण बिखर जाता है। समाज में आज अनैतिक संबंध बढ़ता ही जा रहा है। अनैतिक संबंध आज एक सामाजिक भ्रष्टाचार बन चुका है। यह सामाजिक भ्रष्टाचार आज समाज के हर एक वर्ग में फ़ैल चुका है। इससे पूर्व मोहन राकेश ने अपने नाटक 'आधे-अधूरे' में जहाँ मध्यवर्गीय जीवन के माध्यम से इस पारिवारिक विघटन को दिखाया है, वहीं इस नाटक में उच्चवर्गीय जीवन को प्रस्तुत किया है। इस नाटक में अयूब जहाँ ऐसी कुत्सित मानसिकता रखता है, वहीं पंडित भी ऐसी मानसिकता का समर्थन करता दिखता है। उच्चवर्गीय भोगवादी आधुनिक जीवन में अयूब प्रतीक है उस व्यक्तित्व का जिसके लिए जीवन का अर्थ ही भौतिक सुख है। जीवन में मृत्यु को समीप देखकर उसकी अंतिम इच्छा यही होती है कि उसे किसी स्त्री का साथ मिले। अयूब कहता है, "मैं होश में हूँ सलमा .. बिल्कुल होश में, दरिया में बह जाने से पहले एक बार पानी यहाँ तक (गले तक) बढ़ आने से पहले एक बार मैं उसके भोलेपन के साथ ..उसके इन्नोसेंस के साथ...।"[74] अयूब के इस संवाद से आज के मनुष्य के अन्दर की हिंसक पशु प्रवृत्ति को देखा जा सकता है। आधुनिक कालीन मनुष्य की भोगवाद केन्द्रित मानसिकता ने मनुष्य को कैसे इंसान से जानवर बना दिया है, उसका बोध हमें इस नाटक में अयूब के माध्यम से होता है।

इस प्रकार मोहन राकेश का अंतिम और अधूरा नाटक 'पैर तले की ज़मीन' एक ऐसा नाटक है जिसमें मोहन राकेश ने अब की बार आधुनिक उच्चवर्गीय जीवन और उसके विभिन्न पक्षों को उद्घाटित करने का प्रयत्न किया है। जिसमें उन्होंने अपने अन्य नाटकों की भांति ही आज के आधुनिक कहे जाने वाले मनुष्य और उसकी बिखरी ज़िंदगी को चित्रित किया है। इस नाटक के माध्यम से समकालीन मानवीय जीवन और जीवन से जुड़े अंतिम सत्य और मृत्यु, उससे उत्पन्न भय को एक आधार बनाकर इंसान के आंतरिक व्यक्तित्व को बाहर लाने का प्रयत्न नाटककार ने किया है। इसके अतिरिक्त इस नाटक से इस बात का भी बोध होता है कि हम अपनी ज़िंदगी में कितने भी भौतिक

सुखों को अर्जित क्यों न कर लें, हम सुख संपदा से कितने भी समृद्ध क्यों न हों, किन्तु जब हमारे सामने मृत्यु आती है तब उसके आगे बिल्कुल बेबस और नंगे साबित होते हैं। जीवन में संघर्ष करो या समर्पण, संघर्ष इन्सान को ज़िंदा रखता है और समर्पण उसकी ज़िंदगी को समाप्त कर देता है। जैसे नाटक में जीने की इच्छा और उनका संघर्ष ही नाटक के सभी पात्रों को अंत तक ज़िंदा रखता है। वहीं इसका दूसरा पक्ष यह है कि अयूब और उसकी पत्नी सलमा, पंडित और उसकी पत्नी आदि सभी पात्र एक व्यक्ति के रूप में संघर्षरत नहीं होते हैं। तभी उनका दाम्पत्य जीवन खंडित रहता है। अपनी ज़िंदगी की इस सच्चाई को जानकार भी उसे अपनी ज़िंदगी की नियति मानकर उससे समझौता करके बैठे रहते हैं। वे घिरे हुए हैं संबंधहीनता से। यह संबंधहीनता ही इन्हें अनैतिकता और मूल्यहीनता की ओर घसीट कर ले जाती है। इस नाटक का शिल्प पक्ष उतना ठोस नहीं है। मोहन राकेश के इससे पूर्व तीनों नाटक जिस आधुनिक मानवीय चरित्र उसकी बाह्य आंतरिक जीवन की उथल-पुथल, टूटन, खोखलापन, द्वंद्व, आदि को प्रस्तुत करने में सफल हुए, उस दृष्टि से यह नाटक उतना सफल नहीं हो पाया है। फिर भी यह नाटक आज एक आधुनिक मानव के विकृत व्यक्तित्व, कुंठा, संबंधहीनता, नफरत आदि को कमोबेश चित्रित करते नजर आता है, ऐसा कहना गलत नहीं होगा।

'पैर तले की ज़मीन' नाटक के सभी पात्र आज के उच्चवर्गीय जीवन के प्रतिनिधि पात्र हैं। जिनका जीवन यौन-कुंठा, अस्तित्वहीनता, धोखा, अविश्वसनीयता आदि से घिरा हुआ है। अब्दुला, नियामत, अयूब, सलमा, नीरा, रीता, झुनझुनवाला ये सभी पात्र आधुनिक जीवन के विभिन्न पक्षों को प्रस्तुत करते हैं।

अयूब-

आधुनिक मनुष्य जो यौन कुंठाओं से ग्रसित है, जो स्त्री को सिर्फ भोगवादी दृष्टि से ही देखता है, जिसका जीवन अविश्वास और संशय ग्रस्त है, ऐसे ही व्यक्ति का प्रतिनिधि पात्र अयूब है। अयूब का

दाम्पत्य जीवन संशयग्रस्त और टूटा हुआ है। उसे अपनी पत्नी सलमा के चरित्र पर भरोसा ही नहीं है। वह उसके चरित्र का मूल्यांकन उसके अतीत के साथ जोड़कर करता है। यही कारण है कि अपनी पत्नी सलमा को अपनी ज़िंदगी में सही स्थान नहीं देता है। उससे प्रेम के स्थान पर घृणा करता है। अयूब के चरित्र से एक ऐसे पुरुष कीमानसिकता का आभास होता है, जिसके लिए स्त्री की पवित्रता ही पति से प्रेम, सुख और सम्मानित जीवन की गारंटी देती है। आज का समाज एक ओर आधुनिकता के नये-नये आयाम गढ़ रहा है। दूसरी ओर समाज में न जाने कितने अनगिनत अयूब जैसे व्यक्तित्व के लोग हैं, जो अपने दाम्पत्य जीवन को इसी मानसिकता के कारण स्वाहा करने पर तुले रहते हैं। जीवन के सुनहरे भविष्य के स्थान पर वे उस अतीत को ढोते हैं, क्योंकि उनकी पत्नियों का कोई अतीत होता है। यही सोचकर अपने दाम्पत्य जीवन को बर्बाद कर लेते हैं। अयूब भी एक ऐसा ही नाट्य पात्र चरित्र है जो सलमा के प्रति एक नकारात्मक भाव रखता है। विवाह से पूर्व डॉक्टर के साथ सलमा के प्रेम संबंध को लेकर वह पल-पल उसे जलील करता रहता है। इसके अतिरिक्त अयूब यौन कुंठित भी है। वह क्लब में बाढ़ से घिर जाने की बात जानकर और मौत को नजदीक देखकर अस्वाभाविक लालसा रखता है। उसकी शारीरिक भोग की लालसा रहती है। ऐसे में न केवल रीता के साथ यौन कुंठित अयूब बलात्कार करता है बल्कि नीरा, जो एक छोटी-सी लड़की है उसका भी यौन शोषण करता है। अयूब का रीता और सलमा से नाटक के एक स्थल पर हुए संवाद से उसकी यौन उत्कंठा का पता चलता है, "सलमा : तुम उसकी तरफ देख भी नहीं सकते।

अयूब क्यों ?

रीता : इसलिए कि वह अकेली नहीं है।

सलमा : और तुम जो चाहते हो, वह नहीं कर सकते।

रीता : मुझे तुम्हारे इस इरादे से नफरत है..

अयूब : नफरत, तुम्हें..तुम्हारा मेरा कोई रिश्ता नहीं ... सिवा उन अधूरे लम्हों के.. और नफरत का सवाल बिना रिश्तों के नहीं उठता.. और रिश्ते कायम होते देर लगती है। (रीता की बांह पकड़ता है) पर अब इस मौत के साये में कुछ रिश्ते तय होकर रहेंगे..।"[75] अयूब का व्यक्तित्व एक आत्मकेंद्रित व्यक्ति का है, जो सिर्फ पाने की लालसा रखता है। तभी अपनी इस इच्छा की पूर्ति के लिए हर प्रकार से दूसरों को आहत करता है, शारीरिक और मानसिक दोनों ही प्रकार से। एक तरफ वह अपनी पत्नी सलमा को बार-बार जलील करके उसे मानसिक तौर पर प्रताड़ित करता है तो दूसरी ओर रीता और नीरा का शारीरिक शोषण करता है। आज के आधुनिक समाज में अयूब जैसे बहुत से पात्र चरित्र हैं ऐसा कहा जा सकता है, जिसका जीवन भोग विलास केन्द्रित होता है। साथ ही स्त्री उसके लिए उसकी जरूरत की एक वस्तु के समान होती है। जिसके साथ उसका संबंध तब तक ही होता है जब तक उसे उसकी जरूरत होती है। अतः अयूब आधुनिक समाज में यौन कुंठित लोगों का प्रतिनिधि पात्र है।

सलमा-

सलमा नाटक में अयूब की पत्नी और नाटक की एक मुख्य स्त्री पात्र है। सलमा के चरित्र का मूल्यांकन करें तो वह एक ऐसी पत्नी है जो अपने पति अयूब से जलील होकर भी उससे अलग नहीं होती है। लेकिन अयूब के चरित्र से घृणा भी करती है। वह उसे खुश रखने का पूर्ण प्रयत्न करती है, किन्तु अयूब हमेशा उसके अतीत को लेकर उसे ताने मारता है। सलमा का यह चरित्र, उसकी यह भावना, उसे भारतीय परम्परावादी स्त्री के नजदीक लेकर जाता है। जहाँ पति की तमाम बुराइयों के बावजूद भी वह उसे अपनी ज़िंदगी से अलग नहीं करती है, अपनी ज़िंदगी में जो सुनहरे दापत्य जीवन की कभी कल्पना की थी, उसके टूटने पर भी उम्मीद का दामन नहीं छोड़ती है। ज़िंदगी में सब सही हो जाने की आश लिए ज़िंदगी में तमाम ज़िल्लत, कष्टों, दुखों को झेल जाती है। किन्तु कहीं न कहीं अपने पति के प्रति उसका मोह नहीं टूटता है,

"अयूब : पर तुम्हारे अन्दर की आवाज़ नफरत की नहीं है।

सलमा : है।

अयूब : नहीं यह नफरत की नहीं ऊब की आवाज़ है।

सलमा : जिसने मुझे खुदखुशी के कगार तक पहुँचा दिया था।

अयूब : वह कगार अब भी मौजूद है। मुझे जहाँ जाना है, मैं चला जाता हूँ। तुम्हें जहाँ जाना हो, तुम जा सकती हो।

सलमा : तुम इस वक़्त मेरे पास से नहीं जा सकते हो..

अयूब : पर तुम मुझसे ऊब चुकी हो...

सलमा : हैं, ऊब तो चुकी हूँ !

अयूब : तो ?

सलमा : पर ख़ुदखुशी और अनचाही मौत में बहुत फर्क है !

अयूब : तो तुम चाहती हो कि मैं..

सलमा : कि इस अनचाही मौत के वक़्त तुम मेरे पास रहो।

अयूब : लेकिन क्यों ?

सलमा : क्योंकि मैं चाहती हूँ। मैं तुमसे सिर्फ इतना ही चाहती हूँ.. सिर्फ इतना ही..।"[76]

सलमा के इस कथन से सलमा के अन्दर उस भारतीय स्त्री का दर्शन होता है जो अपनी ज़िंदगी के आखरी लम्हों में भी अपने पति के साथ ही रहना चाहती है। अतः सलमा के चरित्र में एक भारतीय परंपरागत स्त्री की वह छवि दिखती है जो अपने दाम्पत्य जीवन में तमाम उपेक्षा के बाद भी उसका निर्वाह अपनी आिखरी सांस तक करना चाहती है । इसके अतिरिक्त सलमा के चरित्र में एक

आधुनिक स्त्री की छवि भी दिखती है, जो समय आने पर अपने पति अयूब से यह कहने में भी नहीं झिझकती है कि वह उससे नफरत करती है। उसके चरित्र में एक आधुनिक स्पष्टतावादी नारी की छवि भी दिखती है,

"सलमा : तो तुम समझते हो कि तुम.. कि तुम मुझे ज़लील करके..

अयूब : यही-यही.. बिल्कुल यही कि मैं तुम्हें ज़लील करके ..या तुम मुझे दफ़न करके जिंदा तो हम दोनों रह सकते हैं, जी नहीं सकते।

सलमा : तो तुम मुझे ज़लील करोगे.. करते जाओगे?

अयूब : और तुम मुझे दफ़न करोगी और करती जाओगी?

सलमा : मैं तुमसे नफरत करुँगी और करती जाऊँगी !

अयूब : तो मैं तुम्हें ज़लील करूँगा और करता जाऊँगा !

सलमा : (चीखकर) चले जाओ यहाँ से.. हट जाओ मेरे पास से मैं तुमसे नफरत करती हूँ..नफरत..नफरत..!"[77]

इस प्रकार सलमा के चरित्र में दाम्पत्य जीवन के प्रति आस्था दिखता है। जिससे उसमें परंपरागत नारी रूप का दर्शन होता है। वहीं अपने पति अयूब के कुंठित व्यक्तित्व के प्रति उसकी नफरत और उसकी स्पष्टवादिता, उसके आधुनिक नारी चरित्र को उभारता है।

अब्दुल्ला-

अब्दुल्ला नाटक का एक ऐसा पात्र है जो क्लब में क्लर्क के पद पर काम करता है और अपने काम के प्रति ईमानदार है। पूरे नाटक में तमाम मुसीबतों में भी उसे दिनभर के हिसाब की चिंता उसके काम के प्रति निष्ठा को चित्रित करती है। नाटककार ने अब्दुल्ला जैसे पात्रों के माध्यम से यह बताना चाहा है कि आज की इस आधुनिक दुनिया में जहाँ झूठ, बेईमानी, मक्कारी और घोटाला करना आज के

इंसान की फ़ितरत बन चुका है, वहीं अब्दुल्ला जैसे चंद ईमानदार लोग भी हैं, जिन पर भरोसा किया जा सकता है। अपने काम के प्रति उसकी निष्ठा का इससे ही पता चल जाता है कि वह अपने काम की व्यस्तता में अपने नवजात शिशु को भी नहीं देखने जा पाता है, "पर बता, अब मैं इससे क्या कर सकता हूँ? बोतलों का हिसाब ठीक रखता हूँ, तो किसी न किसी बिल में गड़बड़ी हो जाती है। बिलों का हिसाब ठीक रखता हूँ, तो बोतलों की नाप-जोख में फर्क पड़ जाता है। इन्हीं सब उलझनों में घर से आयी चिट्ठी का जवाब भी अब तक नहीं दे पाया। वे लोग वहाँ न जाने क्या सोच रहे होंगे ! कि कैसा आदमी है- खुशखबरी पाकर मिलने आना तो दूर, चिट्ठी की पहुँच तक का पता इससे नहीं दिया गया।"[78] इसके अतिरिक्त बाढ़ के आने पर क्लब में मौजूद लोगों के प्रति उसकी चिंता उसके व्यक्तित्व में मानवीयता को दर्शाती है। बाढ़ के बढ़ते खतरे को देखते हुए वह लगातार क्लब में लोगों को एक स्थान पर एकत्रित होने को कहता रहता है, साथ ही नियामत से कहकर कई को तो पुल के टूटने से पहले उस पार पहुँचा भी आता है। अतः अब्दुल्ला के चरित्र में यह मानवीय गुण उसे आज के आधुनिक समाज में ईमानदार व्यक्ति का प्रतीकात्मक पात्र चित्रित करता है।

झुनझुनवाला-

झुनझुनवाला नाटक का एक ऐसा पात्र है जो आज के भोगविलास में डूबे, भ्रष्टाचारी, व्यापारी वर्ग का प्रतिनिधि पात्र है। उसने अपनी पूंजीवादी दुनिया का निर्माण, दूसरों का शोषण और अत्याचार करके निर्मित किया है। वह अपने चरित्र का वर्णन नाटक के एक स्थल पर खुद ही करता है और कहता है, "दूसरे लोग कहते थे पैसों के पेड़ नहीं लगते। पर मेरे लोग कहते थे, लगते हैं और खूब लगते हैं। मैंने पैसों के पेड़ लगाकर देखे.. वे लगे, फले-फूले.. जब पेड़ फल-फूल गए तो मैंने धर्म, नैतिकता, विज्ञान, राजनीति- सबको अपने मूल्य दिए..मूल्य। सीधे-सीधे कहूँ तो सबको अपना व्यापार बनाया। इसका दाम इतना। उसका दाम उतना। हर चीज, हर बात का प्रतिनिधि मैं था। मैं सबसे बड़ा मछलीमार था जिसके कारखाने में बड़ी-बड़ी मछलियाँ डब्बों में बंद की जाती थीं। मैंने सैकड़ों क़त्ल कराए। करोड़ों का माल स्मगल किया। लाखों रुपये रिश्वत में दिए, करोड़ों का टैक्स

बचाकर काला धन जमा किया। लोग दूषित वातावरण का इलाज ढूंढने की कोशिशें कर रहे हैं। सब पढ़कर मुझे हंसी आती थी। क्या कोई भी कमेटी, कोई भी कमीशन इस वातावरण को मुझसे साफ़ कर सकता है ?"[79] झुनझुनवाला पूंजीवादी वर्ग चरित्र का प्रतिनिधित्व करता है। आज समाज में जितने भी अवैध तरीकों से धन संपदा बनायी जाती है, जितने भी गैर-कानूनी धंधे किये जाते हैं, वह सारे धंधे झुनझुनवाला जैसे पूंजीवादी मानसिकता के लोग ही करते हैं। झुनझुनवाला यहाँ तक कि अपने मित्र पंडित के साथ भी छल करता है। वह पंडित की पत्नी के साथ भी अवैध संबंध बनाता है। जिसकी उसे कोई ग्लानि नहीं है। इस प्रकार झुनझुनवाला आधुनिक समाज के उस वर्ग का प्रतिनिधि पात्र है, जो एक के बाद कई स्त्रियों के साथ संबंध स्थापित करता है। मानवीय संबंध, रिश्ते-नाते उसके लिए सिर्फ फायदे के अर्थ में होते हैं। झुनझुनवाला के चरित्र के अन्दर तमाम सामाजिक बुराइयाँ हैं। इसके बाद भी झुनझुनवाला अपने किये गए गलत कार्यों के प्रति नाटक में आत्मग्लानि या शर्मिंदगी भी महसूस करता है। मोहन राकेश के 'आधे-अधूरे' नाटक में एक व्यक्ति द्वारा विभिन्न चरित्रों के नाट्य अभिनय की परिकल्पना इसी उद्देश्य से की गई थी। नाटक के एक स्थल पर झुनझुनवाला अपने किये गए सारे कर्मों के प्रति ग्लानि महसूस करता है और पंडित से माफ़ी मांगते हुए कहता है, "पर आज इस वक्त मैं देख रहा हूँ कि मैं खुद भी एक मछली हूँ। पानी में तैरती मछली नहीं, अपने ही जाल में फंसकर तड़पती, अपने डब्बे में बंद। आज मैं जान सका हूँ कि मैं दूसरों की ही मौत नहीं खुद अपनी मौत भी हूँ। मैं तुम्हारी तरह चाहते हुए भी अपने को बिल्कुल नंगा नहीं कर पाऊंगा.. क्योंकि मैं अपने नंगेपन को देखने लायक भी नहीं रह गया हूँ। अब जो भी, जैसा कुछ भी है उसी के साथ मुझे भी मर लेने दो..।"[80]

इस प्रकार झुनझुनवाला के चरित्र के दो आयाम देखे जा सकते हैं। एक ओर ज़िंदगीभर एक व्यापारी के रूप में तमाम अवैध कार्य करता है और ज़िंदगी की भोगवादी दृष्टि में विश्वास करता है। जिसके लिए रिश्ते-नाते, दोस्ती-यारी सिर्फ मतलब और स्वार्थपूर्ति के लिए हैं। जो ज़िंदगी को मुनाफा और नुकसान के तराजू में तौल कर देखता है। किन्तु ज़िंदगी में मौत के आगे खुद को बेबस देख अपनी

इस ज़िंदगी के प्रति ग्लानि महूसस करता है और अपने मित्र पंडित के आगे अपने किये गए सारे गलत कर्मों को आत्मस्वीकार करता है।

पंडित-

पंडित नाटक का एक ऐसा पात्र है जो भोगवादी प्रवृत्ति का है। आज की आधुनिक जीवन शैली जिसमें क्लबों में जाना, वहाँ ताश खेलना, नशा करना आदि उसके जीवन का अहम हिस्सा है। नाटक में कहीं भी पंडित के कार्यों का उल्लेख तो नहीं किया गया है, लेकिन नाटककार ने उसे पंडित कहकर उसका चित्रण किया है। ऐसे में शायद आज के आधुनिक युग में पूजा-पाठ या कर्मकांड करवाने वालों की ओर भी नाटककार ने इंगित किया है, जो कि आज अक्सर भोगविलास में लिप्त पाए जाते हैं। इस वर्ग के लोगों को जहाँ सांसारिक मोह-माया से ऊपर माना जाता था, वहीं आज अक्सर खबरों में उन्हें इन आधुनिक कुरीतियों में संलग्न पाया गया है। पंडित का चरित्र भी ऐसा ही है। धन संपदा से सम्पन्न होते हुए, सामाजिक प्रतिष्ठित होते हुए भी वह अन्दर से खोखला है। क्लब में भी वह लगातार ताश खेलने, सिगरेट और शराब के सेवन में ही लगा रहता है। इस झूठी ज़िंदगी को जीते हुए पंडित अपनी ज़िंदगी की सच्चाई से हमेशा मुंह मोड़ता रहता है। अपनी पत्नी का संबंध झुनझुनवाला से जानते हुए भी परिस्थितियों से समझौता किये बैठा रहता है। नाटक के एक अंश में वह खुद इस बात को कहता है, "घर था। पर घर की ज़िंदगी नहीं थी। बीवी है पर बीवी नहीं है...उसकी तस्वीरें औरों के बटुओं में बंद हैं। महीनों बाहर भटकना ...यह और यह हासिल करके खुश होना चाहना, पर उदास होते जाना..यही मेरा प्राप्य था। पीछे घर में क्या होता था, पता नहीं। एक झूठा खेल। एक-दूसरे को विश्वास दिलाते रहने का। कुछ था, जिससे मैं अपनी हर जीत के साथ हारा हुआ महसूस करता था। कुछ था, जिससे मैं हर वक्त भागना चाहता था.. और इस बार इस झुनझुन के साथ यहाँ आया था, तो भी भागकर..इसी से भागकर इसी के साथ। इस आदमी के साथ, जिसके चेहरे से मुझे नफरत है। इसने हमेशा एक कठपुतली की तरह मुझे साथ रखा है। मैं इसके

लिए ताश की बाजी का वह हाथ हूँ जो इसके हाथ में है। यह रही इसके ताशों की गड्डी जिसे खेल-खेलकर मैं खोखला हो चुका हूँ।"[81]

इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि पंडित आधुनिक समाज का ऐसा प्रतीकात्मक चरित्र है। जिसका व्यक्तित्व खोखला है। पंडित की वास्तविक ज़िंदगी ऐसा है जहाँ वह खुद को छलता है। अतः जो भौतिक सुखों और भोगवादी ज़िंदगी में लीन रहता है, साथ ही अपनी ज़िंदगी भी दूसरों के इशारों पर जीता है। वही दूसरों के हाथों की कठपुतली बना रहता है।

रीता और नीरा-

रीता और नीरा दोनों ही उच्च वर्ग में पली-बढ़ी स्त्री पात्र हैं। दोनों की ही आधुनिक जीवन-शैली है, जिसमें क्लब में टेबल-टेनिस खेलना, स्विमिंग-पूल में लुत्फ़ उठाना आदि इनकी जीवन-शैली का हिस्सा है। उम्र में रीता नीरा से बड़ी है, मित्रवत संबंध होते हुए भी रीता नीरा का छोटी बहन की तरह ख्याल रखती है। इससे रीता के चरित्र में आत्मीयता का पता चलता है। वहीं नीरा उम्र में छोटी होने की वजह से उसके चरित्र में थोड़ी चंचलता होती है। क्लब के लोगों की बिना जानकारी के ही वह रीता संग स्विमिंग पूल की टूटी दीवार पारकर मस्ती करने चली जाती है। नीरा छोटी उम्र की नवयुवती है इसीलिए आज की आधुनिक नवयुवतियों के समान मुश्किलों से सामना करने का साहस रखती है। तभी पुल के टूटने और बाढ़ का खतरा बढ़ने पर भी वह बेझिझक कहती है, "टूट भी गया हो तो इसमें इतना घबराने की क्या बात है ? अरे डेढ़-दो फुट की दरार पड़ी है..बस, चार-पांच फुट तक तो आदमी कूदकर ही पार कर सकता है।"[82] रीता एक साहसी स्त्री है, अयूब रीता का शारीरिक शोषण करने का प्रयास करता है, जिसके बाद उसकी नज़र नीरा पर होती है। अमूमन कोई भी स्त्री उस इंसान के आगे दुबारा नहीं जाना चाहेगी, जिसने उसके साथ कोई शारीरिक शोषण करने का प्रयत्न किया हो। लेकिन रीता नीरा को अयूब की बुरी नजर से बचाने की पूरी कोशिश करती है। अयूब के सामने आकर कहती है, "इसलिए कि वो अकेले नहीं है। मुझे तुम्हारे इन इरादों से नफरत है।"[83] नाटककार

ने रीता के चरित्र के माध्यम से मनुष्य की स्वाभाविक प्रवृत्ति को भी उजागर किया है। प्रत्येक मनुष्य या जीव में काम की भावना अवश्य होती है। तभी क्लब में बाढ़ के रूप में सामने मौत देखकर जहाँ अयूब अपनी अंतिम इच्छा पूरी करना चाहता है, वह रीता के साथ जबदस्ती करने का प्रयत्न करता है। वहीं एक बार शायद रीता के अन्दर का व्यक्तित्व भी उसमें हामी भर रहा था। वह अपने अन्दर के इस व्यक्तित्व को जानवर कहकर बुलाती है। वह नीरा को कहती है, "मैं उसे अपने से परे हटा रही थी और वह जानवर उसे अपने पास बुलाना चाह रहा था। वह चाह रहा था कि मरने से पहले एक बार ..चाहे कुछ भी हो सिर्फ एक बार...।"[84] रीता के इस संवाद से उसके आधुनिक स्त्री चरित्र का बोध भी होता है जो आज के पुरुषों के समान शारीरिक संबंध बनाने से पूर्व बहुत अधिक नहीं सोचती है। नीरा भी छोटी-सी उम्र में ही सारी आधुनिक जीवन-शैली को अपना चुकी है। जबकि वह बहुत अधिक किसी गहरे अर्थ को समझने में परिपक्व नहीं है, फिर भी वह क्लब आती है और यहाँ क्लब में मौजूद सारे आधुनिक मनोरंजन के साधन का उपभोग करती है।

इस प्रकार रीता और नीरा दोनों ही उच्चवर्ग की आधुनिक प्रतीकात्मक स्त्री पात्र हैं। जिनकी आधुनिक जीवन-शैली है। क्लब में दोनों ऐसी परिस्थिति में फंस जाती हैं कि दोनों का ही शारीरिक मानसिक शोषण होता है। इसके पश्चात् भी दोनों सभी मुसीबतों का सामना अंत तक करती हैं। इससे उसके अन्दर की आधुनिक स्त्री के उस रूप का दर्शन होता है जो निडर और साहसी भी है। जो किसी भी परिस्थिति में टूटती नहीं है, बल्कि ऐसे हालात में भी खुद को संभालती है और तुरंत निर्णय लेने में सक्षम है।

इस प्रकार मोहन राकेश के तीन पूर्ण और एक अधूरे नाटक के कथानक और पात्र चरित्रों का समग्र मूल्यांकन करने पर प्रतीत होता है कि मोहन राकेश को न केवल अपने समकालीन समाज का गहरा बोध था, बल्कि आधुनिक मानवीय चिंतन और लोगों के बदलते व्यक्तित्व का भी गहरा बोध था। ऐसा प्रतीत होता है जैसे अपने आस-पास के भोगे हुए सत्य को उन्होंने ऐतिहासिक और आधुनिक

नाटकीय- कथा और पात्र-चरित्र के रूप में सृजित कर दिया हो। प्रथम दो नाटकों में मिथकीय कथा और ऐतिहासिक चरित्रों के माध्यम से आधुनिक मानव के द्वंद्व को उन्होंने बड़ी सफलता से प्रस्तुत किया है। मोहन राकेश के नाटकों में आज के आधुनिक युग का कटु सत्य छिपा है। आज के साहित्यकार का सत्य है। स्त्री-पुरुष के बनते-बिगड़ते संबंधों का सत्य है। उससे उत्पन्न बिखराव, अलगाव और खंडित चरित्र का सत्य है। मोहन राकेश अपने प्रथम नाटक 'आषाढ़ का एक दिन' में जब राजकीय सम्मान और लेखकीय प्रतिभा के द्वंद्व की बात करते हैं तब वह अवश्य ही अपने युग के लेखकों की ओर इंगित करते हैं, जो जीवन में लेखकीय कर्म और राज सत्ता से प्राप्त सुखों के बीच द्वंद्व में घिर जाते हैं। अंततः यह लोभ कितनों को सत्ता का चाटुकार बना देता है। नाटक में प्रियंगुमंजरी, राजमहिषी, रंगनी-संगनी आदि सभी राजकर्मचारी आज के कर्मचारी के ही प्रतीक हैं जो कई बार झूठे तर्क-वितर्क में लगे रहते हैं। तो कहीं अहंकार में दूसरे के चीजों को कमतर आंकते हैं। अतः नाटक में मानवीय द्वंद्व, जीवन की वास्तविकता तथा आज की दौड़ती-भागती दुनिया को ही चित्रित किया गया है।

'लहरों के राजहंस' में भी राकेश ने आज के द्वंद्व में घिरे मनुष्य की कथा को ही नन्द के माध्यम से चित्रित करने का प्रयत्न किया है। नाटक में नन्द के अकेलेपन और आंतरिक संघर्ष के सहारे आज के लोगों के अकेलेपन और संघर्ष को ही प्रकट किया गया है। दाम्पत्य जीवन में चाहे-अनचाहे एक-दूसरे के अनुकूल खुद को नहीं ढाल पाने की कसक 'लहरों के राजहंस' और 'आधे अधूरे' दोनों ही नाटकों में देखी जा सकती है। 'आधे-अधूरे' में यह बिखराव, टकराहट, अलगाव आदि को बड़े पैमाने में परिवार के स्तर पर देखा जा सकता है। जहाँ परिवार के छोटे-बड़े सभी सदस्य खंडित हैं। किसी का किसी से जुड़ाव नहीं है, जो कि आज के बहुत-से मध्यवर्गीय परिवारों का एक कटु सत्य है। जहाँ सभी एक छत के नीचे रहते हुए भी कोई किसी से बात करना पसंद नहीं करता या किसी को किसी की बात पसंद नहीं आती है। ऐसे घर में हमेशा ही एक तनाव का माहौल व्याप्त रहता है। इस सन्दर्भ में प्रतिभा अग्रवाल अपनी पुस्तक 'भारतीय साहित्य के निर्माता मोहन राकेश' में लिखती

हैं, "आधुनिक परिवेश में अपने जीवन और अपनी समस्याओं का ऐसा निर्मम और कटु साक्षात्कार कम देखने को मिलता है।"[85]

'पैर तले की जमीन' उच्चवर्गीय समाज में लोगों के जीवन की विसंगति, अवसाद और घुटन को व्याख्यायित करता है। यह नाटक अस्तित्व संकट और उस संकट के बीच आज के आधुनिक मानव की पलभर परिवर्तित मनः स्थिति को दर्शाता है। इस नाटक द्वारा उच्चवर्गीय समाज के लोगों का एक मनोवैज्ञानिक विश्लेषण प्रस्तुत करने का प्रयत्न है। कमलेश्वर इस नाट्य कथा को आधुनिक भाव-बोध से जोड़ तो सके, किन्तु उस ऊँचाई तक नहीं पहुँचा सके, जिस सफलता की ऊँचाई को मोहन राकेश के अन्य नाटकों ने प्राप्त किया है।

पात्रों के सन्दर्भ में यह कहा जा सकता है कि राकेश ने पुरुषों की तुलना में स्त्री पात्रों का चित्रण अधिक सशक्त और ठोस रूप से किया है। वे पुरुष पात्रों की तुलना में निर्णय लेने में अधिक सक्षम हैं। जैसे मल्लिका का कालिदास को उज्जयिनी भेजने का निर्णय लेना या कालिदास के न लौटने पर विलोम से शादी कर लेना, उसके निर्णय लेने की क्षमता को दर्शाता है। 'लहरों के राजहंस' में अपने अहम के साथ ही नन्द को स्वीकार करने का भाव भी सुन्दरी के ठोस व्यक्तित्व को ही उभारता है। 'आधे अधूरे' में महेन्द्रनाथ के बेरोज़गार हो जाने पर आर्थिक रूप से घर को संभालना, सावित्री को इस नाटक के अन्य पुरुष पात्रों के मुकाबले अधिक सशक्त साबित करता है, "राकेश के तीनों ही नाटकों में स्त्री पात्र पर्याप्त महत्त्वपूर्ण हैं। कई बार यह भी कहा जाता है कि ये नाटक स्त्री प्रधान हैं। स्त्री पात्रों की तुलना में पुरुष पात्र दुर्बल, संशयग्रस्त एवं दुविधाग्रस्त रहे हैं। कालिदास, नन्द और महेन्द्रनाथ तीनों ही इसके प्रमाण हैं। ये घर और बाहर के बीच दुविधाग्रस्त चक्कर काटते रहते हैं। इनके स्थान पर मल्लिका, सुन्दरी, और सावित्री अधिक संतुलित एवं व्यवस्थित हैं, उन्हें जो करना है या जो वे चाहती हैं उसके बारे में निश्चित हैं। यद्यपि तीनों पात्रों की स्थिति और मनोवृत्ति में पर्याप्त अंतर है, तथापि चरित्र की यह एकरूपता तीनों में है।"[86]

इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि मोहन राकेश ने अपने नाटकों के माध्यम से आधुनिक जीवन और मानवीय संबंधों के बदलते स्वरूप को अति सूक्ष्मता से चित्रित किया है। उन्होंने समकालीन जीवन को चित्रित करने के लिए मिथकीय कथा एवं ऐतिहासिक पौराणिक पात्र चरित्रों के समावेश से आधुनिक भाव-बोध को प्रस्तुत किया है। अतः उनके नाटकों की कथावस्तु और पात्र-चरित्र दोनों ही में आधुनिक और परंपरागत तत्व मौजूद हैं। जीवन मूल्यों के प्रति आस्था भी है, जिससे कटकर आधुनिक मानव द्वंद्व में घिरा खंडित व्यक्तिव का होता जा रहा है।

सन्दर्भ-

1. राकेश, मोहन; आषाढ़ का एक दिन; राजपाल प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली; संस्करण, 2011; पृ 8.
2. वही; पृ 14, 15 .
3. वही; पृ 46 .
4. वही; पृ 47 .
5. वही; पृ 95 .
6. चातक, गोविन्द; आधुनिक हिंदी नाटक का अग्रदूत मोहन राकेश; राधाकृष्ण प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली; संस्करण, तीसरा 2016; पृ, 43, 44 .
7. रस्तोगी, गिरीश; मोहन राकेश और उनके नाटक; लोकभारती प्रकाशन, महात्मा गांधी मार्ग, इलाहाबाद, उ.प्र.; संस्करण, 2008; पृ 45 .
8. मदान, इन्द्रनाथ; आधुनिकता और हिंदी आलोचना; राधाकृष्ण प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली; संस्करण-1975; पृ.144 .
9. राकेश, मोहन; आषाढ़ का एक दिन; राजपाल प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली; संस्करण, 2011; पृ 94.
10. चातक, गोविन्द; आधुनिक हिंदी नाटक का अग्रदूत मोहन राकेश; राधाकृष्ण प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली; संस्करण, तीसरा 2016; पृ 55 .
11. रस्तोगी, गिरीश; मोहन राकेश और उनके नाटक; लोकभारती प्रकाशन, महात्मा गांधी मार्ग, इलाहाबाद, उ.प्र.; संस्करण, 2008; पृ 47, 48 .
12. राकेश, मोहन; आषाढ़ का एक दिन; राजपाल प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली; संस्करण, 2011; पृ 99, 100 .
13. वही; पृ 16 .
14. वही; पृ 48 .
15. वही; पृ 48 .
16. रस्तोगी, गिरीश; मोहन राकेश और उनके नाटक; लोकभारती प्रकाशन, महात्मा गांधी मार्ग, इलाहाबाद, उ.प्र.; संस्करण, 2008; पृ 51 .

17. गौतम, रमेश; हिंदी के प्रतीक नाटक; दरियागंज,नचिकेता प्रकाशन, नई दिल्ली; संस्करण, 1979; पृ 26 .
18. राकेश, मोहन; आषाढ़ का एक दिन; राजपाल प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली; संस्करण 2011; पृ 95.
19. वही; पृ 46, 47, 48 .
20. वही; पृ 45 .
21. वही; पृ 53 .
22. रस्तोगी, गिरीश; हिंदी नाटक का आत्म संघर्ष; लोकभारती प्रकाशन, महात्मा गांधी मार्ग, इलाहाबाद, उ.प्र.; संस्करण, 2008; पृ 139 .
23. राकेश, मोहन; आषाढ़ का एक दिन; राजपाल प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली; संस्करण, 2011; पृ 36, 37 .
24. वही; पृ 37, 38 .
25. रस्तोगी, गिरीश; मोहन राकेश और उनके नाटक; लोकभारती प्रकाशन, महात्मा गांधी मार्ग, इलाहाबाद, उ.प्र.; संस्करण, 2008; पृ 53 .
26. राकेश, मोहन; आषाढ़ का एक दिन; राजपाल प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली; संस्करण, 2011; पृ 15.
27. वही; पृ 86 .
28. वही; पृ 27, 28 .
29. वही; पृ 28 .
30. रस्तोगी, गिरीश; हिंदी नाटक का आत्म संघर्ष; लोकभारती प्रकाशन, महात्मा गांधी मार्ग, इलाहाबाद, उ.प्र.; संस्करण, 2008; पृ 141 .
31. राकेश, मोहन; आषाढ़ का एक दिन; राजपाल प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली, संस्करण, 2011; पृ 19, 20 .
32. रस्तोगी, गिरीश; मोहन राकेश और उनके नाटक; लोकभारती प्रकाशन, महात्मा गांधी मार्ग, इलाहाबाद, उ.प्र.; संस्करण, 2008; पृ 54, 55 .

33. राकेश, मोहन; आषाढ़ का एक दिन; राजपाल प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली; संस्करण, 2011; पृ 58.
34. रस्तोगी, गिरीश; हिंदी नाटक का आत्म संघर्ष; लोकभारती प्रकाशन, महात्मा गांधी मार्ग, इलाहाबाद, उ.प्र.; संस्करण, 2008; पृ 142 .
35. चातक, गोविन्द; आधुनिक हिंदी नाटक का अग्रदूत मोहन राकेश; राधाकृष्ण प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली; संस्करण, तीसरा 2016; पृ 60 .
36. रस्तोगी, गिरीश; मोहन राकेश और उनके नाटक; लोकभारती प्रकाशन, महात्मा गांधी मार्ग, इलाहाबाद, उ.प्र.; संस्करण, 2008; पृ 62 .
37. राकेश, मोहन; लहरों के राजहंस; राजकमल प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली; संस्करण, 2017; पृ 59, 60.
38. रस्तोगी, गिरीश; हिंदी नाटक का आत्म संघर्ष; लोकभारती प्रकाशन, महात्मा गांधी मार्ग, इलाहाबाद, उ.प्र.; संस्करण, 2008; पृ 153 .
39. राकेश, मोहन; लहरों के राजहंस; राजकमल प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली; संस्करण-2017; पृ.78, 79 .
40. वही; पृ 83 .
41. वही; पृ 118 .
42. मेंहदीरत्ता, वीरेन्द्र; मोहन राकेश का साहित्य; हरियाणा साहित्य अकादमी, चंडीगढ़, संस्करण-1990; पृ 47 .
43. राकेश, मोहन; लहरों के राजहंस; राजकमल प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली; संस्करण, 2017; पृ 125 .
44. वही; पृ 120, 121 .
45. वही; पृ 121 .
46. रस्तोगी, गिरीश; मोहन राकेश और उनके नाटक; लोकभारती प्रकाशन, महात्मा गांधी मार्ग, इलाहाबाद, उ.प्र.; संस्करण 2008; पृ 66 .

47. चातक, गोविन्द; आधुनिक हिंदी नाटक का अग्रदूत मोहन राकेश; राधाकृष्ण प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली; संस्करण, तीसरा 2016; पृ 83 .
48. राकेश, मोहन; लहरों के राजहंस; राजकमल प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली; संस्करण, 2017; पृ 110 .
49. वही; पृ 130 .
50. चातक, गोविन्द; आधुनिक हिंदी नाटक का अग्रदूत मोहन राकेश; राधाकृष्ण प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली; संस्करण, तीसरा, 2016; पृ 85 .
51. वही; पृ.86 .
52. राकेश, मोहन; आधे-अधूरे; राधाकृष्ण प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली; संस्करण, 1993; पृ 31 .
53. गौतम, रमेश; मिथक और स्वातन्त्र्योत्तर हिंदी नाटक; नचिकेता प्रकाशन, विजय नगर,दिल्ली; संस्करण, प्रथम; पृ 60 .
54. चातक, गोविन्द; आधुनिक हिंदी नाटक का अग्रदूत मोहन राकेश; राधाकृष्ण प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली; संस्करण, तीसरा, 2016; पृ 89, 90 .
55. राकेश, मोहन; आधे-अधूरे; राधाकृष्ण प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली; संस्करण, 1993; पृ 29, 30.
56. अग्रवाल, प्रतिभा; भारतीय साहित्य के निर्माता मोहन राकेश; साहित्य अकादमी, फिरोजशाह मार्ग, नई दिल्ली; संस्करण, 1987; पृ 69 .
57. राकेश, मोहन; आधे-अधूरे; राधाकृष्ण प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली; संस्करण, 1993; पृ 12 .
58. अग्रवाल, प्रतिभा; भारतीय साहित्य के निर्माता मोहन राकेश; साहित्य अकादमी, फिरोजशाह मार्ग, नई दिल्ली; संस्करण, 1987; पृ 71 .
59. चातक, गोविन्द; आधुनिक हिंदी नाटक का अग्रदूत मोहन राकेश; राधाकृष्ण प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली; संस्करण, तीसरा, 2016; पृ 92 .
60. राकेश, मोहन; आधे-अधूरे; राधाकृष्ण प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली; संस्करण, 1993; पृ 90 .
61. चातक, गोविन्द; आधुनिक हिंदी नाटक का अग्रदूत मोहन राकेश; राधाकृष्ण प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली; संस्करण, तीसरा, 2016; पृ 93 .
62. राकेश, मोहन; आधे-अधूरे; राधाकृष्ण प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली; संस्करण, 1993; पृ 91 .

63. वही; पृ 85 .

64. मेंहदीरत्ता, वीरेन्द्र; मोहन राकेश का साहित्य; हरियाणा साहित्य अकादमी, चंडीगढ़; संस्करण, 1990; पृ 68 .

65. चातक गोविन्द; आधुनिक हिंदी नाटक का अग्रदूत मोहन राकेश; राधाकृष्ण प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली; संस्करण, तीसरा, 2016; पृ 97, 98 .

66. मेंहदीरत्ता, वीरेन्द्र; मोहन राकेश का साहित्य; हरियाणा साहित्य अकादमी, चंडीगढ़; संस्करण, 1990; पृ 66 .

67. राकेश, मोहन; आधे-अधूरे; राधाकृष्ण प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली; संस्करण, 1993; पृ 12 .

68. रस्तोगी, गिरीश; मोहन राकेश और उनके नाटक; लोकभारती प्रकाशन, महात्मा गांधी मार्ग, इलाहाबाद, उ.प्र.; संस्करण, 2008; पृ 114 .

69. जैन, नेमिचंद्र; मोहन राकेश के सम्पूर्ण नाटक; राजपाल प्रकाशन, कश्मीरी गेट, दिल्ली; संस्करण, 2013; पृ 411, 412 .

70. वही; पृ 431 .

71. वही; पृ 424 .

72. वही; पृ 421 .

73. वही; पृ 432, 433 .

74. वही; पृ 415 .

75. वही; पृ 415, 416 .

76. वही; पृ 417, 418 .

77. वही; पृ 418 .

78. वही; पृ 372 .

79. वही; पृ 432, 433 .

80. वही; पृ 432, 433 .

81. वही; पृ 431 .

82. वही; पृ 375, 376 .

83. वही; पृ 415 .

84. वही; पृ 414 .

85. अग्रवाल, प्रतिभा; भारतीय साहित्य के निर्माता मोहन राकेश; साहित्य अकादमी, फिरोजशाह मार्ग, नई दिल्ली; संस्करण, 1987; पृ 56 .

86. वही; पृ 58 .

चतुर्थ अध्याय

सुरेन्द्र वर्मा के नाटकों में परंपरा और आधुनिकता

स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी के कई नाटककारों ने अपने से पूर्व के नाटककारों की परिपाटी का अनुसरण किया है। जिनमें नाटक संबंधी विषय-वस्तु,पात्र-योजना एवं नाट्य उद्देश्य ग्रहण किया है। उनके नाटकों की विशेषता यह है कि उन्होंने मिथकीय कथा एवं ऐतिहासिक पात्रों के समावेश से आधुनिक मानवीय विसंगतियों को चित्रित किया है, वहीं उनके नाटक परंपरा और आधुनिकता के तत्वों को परिभाषित करने में सहायक हैं। जिन नाटककारों ने स्वातंत्र्योत्तर ऐतिहासिक मिथकीय कथानकों को आधुनिक रूप से विस्तार दिया, उनमें धर्मवीर भारती, लक्ष्मीनारायण लाल, मोहन राकेश, सुरेन्द्र वर्मा, दुष्यन्त कुमार, रमेश बख्शी, नरेश मेहता, नरेंद्र मोहन और भीष्म साहनी आदि नाटककारों के नाम उल्लेखनीय हैं।

हिन्दी नाटककारों की इसी कड़ी में एक नाम सुरेन्द्र वर्मा का भी आता है। जिन्होंने अभिजातवर्गीय मूल्यों, उनके संस्कारों और अपने समकालीन आम जीवन की समस्याओं को अपना नाट्य विषय-वस्तु बनाया है। सुरेन्द्र वर्मा ने भी अपने नाटकों का कथ्य अपने से पूर्व के नाटककारों की भाँति मिथक, पुराण एवं इतिहास से लिया है। सुरेन्द्र वर्मा के नाटकों की विशेषता यह है कि वे मिथक, ऐतिहासिक एवं पौराणिक कथानक होते हुए भी आधुनिक मानव के जीवन तथा मानवीय रिश्तों की गहराई से पड़ताल करते हैं। जिसके कारण नाटक का कथ्य जीवंत हो उठता है। डॉ. गिरीश रस्तोगी इसी संदर्भ में लिखते हैं, ‘‘नाटककार प्रसाद की तरह न तो इतिहास के द्वारा अतीत के गौरव की प्रतिष्ठा और सांस्कृतिक चेतना में पुनर्जागरण का लक्ष्य लेकर चलते हैं न प्राचीन इतिहास को वर्तमान से जोड़कर उसकी पुनरावृत्ति करते हैं, बल्कि इतिहास यहाँ केवल एक आधार है’’।[1]

इस प्रकार सुरेन्द्र वर्मा के नाटकों का मुख्य उद्देश्य ऐतिहासिक नाट्य चरित्रों के माध्यम से कथा मात्र कहना नहीं है बल्कि उसके माध्यम से आज के समकालीन समाज में लोगों के अन्दर चल रहे अंतर्विरोधों और उनकी मूल समस्याओं को उजागर करना है। मिथक एवं ऐतिहासिक कथानक यहाँ आधुनिक मानवीय समस्याओं को रूपायित करने का उपकरण मात्र है। इस संदर्भ में डॉ. मदान लिखते हैं, ''इतिहास उपकरण मात्र है जिसका उपयोग कथ्य को अधिक परिपुष्ट और प्रभावशाली बनाने के लिए करते हैं। उनकी मूल निष्ठा अपने कथ्य के प्रति है। ऐतिहासिक घटनाओं या चरित्रों के प्रति नहीं, अपने कथ्य के अनुरूप घटनाओं की सृष्टि या प्राचीन चरित्रों को बिल्कुल आधुनिक प्रवृत्तियों के प्रतीक में प्रस्तुत करने में उनको हिचक नहीं होती।''[2] डॉ. मदान की इस टिप्पणी से सुरेन्द्र वर्मा के नाटकों का उद्देश्य परिभाषित हो जाता है।

सुरेन्द्र वर्मा मिथक, पुराण एवं इतिहास को अपने नाटकों का साधन बनाकर परंपरा का निर्वाह करते हैं, साथ ही नाट्य रचना संसार को एक विस्तृत फलक देने का प्रयत्न भी करते हैं। दूसरी ओर उन ऐतिहासिक-पौराणिक चरित्रों की मिथक कथाओं के माध्यम से ही उन्हें जीवंत रखने का प्रयत्न करते हैं। जिससे नाट्य कृत्य और अधिक संप्रेषणीय एवं प्रभावशाली बन उठते हैं। इस प्रकार समकालीन आधुनिक दृष्टिकोण से कथा और पात्रों का सृजन, सुरेन्द्र वर्मा ऐसे करते हैं कि उनके नाटकों में परंपरा और आधुनिकता एक साथ देखने को मिल जाती हैं। जिससे उनके नाटकों को एक विशिष्ट पहचान प्राप्त होती है।

सुरेन्द्र वर्मा अपने नाटकों में मिथकीय पौराणिक कथा एवं ऐतिहासिक पात्रों का प्रयोग आधुनिक मानवीय भाव-बोध के लिए करते हैं। 1972 ई. में 'तीन नाटक' नाम से एक नाट्य संग्रह प्रकाशित हुआ था। जिसमें 'सेतुबंध', 'नायक खलनायक विदूषक', और 'द्रौपदी' तीन ऐसे नाटक हैं जिनमें परंपरा और आधुनिकता दोनों के ही तत्व देखे जा सकते हैं। इसके अतिरिक्त सुरेन्द्र वर्मा अपने शेष नाटकों में भी परंपरागत चरित्रों और पौराणिक मिथकीय कथानक के माध्यम से आधुनिक जीवन की जटिलताओं और द्वंद्व को ही चित्रित करते हैं, " 'द्रौपदी' का केंद्रीय पात्र आज का संघर्षशील

प्राणी मनमोहन है और इन पाँचों चेहरों से जूझती मनमोहन की पत्नी सुरेखा 'द्रौपदी' के मिथक को अपने में व्यंग्यात्मक स्तर पर चरितार्थ करती है।''[3] कनक और कुमार 'शकुन्तला की अंगूठी' नाटक में एक आधुनिक समकालीन पात्र की भूमिका में हैं, किंतु जिस प्रकार से इनका पात्र चरित्र उभर कर सामने आता है वे अभिज्ञान शाकुन्तलम के शकुन्तला और दुष्यंत प्रतीत होते हैं। इसलिए सुरेन्द्र वर्मा इन पात्रों को आधुनिकता के तत्त्वों द्वारा इन्हें समकालीन समस्याओं से जोड़ते हैं। इसी प्रकार सुरेन्द्र वर्मा ने अपने अन्य नाटकों जैसे 'सूर्य की अन्तिम किरण से सूर्य की पहली किरण तक', 'छोटे सैयद बड़े सैयद', 'कैद-ए-हैयात', आदि में अपने आधुनिक समकालीन जीवन की अभिव्यंजना के लिए अपनी परंपरा से ऐतिहासिक पात्रों एवं घटनाओं को माध्यम बनाया है।

सुरेन्द्र वर्मा अपने नाटकों में परंपरा और आधुनिकता का प्रयोग इतनी बखूबी से करते हैं कि समकालीन जीवन एवं ऐतिहासिकता का बोध एक साथ ही हो जाता है। इसी समकालीन आधुनिक जीवन बोध की पड़ताल हम परंपरा और आधुनिकता के संदर्भ में करेंगे।

4.1 सेतुबंध

सन 1972 ई. में 'तीन नाटक' नाम से लिखे गये नाट्य-संग्रह का यह पहला नाटक है। सुरेन्द्र वर्मा का यह नाटक आधुनिक युग के मानवीय रिश्तों और उनके अस्तित्व की तलाश में भटकते मनुष्यों की कथा को आधार बना कर लिखा गया नाट्य रूप है। नाटक में सुरेन्द्र वर्मा ने 'चन्द्रगुप्त', 'कालिदास', 'प्रभावती', 'प्रवरसेन' आदि ऐतिहासिक पात्रों का मिथकीय कथा के साथ समावेश कर आधुनिक मनुष्यों की समस्याओं को उठाया है। कथा के केंद्र में एक ओर सत्ता के मद में चूर चन्द्रगुप्त और उसकी राजनीतिक महत्वाकांक्षा है, जिसमें पिसता है उनकी पुत्री प्रभावती और कालिदास का प्रेम। वहीं दूसरी ओर नाट्य कथा का केंद्र है प्रवरसेन और उनके अस्तित्व का संकट जिसका संबंध जुड़ा होता है उनकी माता प्रभावती और कालिदास से। नाटक में इन्हीं उलझे हुए रिश्तों को चित्रित करने का प्रयत्न किया गया है। नाटक के कथानक पर दृष्टि डालें तो नाटक का

संबंध चन्द्रगुप्त की राजनैतिक महत्त्वकांक्षा के परिणाम स्वरूप सम्पन्न उनकी पुत्री प्रभावती के राजनीतिक विवाह से है। कहते हैं राजनीति और सत्ता का मद इतना होता कि उसके आगे कुछ भी नहीं दिखता है। सारी भावनाएँ राजनीति की सीढ़ियों पर दम तोड़ देती हैं। सत्ता का नशा और उससे जुड़ा राजनैतिक लाभ प्रभावती और कालिदास को एक नहीं होने देते हैं। जिसके पश्चात् प्रभावती का विवाह वाकाटक के राजकुमार रूद्रसेन के साथ सम्पन्न कर दिया जाता है। जिसमें चन्द्रगुप्त का उद्देश्य अपनी राजनैतिक सीमाओं को बढ़ाना होता है, "इस ब्याह से दोहरे उद्देश्य पूरे होंगे- वाकाटक गुप्त सम्राट के प्रभाव क्षेत्र में आ जाएँगे और शक उनके अधिकार क्षेत्र में ..मालवा, गुजरात और सौराष्ट की बहुत उपजाऊ भूमि के हाथ में आ जाने से एक ओर तो शासन की समृद्धि बढ़ेगी और दूसरी ओर साम्राज्य सीमाएँ बंगाल की खाड़ी से अरब सागर तक निर्बंध फ़ैल जाएंगी। दिग्विजय पूरी होने के बाद एक देश में एक सम्राट का एकछत्र शासन होगा।"[4] सर्वप्रथम चन्द्रगुप्त प्रभावती को नैतिक कर्तव्यों की दुहाई देकर कालिदास को छोड़ रुद्रसेन से विवाह करने के लिए विभिन्न तर्क देते है। भारतीय समाज में स्त्रियों को हमेशा से ही उनकी इच्छा के विरुद्ध विभिन्न पारिवारिक, सामाजिक और रिश्तों का वास्ता और दुहाई देकर विवाह के लिए मजबूर किया जाता रहा है। चन्द्रगुप्त भी प्रभावती से कहता है, "प्रभावती गुप्तवंश की राजदुहिता है, इसलिए साम्राज्य की कीर्ति समय के विराट विस्तार में एक तरह से उन्हीं के नाम का प्रक्षेपण है। जिस कुल का रक्त उनकी नशों में दौड़ रहा है, उसे इतिहास के पन्नों में चिरस्थायी बनाने के लिए क्या उन्हें अपना हठ नहीं छोड़ देना चाहिए?"[5] नैतिक कर्तव्यों की दुहाई के बावजूद प्रभावती अपने निश्चय पर अडिग रहती है और फिर चन्द्रगुप्त एक शासक की भाषा में प्रभावती को चेतावनी दे डालता है, "आज जो आश्रयदाता उदार और कृपालु है, वह कल कठोर और दंडविधायक भी हो सकता है। क्या प्रभावती यह चाहेगी कि एक नवोदित कवि, जिसमें विलक्षण प्रतिभा है, जिसका यश, जिसकी कीर्ति दिगदिगान्तर में गूंज सकती है, कारागार की किसी अंधेरी कोठरी में एड़िया रगड़-रगड़ के मरे ? केवल इसलिए कि प्रेम अंधा था।"[6] प्रभावती आखिरकार कालिदास के सुनहरे भविष्य के लिए वाकाटक राजकुमार रुद्रसेन

से विवाह करना स्वीकार कर लेती है और राजनैतिक वेदी पर प्रेम की बलि चढ़ा कर प्रभावती का विवाह रुद्रसेन के साथ सम्पन्न कर दिया जाता है, साथ ही अलग हो जाते हैं दो प्रेमी। इस प्रकार प्रभावती का भावनात्मक शोषण कर चन्द्रगुप्त अपना राजनैतिक स्वार्थ सिद्ध कर लेता है। राजनैतिक स्वार्थ आधारित सत्ता केवल इतिहास में ही नहीं, बल्कि आज समकालीन राजनीति में भी देखी जा सकती है। जहाँ सत्ता लोलुप शासक न सिर्फ जनता, बल्कि कई बार अपनों की खुशियों की हत्या करने से भी नहीं चूकते हैं। नाटककार प्रभावती और चन्द्रगुप्त के इस प्रसंग के माध्यम से आज की राजनीति का विश्लेषण करते हैं। आज के राजनेता अपने सत्ता विस्तार के लिए सारे हथकंडे अपनाते हैं, जिनमें मानवीय मूल्य, भावना आदि का कोई स्थान नहीं होता है।

विवाह के पश्चात् प्रभावती वाकाटक नरेश की राजवधू तो बन जाती है, किन्तु उसकी आत्मा उज्जयनी में ही कालिदास की स्मृतियों में संयोजित रहती है। इसलिए विवाह के पश्चात् प्रभावती दो हिस्सों में विभाजित रहती है। शरीर से वह रुद्रसेन की होती है पर मन-आत्मा से वह कालिदास की ही रह जाती है।

इस घटना के वर्षों पश्चात् जब प्रभावती का पुत्र प्रवरसेन अपनी माता के जीवन की इस सच्चाई से वाकिफ होता है तो बहुत ही टूट जाता है और इससे संबंधित कई सवाल अपनी माता प्रभावती से करता है। जिसके उत्तर में प्रभावती सारा वृत्तांत अपने पुत्र प्रवरसेन को कह सुनाती है और कहती है, "जब हामी भरी थी, तभी अपने भावी जीवन की रूपरेखा जैसे मानचित्र की तरह सामने खिंच गयी थी। वे कुछ काली-काली सपाट लकीरें थीं; टेढ़ीमेढ़ी, उलझी हुई..वहाँ न हृदय का स्पंदन था, न साँसों का आवेग, न भावनाओं का ज्वार न कामनाओं की तरंग..मन को तरह-तरह से समझा लिया था कि यह एक राजनैतिक ब्याह है। इसका भावनात्मक मूल्यांकन कभी न करना। क्योंकि संबंध किसका होना था ? सम्राट की पुत्री का। मैं, प्रभावती उसमें कहीं नहीं थी। था केवल जन्म का आकस्मिक संयोग-इसीलिए वाकाटक वंश की राजवधू बनकर नंदिवर्धन जो आयी, वह गुप्त सम्राट की राजदुहिता थी-सजल नैनों पर दुकूल रखे प्रभावती उज्जयिनी के राजप्रासाद में ही छूट गयी

..कौन समझेगा कि मेरी भावना आज तक कुमारी है ..मैं माँ बनी हूँ, लेकिन पत्नी नहीं।"[7] आज के समकालीन समाज में भी प्रभावती के समान बहुत सारी स्त्रियाँ अपनी इच्छा और भावना की तिलांजलि देकर अपने परिवार और कुल की रक्षा के नाम पर अंतरात्मा को मार देती हैं और अन्यत्र परिवार के दवाब में आकर विवाह कर लेती हैं, पर वह शरीर और आत्मा से दो हिस्सों में बट जाती हैं। अतः प्रभावती उन सभी स्त्रियों की प्रतीकात्मक चरित्र है, जिसकी कल्पना सुरेन्द्र वर्मा ने इस नाटक में प्रभावती के रूप में की है। यहाँ नाटककार ने कोई समाधान प्रस्तुत करने का प्रयत्न नहीं किया है, बल्कि एक राजनैतिक शासकीय व्यवस्था-तंत्र के अहम् और उसमें होम होती मानवीय अंतरात्मा को नाट्य विधा के माध्यम से प्रस्तुत किया है।

संतान, पति और पत्नी के बीच शारीरिक और भावनात्मक मिलन का ही स्वरूप होता है। अतः पति-पत्नी के बीच सेतु का काम और एक ठोस आधार प्रदान करने का काम संतान करती है। लेकिन जब संतान के लिए कोई स्त्री माता तो हो, किन्तु वही स्त्री अपने पति के लिए अंतरात्मा से उसकी पत्नी नहीं बन पाई हो तब उस स्त्री की भावना कुँवारी ही रह जाए तो ऐसे में कोई संतान दोनों के बीच का सेतु कैसे बन सकता है ? जैसे हालात माता प्रभावती और उसके पुत्र प्रवरसेन के परिस्थितियों में होते हैं। जहाँ प्रभावती अपने आत्मवरण को पुत्र प्रवरसेन के समक्ष स्वीकार करती है और साथ ही उसके सभी सवालों का उत्तर भी देती है। वह कहती है, "परंपरागत शब्दों को छोड़ दो। क्या कोई स्थिति ऐसी नहीं हो सकती जिसमें परपुरुष पति बन जाए और पति परपुरुष।"[8]

'सेतुबंध' में अस्मिता संकट उसकी सार्थकता जैसे आधुनिक मानवीय समस्याओं के प्रश्नों को ऐतिहासिक पृष्ठभूमि में उठाने का प्रयास किया गया है। इन प्रश्नों को नाटककार ने प्रवरसेन के माध्यम से किया है। जहाँ प्रवरसेन को अपने अस्तित्व का ज्ञान होने के बाद उसे उसकी अस्मिता खंडित दिखती है। अपनी माता प्रभावती से यह जान कर कि वह एक राजनैतिक विवाह और उसके परिणाम स्वरूप, विवशता में बने संबंध का एक जीवित मानवीय रूप है, तब उसकी अंतरात्मा को बहुत ही आघात पहुँचता है और वह अन्दर से बिल्कुल टूट जाता है। वह कहता है, "मैं क्या हूँ ? मैंने क्या

किया है ? शासन ? लेकिन वह तो जन्म का आकस्मिक संयोग है, सत्ता का चमत्कार सांस के टूटते ही समाप्त हो जाता है। राज सिंहासन पर जो बैठता है, वह वाकाटक नरेश है। वहाँ , प्रवरसेन कहीं नहीं आता।.. तब फिर मैंने क्या पाया ? मेरी व्यक्तिगत उपलब्धि क्या है ?.. अगर कालिदास की स्वीकृति भी सच्ची नहीं है, तब फिर में अपने पिताजी की तरह एक औसत व्यक्ति हूँ। मेरा सेतु भी आधा या चौथाई या तिहाई है- कीचड़ और काई-सना..घुन और जंग लगा ..भग्न ..जर्जर.. कंकालवत्"[9]

इस प्रकार नाटककार ने इस नाटक में चन्द्रगुप्त की राजनैतिक लालसा, प्रभावती के अन्दर की परंपरागत समझौतावादी भारतीय नारी तथा प्रवरसेन द्वारा अपनी अस्मिता की खोज आदि प्रसंगों के माध्यम से आज की आधुनिक मानवीय आकांक्षा, उसके द्वंद्व , पीड़ा और अस्मिता को तलाशनें जैसे मूल प्रश्नों को उठाया है, "व्यक्ति अपनी आंतरिक आँखों से अपने को देखना समझना चाहता है- यह उसकी बेचैनी, विवशता और आवश्यकता है, वह दूसरे की आँखों से ही अपना मूल्य आंकना नहीं चाहता और न केवल आकस्मिक संयोग मात्र बनकर रह जाना चाहता है। व्यक्ति की यही छटपटाहट इस नाटक का विशेष पहलू है।"[10]

पात्र ही नाटकों में विचारों को संप्रेषित करने का कार्य करता है। पात्र ही अपने संवादों और भाव-भंगिमाओं के अभिनय से नाटक को पूर्णता की ओर लेकर जाता है। मूल संवेदना भी नाट्य पात्रों के माध्यम से ही पूर्ण होती है। वस्तुतः किसी भी नाटक की सफलता इस बात पर निर्भर करती है कि किसी भी नाटक का पात्र अपने चरित्र में कितना ढल कर नाटक की कथावस्तु को अपने अभिनय के माध्यम से प्रस्तुत करता है। मूलत : पात्र नाटककार के विचारों और दृष्टिकोणों को ही अपने अभिनय द्वारा प्रस्तुत करता है। सुरेन्द्र वर्मा के नाटकों के पात्र परंपरा और आधुनिकता के संदर्भ में द्वंद्वात्मक जीवन यापन करते हैं। एक ओर तो परंपरा का अनुशीलन करते हैं तो वहीं आधुनिकता उनके व्यक्तित्व में दिखती है। इसी द्वंद्व को सुरेन्द्र वर्मा ने अपने पात्रों के माध्यम से चित्रित किया है।

प्रवरसेन-

'सेतुबंध' नाटक में सुरेन्द्र वर्मा ने प्रवरसेन का चित्रण एक आधुनिक संदर्भ में किया है, जहाँ आज व्यक्ति अस्तित्व के संकट से जूझ रहा है। यूँ तो इतिहास पर दृष्टि डालें तो प्रवरसेन वाकाटक के राजा थे। किंतु इस नाटक में इनके माध्यम से समकालीन समाज में अस्तित्व के संकट को लेकर इन्हें चित्रित किया गया है। यदि परंपरा की बात करें तो प्रवरसेन संवेदना के स्तर पर परंपरावादी विचारों के हैं। प्रवरसेन को जब अपनी माता के प्रेम संबंध के विषय में पता विवाहपूर्व कालिदास से चलता है तो वह बेचैन हो उठता है, क्योंकि उसके लिए उसकी माता पूजनीय-वंदनीय है। इसलिए वह प्रभावती अर्थात् अपनी माता से प्रश्न करता है, ''तुमने वैवाहिक मर्यादा का उल्लंघन किया है। पति के होते परपुरुष की चाह। परपुरुष आया ही क्यों ? ऐसी क्या विवशता थी ? क्यों न कोई ऐसा रास्ता खोज लिया कि पति ही सही मायने में पति हो जाता है।''[11] प्रवरसेन अपने अस्तित्व के संकट से इतना आहत रहता है कि वह आवेग में अपनी सारी मर्यादा तोड़ परंपरा का अतिक्रमण कर अपनी माता से प्रश्न कर उठता है, ''संतान, पति और पत्नी को सेतु की तरह जोड़ देते हैं। लेकिन मेरे जन्म के बाद तो तुम दोनों के बीच की खाई और बढ़ गई होगी। मुझे देखते ही तुमको वे क्षण डसने लगते होंगे, जब उस रात तुम्हारे न चाहते हुए भी उस व्यक्ति ने तुम्हें छुआ था... उस अनुभव का विषैलापन, उस प्रक्रिया से निकलने की पीड़ा मैंने कितनी बार जगाई होगी।''[12]

आज की आधुनिक समाजिक परिस्थितियाँ भी कुछ ऐसी ही हैं। आज जिस प्रकार पश्चिमी सभ्यता और परंपरा का अनुकरण भारतीय समाज करता जा रहा है, वहाँ अस्तित्व का संकट मंडराना स्वाभाविक है। हमारी परंपरा में एक स्त्री या एक पुरुष का जीवन में आना, विवाह पूर्व शारीरिक संबंध बनाना अनैतिक है। ऐसे में आधुनिककालीन अस्तित्व संबंधी यह सवाल कई व्यक्ति विशेष के हो सकते हैं, जैसे प्रवरसेन भी अपनी माता से अपने अस्तित्व पर सवाल पूछता है। जिसके उत्तर में उसकी माता उसे बताती है कि उसमें वह अपने प्रेमी अर्थात् कालिदास की प्रतिछाया देखती है।

जिससे प्रवरसेन टूट जाता है। वह अपनी माता से कहता है, ''इस जानकारी के बाद मेरा जीना कितना कठिन हो गया, ये कौन जानता है- मुझमें से जीवन की सारी सार्थकता निचोड़ ली।''[13]

इस प्रकार प्रवरसेन आधुनिक मनुष्य की भांति अपने अस्तित्व के संकट से जूझता रहता है और अपनी माता से उसके जीवन को जानने के बाद खुद के अस्तित्व पर संदेह करने लगता है। उसे अपने जीवन की सार्थकता और उपलब्धियों पर संदेह होने लगता है। वह अपने आप से प्रश्न करता है, ''मैं क्या हूँ ? मैंने क्या किया ? अगर कालिदास की स्वीकृति भी सच्ची नहीं है, तब फिर मैं भी अपने पिता की तरह एक औसत व्यक्ति हूँ। अधिकतर सेतुओं के समान मेरा सेतु भी आधा या चैथाई या तिहाई है- कीचड़ और काई सना-घून और जंग, लगा भग्न-जर्जर कंकालवत।"[14]

प्रभावती-

'सेतुबंध' नाटक में प्रभावती परंपरावादी एवं आधुनिक दोनों ही रूपों में चित्रित की गई है, जो अपने पुत्र के सवालों का पूरी स्पष्टता से उत्तर देती है। जिससे उसमें आधुनिक स्त्री की हमें झलक मिलती है। वहीं दूसरी ओर वह माता, पत्नी और प्रेमिका तीनों ही रिश्तों को पूरी निष्ठा से निभाती है। जिससे उसके चरित्र में एक भारतीय परंपरागत स्त्री की छवि दिखती है, जिसमें त्याग की भावना है। जो अपना सर्वस्व निछावर कर दूसरे के व्यक्तित्व निर्माण में निमित्ति बन जाती है। लेकिन स्त्री भावना की सदैव उपेक्षा ही हुई है। प्रभावती तभी अपने पुत्र से कहती है, ''माता हूँ लेकिन स्त्री भी तो हूँ। क्योंकि माँ हूँ, इसलिए स्त्री होने का अधिकार नहीं... कौन समझेगा कि मेरी भावना आज तक कुमारी है... मैं माँ बनी हूँ लेकिन पत्नी नहीं।''[15] इस प्रकार प्रभावती में वाक् स्पष्टता है। उसमें आधुनिकता की झलक मिलती है। साथ ही इस प्रसंग से, इन भावनाओं से उसके अंदर परंपरावादी स्त्री की झलक भी देखी जा सकती है। क्योंकि उसने पिता के दवाब और अपने प्रेम की रक्षा हेतु अपने प्रेम का त्याग किया। प्रभावती पर दबाब डाला गया था कि वह अपने प्रेमी कालिदास का त्याग कर दे, जिसके लिए उसने प्रभावती से कहा, ''चन्द्रगुप्त: आज जो आश्रयदाता उदार और कृपालु है, वह

कल कठोर और दण्ड विधायक भी हो सकता है, क्या प्रभावती चाहेगी कि एक नवोदित कवि, जिसमें विलक्षण प्रतिभा है, जिसका यश और जिसकी कीर्ति दिग्दिगंतर में गूंज सकती है, कारागार की किसी अंधेरे कोठरी में एड़ियाँ रगड़-रगड़ कर मरे ? केवल इसलिए कि प्रेम अंधा था। उसने अपनी दोनों बाहों में आकाश को बांध लेना चाहा था।"[16]

प्रेम में सर्वस्व निछावर करना, त्याग करना हमारी भारतीय परंपरा में पहले भी देखा गया है। उसी परंपरा का निर्वाह करते हुए प्रभावती भी कालिदास के जीवन एवं उसके उज्जवल भविष्य के लिए अपने प्रेम अर्थात् कालिदास का परित्याग कर देती है। कालीदास का त्याग करने के वर्षों बाद भी प्रभावती अपने प्रेम को भूला नहीं पाती है। वह अपने पुत्र में अपने पति से अधिक अपने प्रेमी कालिदास के गुणों की झलक पाती है। साथ ही अपने जीवन की सार्थकता और खुशी इसी में पाती है। खुद प्रवरसेन के बचपन की स्मृतियों में कुछ शेष है जो इस बात की पुष्टि करता है कि विवाह के पश्चात् प्रभावती अर्थात् उसकी माता की दशा कैसी थी। प्रवरसेन अपनी स्मृतियों को टटोलते हुए याद करता है, ''बचपन के कच्चे दिनों से बहुत कुछ देखता आ रहा हूँ। मन पर कितनी ही छवियाँ अंकित हैं, कितने पर्यवेक्षण, कितने अनुभव खण्ड उन सबकों जोड़कर माँ का जो चित्र बनता है, वह बहुत उदास जैसे घने अंधकार की पृष्ठभूमि में सहस्त्रों दीपमालाओं से आलोकित बिल्कुल निर्जन राजप्रसाद जैसे तपती दोपहर में किसी प्यासे चातक की कातर पुकार जैसे दो निर्दोष आंखों की निरंतर अश्रुवर्षा।''[17] इस 'सेतुबंध' नाटक में प्रभावती के चरित्र का विश्लेषण करें तो सुरेन्द्र वर्मा ने परंपरावादी और आधुनिक दोनों ही रूपों में उसका चित्रण किया है। वाकाटक युवराज से विवाह कर जहाँ अपने पिता की राजनैतिक आकांक्षा पूरी कर देती है, वहीं अपने प्रेम का त्याग कर उसके जीवन और सुनहरे भविष्य की रक्षा भी करती है। यह त्याग समर्पण की भावना प्रभावती जैसी परंपरागत भारतीय नारियों की ही रही है। अतः जिसे परंपरा का बोध हो वही आधुनिक भी हो सकता है। इस सन्दर्भ में प्रभावती के चरित्र में आधुनिकता का परिचय हमें तब मिला है जब उनका पुत्र प्रवरसेन अपने अस्तित्व से जुड़े प्रश्न करता है। जिसके उत्तर में प्रभावती शुरूआत से अपने

विवाह से जुड़ी सारी कथा तथा कालिदास के साथ अपने प्रेम संबंध की सारी बातें अपने पुत्र प्रवरसेन को निःसंकोच बता देती है। अतः जो तर्क-वितर्क देती है, उसमें एक आधुनिक वाक् स्पष्ट नारी के स्वरूप का दर्शन होता है।

चन्द्रगुप्त-

चन्द्रगुप्त के माध्यम से सुरेन्द्र वर्मा ने आज के समकालीन राजनीतिज्ञों के चरित्र पर प्रकाश डाला है। आज जिस प्रकार राजनेता अपने लाभ के लिए, राजनीति में अपना कद ऊँचा करने के लिए हर दांव-पेंच लगाते हैं, वैसे ही 'सेतुबंध' नाटक में भी चन्द्रगुप्त एक राजनीति के तहत अपनी पुत्री का जीवन और उसके प्रेम की बलि चढ़ा देता है। जिस प्रकार राजनेता के आगे सत्ता से बढ़कर कुछ नहीं होता, उसी प्रकार चन्द्रगुप्त अपनी सत्ता और उसकी उन्नति के लिए अपना ईमान, धर्म, अंतरात्मा यहाँ तक की प्रभावती की खुशियों का भी ख्याल नहीं करता। अतः प्रभावती का विवाह कालिदास से न करवाकर प्रस्ताव वाकाटक नरेश के पास भेजते हैं, क्योंकि इस विवाह से भविष्य की कई संभावनाएं बढ़ जा रही थीं। अतः प्रभावती के विवाह का प्रस्ताव वाकटक नरेश को भेजा जाता है, ''ब्याह से दोहरे उद्देश्य पूरे होंगे- वाकाटक गुप्त सम्राट के प्रभाव क्षेत्र में मालवा, गुजरात और सौराष्ट्र की बहुत उपजाऊ भूमि के हाथ में हो जाने से एक तो शासन की समृद्धि बढ़ेगी और दूसरी ओर साम्राज्य की सीमाएँ बंगाल की खाड़ी से अरब सागर तक निषेध फैल जाएँगी। दिग्विजय पूरी होने के बाद एक देश में एक सम्राट का एकछत्र शासन होगा। जो समय, साधन और शक्ति आपसी युद्धों में बेकार जा रही है, जनकल्याण में लगेगी। शक्ति और सद्भावना के वातावरण में साहित्य और कला की उपलब्धियाँ गगन चुंबी ऊँचाइयों को छू लेगी और सभ्यता और संस्कृति को गुप्त युगों की अमूल्य देन सहस्त्रों शताब्दियों तक याद की जाएगी।''[18] इस प्रकार चन्द्रगुप्त का विश्लेषण करें तो वह एक महत्त्वकांक्षी शासक है जो अपने राज्य, सत्ता, यश की उन्नति हेतु कुछ भी कर सकता है। उसकी आकांक्षा ऐसी होती है कि उसका यश दूर-दूर तक के राज्यों में सुना जाए, वह अपनी उपलब्धियों के साथ कई और उपलब्धियाँ जोड़ना चाहता है, ''एकाधिकारी सत्ता का विशेषण महाराजाधिराज

शक्ति का प्रतीक सिंह विक्रम कलात्मक संस्कारों का सूचक रूपाकृति नकक्षत्राय रुद्रसिंह का दमन करके में रुद्रदमनकर्ता।''[19]

चन्द्रगुप्त के लिए पुत्री की खुशी से बढ़कर एकछत्र राज करना है। अतःअपने सत्ता विस्तार हेतु दो प्रेमी युगल को सदा के लिए अलग कर देते हैं अर्थात् प्रभावती और कालिदास हमेशा के लिए अलग हो जाते हैं। जिसके लिए चन्द्रगुप्त अपनी पुत्री को प्रेम की भाषा में समझाते हैं। वे कहते हैं कि वह कालिदास को त्याग कर वाकाटक नरेश के साथ विवाह के उसके प्रस्ताव को स्वीकार कर ले, ''प्रभावती गुप्तवंश की राजदुहिता है जिस कुल का रक्त उनकी नसों में दौड़ रहा है, उसे इतिहास के पन्नों में चिरस्थाई बनाने के लिए क्या उन्हें अपना हठ नहीं छोड़ देना चाहिए ?''[20] इस प्रकार पहले वह संवाद द्वारा अपने उद्देश्य की पूर्ति करने का प्रयत्न करता है। किंतु जब प्रभावती अपने फैसले को नहीं बदलती है तो चन्द्रगुप्त अपना शासकीय राजनैतिक चेहरा दिखाता है। प्रभावती को दूसरे अर्थों में स्पष्ट चेतावनी देता है, जिससे वह टूट जाती है और कालिदास को त्याग देने का फैसला लेती है । अतः चन्द्रगुप्त शासकीय अंदाज में कहता है, ''आज जो आश्रयदाता उदार और कृपालु है, वह कल कठोर और दण्ड विधायक भी हो सकता है।''[21]

अतः निष्कर्ष स्वरूप कहा जा सकता है कि राजनीति में हमेशा से यह देखा गया है कि सत्ता विस्तार के लिए कितने ही लोगों की ज़िदगी और भावनाओं का सौदा हो जाता है। जनता को यश और पदोन्नति का निमित्त मात्र माना जाता है। इस प्रकार चन्द्रगुत भी 'सेतुबंध' नाटक में अपनी पुत्री को अपनी सत्ता और यश हेतु उसे उसके प्रेम से अलग कर उसका विवाह वाकाटक युवराज से कर देते हैं। जिससे उसके महत्वाकांक्षी सत्ता विस्तार को एक सफलता प्राप्त हो।

4.2 नायक खलनायक विदूषक

सुरेन्द्र वर्मा ने अपने इस नाटक का परिवेश भी प्राचीन गुप्तकाल से लिया है। साथ ही इस नाटक की विशेषता भी यही है कि यह आधुनिक मानव के संघर्ष, द्वंद्व, विवशता और व्यक्तित्व की खोज आदि

प्रश्नों को व्यंजित करने में सफल है, " 'नायक खलनायक विदूषक' में आदमी की विवशता, स्वतंत्र व्यक्तित्व का प्रश्न, कलाकार का द्वंद्व और रंगमंच की प्राचीन-आधुनिक प्रदर्शन-पद्धतियों का कुशल उपयोग किया है।"[22]

इस नाटक में सुरेन्द्र वर्मा ने मुख्यतः कपिंजल नामक पात्र के माध्यम से व्यक्ति की चयन स्वतंत्रता, उसकी मनोइच्छा के कुचले जाने जैसी स्थिति को चित्रित किया है। आज के आधुनिक युग में भी परिस्थितियाँ बहुत अधिक परिवर्तित नहीं हुई हैं। सत्ता समाज के विरुद्ध उसकी इच्छा का दमन कर अपनी सत्ता चलाना चाहती है। एक बार चयनित होने के पश्चात् सत्ता जनता की इच्छा का शायद ही ख़याल रखती है, जिसके कारण हम अक्सर सत्ता के विरुद्ध जनता में विरोध और आक्रोश देखते हैं। ठीक उसी प्रकार आज विभिन्न कार्यालयों और संगठनों में भी कपिंजल जैसे पात्र देखे जाते हैं, जिसकी इच्छाओं की उपेक्षा की जाती है, जहाँ उसकी दिशा तय कर दी जाती है या नाट्य भाषा में कहा जाए तो उसका पात्र-चरित्र तय कर दिया जाता है कि उसे किस प्रकार इस दुनिया के रंगमंच पर अभिनय करना है। उसे अपने पात्र चयन की कोई स्वतंत्रता नहीं दी जाती है। जैसे इस नाटक का पात्र कपिंजल भी एक ही 'विदूषक'का पात्र वर्षों से अभिनीत करते आ रहा होता है और वह अब अपने इस पात्र से ऊब चुका रहता है। एक ही तरह के पात्र अभिनय से उसके नाट्य जीवन और निजी जीवन में भी वह ऊब चुका रहता है। कपिंजल रंग विधा में स्नातक है और प्रारंभ में बेरोजगार रहने के पश्चात् उसे नील-नगर के रंगशाला में अभिनय करने का कार्य मिल जाता है। वक्त के साथ उसका अभिनय लोगों में काफी लोकप्रिय भी होता है, किन्तु उसे लगातार एक ही पात्र अभिनीत करने को दिया जाता है। लगातार अवसरों के नाम पर उसे विदूषक का ही पात्र मिलता है एक अनिच्छित चरित्र अभिनय को बार-बार मिलता है, "वह विवश होता है चुने जाने के लिए। वह स्वयं निर्वाचन नहीं कर पाता है। एक विकल्पहीनता में उसे निर्वाचित होना पड़ता है। उसे अनुकूल अवसर दिया जा रहा यह कहकर, एक प्रतिकूल और अनिच्छित भूमिका मिलता है विदूषक की। बराबर अवसरों के नाम पर उसे विवश किया जाता है विभिन्न नाटकों में बराबर एक ही भूमिका

निभाने के लिए। सभी पात्रों के लिए नई भूमिकाएं रहती हैं, परंतु वह निरंतर एक ही निष्प्राण भूमिका में अपनी आत्मा के विरुद्ध उतरता है।"[23]

कपिंजल अभिनय के माध्यम से विभिन्न चरित्रों को जीना चाहता है, ताकि उसके अपने असल जीवन में भी एक नई स्फूर्ति महसूस हो, वह जीवन के अन्य पक्षों को भी जान सके रंगमंच के माध्यम से जी सके, रंगमंच के माध्यम से वह अपने नाट्य जीवन और असल जीवन में भी जीवंतता और गतिशीलता बनाए रखना चाहता है, किन्तु उसे हर बार अलग तर्कों और माध्यमों से विवश किया जाता है कि वह वही नीरस और रूढ़ नाट्य पात्र को अभिनीत करे, "और अब राज्य के लिए है।...फिर परसों के दिन कहीं का नाट्याचार्य आ जायेगा, तो कला के लिए होगा। ..(आवेश में) यह दुश्चक्र कभी नहीं टूटेगा श्रीमान!"[24] दरअसल आज हम आम आदमी लोकतांत्रिक व्यवस्था में जी तो रहे हैं, किन्तु हम अभिशप्त हैं समझौतावादी बनने के लिए। जैसे कपिंजल, सूत्रधार, पुष्पदंत आदि से हर प्रकार से तर्क करने के बाद भी उसे विदूषक का पात्र ही अभिनीत करने को विवश हो जाता है, "अब यही सोचकर स्वयं को संतोष दो कि भूमिका चुनने का अधिकार हमारा नहीं। और इतना ही क्या कम कि हम मछुआ या कंचुकी नहीं हुए।"[25]

इस नाटक में कुमारभट्ट एक ऐसा पात्र है जो परिस्थियों से संघर्ष नहीं करता, बल्कि वह एक समझौतावादी चरित्र है। वह परिस्थितियों से हार वक्त से समझौता करना सीख लेता है। कपिंजल का विदूषक की भूमिका का विद्रोह करने पर कुमारभट्ट उसे भी समझौता करने को कहता है, साथ ही साथ उसे इसके लिए मना भी लेता है। इस नाटक में कुमारभट्ट के चरित्र का मूल्यांकन करें तो वह समकालीन समाज का प्रतिनिधि पात्र भी प्रतीत होता है। जहाँ वह आधुनिक मानव के इस सच को जानता है कि आज की इस दुनिया में वास्तविकता के धरातल पर रहकर ही जिंदा रहा जा सकता है। जहाँ ज़िंदगी की एक सच्चाई यह भी है कि आप या तो संघर्ष करो या तो परिस्थितियों से समझौता कर लो, तभी आपका अस्तित्व संभव है, "इच्छाएँ जीवन की नियामक नहीं हैं कपिंजल। हमारे मनचाहे जीवन का मानचित्र पूर्व की ओर जाता है और वास्तविक जीवन परिचय की ओर।"[26]

इस प्रकार कपिंजल और कुमारभट्ट दोनों ही आधुनिक समाज में आज के उस मानव को चित्रित करते हैं, जहाँ एक विद्रोही और संघर्षशील है पर अंततःआत्मबलिदानी, वहीं दूसरा भीतर से टूटा हुआ समझौतावादी और आत्मसमर्पित पराजित, "एक हमारी विद्रोही चेतना का बलिदानी आयाम है और दूसरा आत्मसमर्पण, पराजय-स्वीकृति और समझौते की दिशा है।"[27]

इसके अतिरिक्त सुरेन्द्र वर्मा ने आज रंगमंच के अस्तित्व पर मंडरा रहे खतरे को भी उजागर किया है। रंगशाला की शोभा उनके दर्शकों से ही बढ़ती है और जिस प्रकार आज मनोरंजन का आधुनिक माध्यम दिन-प्रतिदिन बढ़ते जा रहा है वैसे-वैसे लोगों का नाटक और रंगमंच के प्रति रुचि कम होती जा रही है। आज नाटक और रंगमंच की दुनिया सिमटती जा रही है। इसके दर्शक अब कुछ एक ख़ास वर्ग के होते हैं, जिनके अन्दर कला आज भी जिंदा है। जो अपनी परंपरा और संस्कृति से आज भी जुड़े हैं और नाटक एवं रंगमंच की इस दुनिया को जिंदा रखना चाहते हैं। सुरेन्द्र वर्मा रंगमंच के इस अस्तित्व संकट को इस नाटक में इन शब्दों में प्रकट करते हैं,

"सूत्रधार : (संकेत और मंद स्मित सहित) तनिक देखो तो! रंगपीठ पर धूल की फैली रंगोली सजी है!

स्थापक : हर जगह यही हाल है महोदय ! महिलाओं के वेशभूषा कक्ष में तो चिड़िया ने घोंसला तक बना लिया है। (दर्शकों की ओर बढ़ आता है। ऊँचे स्वर में) पारिपार्श्विक !

सूत्रधार : (आगे मंच- सीमा तक आते हुए , सूंघता सा) एक मास तक बंद रहने से कैसी गंध भर गई है.. पारिपार्श्विक !"[28]

अतः निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि सुरेन्द्र वर्मा का यह नाटक 'नायक खलनायक विदूषक' ऐतिहासिक मिथकीय कथा पर आधारित नाट्य रचना तो है, किन्तु यह आज के समकालीन समाज में मानव ज़िंदगी के उस पक्ष से हमें परिचित भी करवाता है, जहाँ मनुष्य के पास दो रास्ते रहते हैं या तो वह जीवन में संघर्ष करे अथवा आत्मसमर्पण कर दे। व्यवस्था से संघर्ष करने पर या तो अंत तक

लड़े और व्यवस्था में परिवर्तन लाए या हालातों से हार कर अंत में समझौता स्वीकार कर ले। जिस प्रकार कपिंजल इस नाटक में अंततः परिस्थिति के हाथों और कुमारभट्ट के समझाने पर समझौता करने के लिए विवश हो जाता है, क्योंकि उसके लिए दूसरा कोई और मार्ग नहीं बचता था। यदि वह संघर्ष करता और अन्त तक विद्रोह करता तब उसे शायद राजकीय रंगशाला से निकाल दिया जाता और मुमकिन है कि उसे कोई राजकीय दंड भी दिया जाता, जैसा कि उसे चेतावनी दी गई थी। इसके अलावा भारतीय रंगमंच की इस महान परंपरा का अस्तित्व किस प्रकार धूल की चादर से ढकता जा रहा है, इस ओर भी हमारा ध्यान केन्द्रित किया गया है। इस दृष्टि से सुरेन्द्र वर्मा के इस नाटक में आधुनिक भाव बोध है जो मानव समाज के हालातों और उन हालातों से अंततः समझौता करते मनुष्य को चित्रित करते हैं, जो प्रासंगिक हैं।

कपिंजल-

'नायक खलनायक विदूषक' का पात्र कपिंजल एक आधुनिक समकालीन व्यक्ति है जो नाट्य जगत से जुड़ा हुआ है। वर्षों से वह एक ही पात्र विदूषक के पात्र का अभिनय करता रहता है। किन्तु उसकी यह इच्छा रहती है कि इस पात्र चरित्र के अतिरिक्त अन्य पात्र-चरित्रों को अभिनीत करने का उसे अवसर प्राप्त हो। सुरेन्द्र वर्मा ने कपिंजल के माध्यम से समकालीन मनुष्य की ऊब को व्यंजित किया है। यह ऊब एक ही तरह की जीवन शैली को वर्षों तक जीने की ऊब है। इस भौतिकवादी आधुनिक समकालीन समाज में नीरस जीवन शैली के प्रति एक साधारण मनुष्य की ऊब है। कपिंजल नदी की उस धारा की तरह बहना चाहता है जो चलायमान होती है। जिसका जल स्वच्छ होता है। जिसकी कलकलाहट में एक ताजगी होती है। वह उस कूप या नदी के ठहरे जल की तरह जीवन नहीं जीना चाहता, जिसमें एक बहाव या ताजगी न हो। कपिंजल कहता है, ''इसकी भूमिका ऐसा मोदक है, जिसे मैंने सैकड़ों बार निगला है, लेकिन जो बार-बार मेरे सामने आ जाता है, वह रूप, वही आकर, वही गंध, वही स्वाद। क्योंकि ये बिल्कुल स्थिर चरित्र हैं।"[29] अतः कुमार भट्ट को इस पात्र का पुनः अभिनय करने से मना करता है। किंतु परिस्थितियाँ उसके विरोध को कमजोर कर देती हैं। उसे

धर्म, कर्म, कला, भाग्य, नियति आदि बताकर उसके विचारों पर विराम लगा दिया जाता है। कुमार भट्ट उसे अपने तर्कों से पराजित कर उसे पुनः विदूषक का पात्र अभिनय करने के लिए तैयार कर लेता है। कपिंजल की स्थिति ऐसी होती है, जिसमें वह अपनी भावनाओं का बलिदान कर देता है या यूँ कहें कि वह आत्मपराजय स्वीकार कर लेता है। डॉ. चन्द्रशेखर के शब्दों में कहें तो, ''इस बिंदु पर समकालीन जीवन की त्रासदी गहराने लगती है। हम यह निर्णय भी नहीं कर पाते हैं कि यह कपिंजल का बलिदान है या आत्मपराजय। पर वह पुनः दोनों के बीच रहने के लिए दण्डित हुआ है।''[30]

इस प्रकार सुरेन्द्र वर्मा ने कपिंजल के माध्यम से आज के समकालीन आधुनिक मानव के एकरस जीवन को इस नाटक में दिखाया है। जिसका इस एकरसता के कारण जीवन ऊब से भर चुका है, वह रंगमंच पर विभिन्न पात्रों के माध्यम से जीवन को विभिन्न दृष्टि से अनुभव करना चाहता है। किंतु सुरेन्द्र वर्मा ने यह दिखाया है कि आज वर्तमान में परिस्थितियाँ से हमें इस प्रकार विवश कर देती हैं जैसे कपिंजल होता है कि हम चाहकर भी उस ऊब से, उस जीवन शैली से बाहर नहीं आ पाते हैं। भाग्य, नीति, धर्म, भय और डर से उसी ऊब और जीवन शैली को अपनाए रह जाते हैं या हम समझौतावादी बन जाते हैं।

4.3 द्रौपदी-

सुरेन्द्र वर्मा के नाट्य संग्रह 'तीन नाटक' का तीसरा नाटक 'द्रौपदी' है। इस नाटक से पूर्व दो नाटकों 'सेतुबंध' और 'नायक खलनायक विदूषक' का अर्थ बोध तो आधुनिक है, किन्तु देशकाल और पात्र योजना ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में की गई है। लेकिन 'द्रौपदी' नाटक का साक्षात्कार सीधा-सीधा आधुनिक समकालीन मानवीय जीवन के कटु यथार्थ से होता है। जहाँ नाटककार ने किसी भी प्रकार से ऐतिहासिकता का सहारा नहीं लिया है। 'द्रौपदी' नाटक आधुनिक समाज में खंडित व्यक्तित्व वाले मनुष्यों का चित्रण करता है, साथ ही उनकी जीवन विसंगतियों के मूल कारणों को उजागर करता है, "मानवीय संबंधों के बिखरने-टूटने और साथ ही बदलते नैतिक मूल्यों और काम संबंधों

को केंद्र में रखकर सम्पूर्ण नाटक लिखा गया है। समकालीन परिस्थितियों के दवाब से व्यक्ति किस प्रकार टुकड़ों में बंट जाता है और एक साथ कई जिंदगियाँ जीता है और इसीलिए कुंठित होता है। इस सत्य को 'द्रौपदी' में निःसंकोच प्रस्तुत किया गया है।"[31]

नाटक में मुख्यतः एक दाम्पत्य पात्र है- सुरेखा और मनमोहन। सुरेखा नाटक में आधुनिक द्रौपदी की प्रतीकात्मक पात्र है। जिस प्रकार द्रौपदी के पाँच पति थे, उसी प्रकार सुरेखा का पति भी पाँच व्यक्तित्वों वाला एक इंसान है। सुरेखा अपने पति और उसके पाँच व्यक्तित्वों का निरंतर ही अनुभव करती है, "जैसे अब वह आदमी एक नहीं, एक से ज्यादा हैं ? उसके हिस्से हो गये हैं अलग-अलग और कभी एक से तुम्हारा सामना है और कभी दूसरे से।"[32] सुरेखा का पति मनमोहन है जो हमेशा ही घर में शान्ति से रहता था। जिसके साथ उसका दाम्पत्य जीवन बहुत ही खुशहाल था। पर अब सब कुछ बदल गया है, सुरेखा का अब अपना परिवार खंडित हो चुका है, एक ही परिवार के लोग अपनी ज़िंदगी अपने ढंग से जीते हैं, कोई भी किसी बात को लेकर एक मत नहीं है,

"मनमोहन : (कुछ रुककर, इधर-उधर देखते हुए) कभी-कभी मुझे लगता है कि जैसे यह घर..

सुरेखा : (जैसे ध्यान बांटने को) सुनो।

मनमोहन : हूँ।

सुरेखा : बहुत दिनों से हम लोग बाहर नहीं निकले। कल कहीं चलो न!

मनमोहन ?

सुरेखा : कहीं भी-ओखला, क़ुतुब, सूरजकुंड-न हो तो यहीं चलो- वृद्धाजयन्ति पार्क-

मनमोहन : कौन-कौन ?

सुरेखा : कौन-कौन क्या मतलब ? हम सब !

मनमोहन : हम सब कौन ?

सुरेखा : क्या हो गया है तुम्हें ? हम चारों।

मनमोहन : (फीकी मुस्कान से) क्यों झूठमूठ अपने को बहलाती हो ? वे दोनों जायेंगे हमारे साथ ? कोई न कोई जरूरी काम निकल आयेगा उन्हें। एक के दोस्त की सालगिरह ! दूसरे की एक्स्ट्रा क्लास!"[33]

आज के समाज में पारिवारिक एकता, मूल्य कैसे टूटते जा रहें हैं। नाटक का यह दृश्य एक सटीक उदाहरण है। हमारी भारतीय परंपरा पारिवारिक मूल्य 'हम' के अर्थ में आस्था रखती थी, वहीं आज हम एक-दूसरे से कट कर 'मैं' शब्दावली का इस्तेमाल करने लगे हैं। इस सन्दर्भ में सुरेखा और मनमोहन का परिवार आज के खंडित परिवार को संबोधित करता है।

सुरेखा का पति मनमोहन जिसके व्यक्तित्व के पाँच रूप हैं। पहला मनमोहन जिससे उसकी शादी हुई थी और जिसके साथ एक समय तक वह बहुत ही खुश थी, पर मनमोहन के अतिरिक्त चार और रूप हैं। सफ़ेद, पीले, लाल और काले नकाबधारी वाला मनमोहन। सफ़ेद नकाबधारी वाला मनमोहन का वह दूसरा रूप है, जो उसकी अंतरात्मा है, जो सदा मनमोहन को सुमार्ग पर चलने के लिए प्रेरित करता है और हमेशा ही गलत कार्यों को करने से रोकता है, साथ ही अन्य नकाबधारियों के गलत कार्यो के करने पर शर्मिंदा भी होता है। सुरेन्द्र वर्मा ने इस नाटक में प्रतीकों के माध्यम से हमें यह बताने का प्रयत्न किया है कि आज हम आधुनिकता के बाह्य रूपों के पीछे अर्थात् भौतिक सुखों के पीछे इस तरह भाग रहे हैं कि हमारे अन्दर कई और शख्सियतों ने जन्म ले लिया है। हमारी आत्मा हमेशा गलत कार्यों को करने से हमें रोकती है, किन्तु बहुत कम ही ऐसा अवसर होता है जब हम अपनी आत्मा की सुनते हैं। हमारी आत्मा का प्रतिनिधित्व मनमोहन का सफ़ेद नकाबधारी रूप करता है। मनमोहन का तीसरा व्यक्तित्व पीला नकाबधारी है, जो अपने पद-प्रतिष्ठा में पदोन्नति हेतु दिन रात परेशान रहता है। जिसके लिए वह अंतहीन दौड़ लगाता रहता है। जहाँ उसे कार्यालय में दिए गए कार्य लक्ष्य को नहीं करने पर अपने से उच्च अधिकारी की प्रताड़ना भी झेलनी पड़ती है।

मनमोहन का यह पीला नकाबधारी रूप भी आज के ही मनुष्य का प्रतिनिधि रूप है, जिसके अन्दर पद, प्रतिष्ठा और अपना कद ऊँचा करने के लिए दिन-रात मेहनत करता रहता, भागता रहता है। वह इंसान से मशीन बन जाता है। फिर भी उसके अन्दर की चाहत और पाने की भूख खत्म नहीं होती है। यही आज के आधुनिक मनुष्य की सच्चाई बन चुकी है। इंसान आज थोड़े में खुश नहीं है, जैसे मनमोहन का पीला नकाबधारी वाला रूप। मनमोहन का चौथा व्यक्तित्व लाल नकाबधारी वाला है। जो कामुक है, विवाह के पश्चात् भी परस्त्रियों से संबंध स्थापित करता है। यौनाचार में वह अक्सर लिप्त रहता है। अपनी पत्नी सुरेखा के प्रति उसका आकर्षण कम हो चुका है और बाहर अंजना, रंजन और वंदना से शारीरिक संबंध स्थापित करता है। मनमोहन का लाल नकाबधारी भी आज के मनुष्य का ही प्रतीक रूप है। जो काम में आसक्त है। आज के समाज का एक कटु सत्य यह है कि आज दाम्पत्य जीवन टूट रहा है। पति-पत्नी एक-दूसरे के प्रति ईमानदारी और भरोसा कायम नहीं रख पा रहे हैं। मानव अपनी मनुष्यता के लक्षणों को छोड़ पशु बनता जा रहा है। जहाँ न समाज होता है, न सामाजिक संरचना और न उनकी नियमावली। मनमोहन का पाँचवां रूप काला नकाबधारी व्यक्तित्व वाला है। जो भौतिक सुखों और उपलब्धियों के पीछे बेतहाशा भागता रहता है। यहाँ तक कि वह घर भी छोड़ देता है। काले नकाबधारी का हमेशा ही सफ़ेद नकाबधारी से द्वंद्व रहता है, क्योंकि सफेद नकाबधारी हमेशा ही इस काले नकाबधारी के रास्ते में आ जाता है। यहाँ भी नाटककार हमारे मन और आत्मा को प्रतीक रूप में चत्रित करता है। काला नकाबधारी हमारे मन का प्रतिनिधित्व कर रहा है, जो चंचल है, हमें भटकाता है l सफेद नकाबधारी हमारी आत्मा का प्रतीक है, जो सही रास्ते पर चलने को प्रेरित करता है और हमेशा गलत करने से पहले हमें रोकता है।

इस प्रकार मनमोहन के यह पाँचों व्यक्तित्व आज के मनुष्य के अन्दर ही हैं, जो समय-समय पर निकल कर बाहर आते रहते हैं, साथ ही अपनी प्रवृतियों के अनुसार समाज में व्यवहार करते हैं।

सुरेखा और मनमोहन के अतिरिक्त अलका और मंदा भी इस नाटक के ऐसे नाट्य पात्र हैं, जिनके आधुनिक जीवन के अजनबीपन, अधूरेपन और खोये हुए व्यक्तित्व को हम देख सकते हैं। उनके बीच के संवाद को हम सुनें तो अनायास ही हमें आज अजनबी होते मनुष्य का बोध हो जाएगा। सुरेखा और अलका के बीच के वार्तालाप से इस बात की पुष्टि होती है। विवाह के वर्षों बाद भी एक अपने पति को तो दूसरी अपने प्रेमी को सही से नहीं जान पाई है,

" सुरेखा : बात कहाँ तक पहुँची ?

अलका : क्या मतलब ?

सुरेखा : कुछ शादी-वादी की बात की उसने ?

अलका : नहीं।

सुरेखा : क्यों ?

अलका : अब ये मैं कैसे जान सकती हूँ ? उसके दिल के भीतर घुसने का तो कोई रास्ता है नहीं ?"[34]

जिस प्रकार अलका और सुरेखा अपने पति और प्रेमी के साथ रहते हुए भी एक-दूसरे को नहीं समझ पाई हैं, उसी प्रकार आज का मनुष्य एक अजनबियत से गुजर रहा है। एक परिवार, एक मौहल्ले में रहते हुए भी, आज हर दूसरा व्यक्ति एक-दूसरे से अनजान से रहते हैं।

अतः निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि सुरेन्द्र वर्मा का 'द्रौपदी' नाटक आज के आधुनिक परिवार और समाज का वह आईना है, जिसमें हम एक ही इंसान में कई बदलते शख्सियतों को देख सकते हैं। जहाँ पारिवारिक संबंधों में कोई मधुरता या एकरसता नहीं है। हर कोई एक-दूसरे से कट कर रहने में खुद को सहज महसूस करता है। रिश्तों में एक अजनबीपन का बोध है। व्यक्ति, परिवार और समाज खंडित होते जा रहे हैं। अपने परंपरागत मूल्यों को छोड़ व्यक्ति भौतिक सुखों के पीछे भाग रहा है। जैसा कि इस नाटक की कथावस्तु में हम देख सकते हैं। इन परिवर्तित होते मानवीय

मूल्यों को इस नाटक के माध्यम से हम सबके समक्ष प्रस्तुत करना ही नाटककार का मुख्य ध्येय है। भारतीय संदर्भो में बात करें तो भरोसा, आस्था, भावनाएँ इन सब परंपरागत नीवों पर ही खड़ा हुआ है हमारा समाज। पर हम आज अपने परंपरागत मूल्यों को त्याग कर अपने आस-पास एक ऐसी दुनिया की रचना कर रहे हैं, जहाँ काम, लालच, घृणा और ऐसी प्रतिस्पर्धा है जो मानव जीवन को विकास के आरोह मार्ग पर नहीं, बल्कि अवरोह मार्ग पर लेकर जाएगा। इस दृष्टि से सुरेन्द्र वर्मा का यह 'द्रौपदी' नाटक एक सफल नाटक कहा जा सकता है, जो सीधा हमें आज के समकालीन समाज के विकृत होते जा रहे आचरण को दिखाता है।

सुरेखा-

सुरेन्द्र वर्मा के नाटक 'द्रौपदी' की मुख्य स्त्री पात्र सुरेखा, नारी के दो रूपों में दिखती है। एक ओर तो वह परंपरागत दिखती है, तो दूसरे रूप में आधुनिकता का दर्शन उसके चरित्र में दिखता है। ऐसे में उसके चरित्र को लेकर एक आखिरी निर्णय लेना थोड़ा कठिन कार्य है। मूलत: वह उच्च-मध्यवर्गीय नारी का प्रतिनिधित्व करती है, जो व्यावहारिक धरातल पर दिखती है। वह कहीं परिस्थितियों के अनुरूप खुद को किसी मौके पर परंपरागत भारतीय नारी साबित करती है, तो कहीं आधुनिक नारी। इसका परिचय हमें उसके ही शब्दों में मिलता है, ''सिलाई-कढ़ाई में मैं बहुत कुशल हूँ। समय मेरा काटे नहीं कटता था, इसलिए प्रारंभ तो हुआ था मन बहलाने को, पर धीरे-धीरे वही शौक बनता गया। अब मेरे पास एक से एक सुंदर नमूने हैं, इच्छा है कि कभी इनकी प्रदर्शनी करूँ और संस्कृति के विकास में अपना योगदान दूँ।''[35] इस प्रसंग से सुरेखा के दोनों ही रूपों का हमें भान होता है। नाटक के प्रारंभ में सुरेखा एक घरेलू भारतीय परंपरा में आस्थावान स्त्री के रूप में हमें दिखती है, जो अपने घर को कुशलतापूर्वक चला रही होती है। जो सभी पारिवारिक सदस्यों का पूरी तरह से ख्याल रखती है,

''सुरेखा : अलका नील (नाश्ता लग गया)

मनमोहन : अच्छा।

सुरेखा : पहले क्या लोगे ? टोस्ट या हलवा ? मनमोहन : कुछ भी

सुरेखा : चाय, काफी या दूध ?''[36]

इस प्रकार सुरेखा एक भारतीय गृहणी की तरह दिखती है, जिसकी आस्था परंपरागत जीवन निर्वाह में दिखती है। आज भी भारतीय समाज में ऐसी स्त्रियाँ मिल जाती हैं, जो अपने पति के विरुद्ध कुछ नहीं बोलती हैं। अन्याय, अत्याचार, उपेक्षा सभी को अपनी नियति समझकर सहन कर लेती हैं। कई बार तो पति का संबंध दूसरी स्त्रियों के साथ होने पर भी उसका विरोध नहीं करती हैं और वह यह बात अपने अंदर रखे रहती हैं। सुरेखा भी इस नाटक में इन परिस्थितियों से गुजरती है। अपने पति मनमोहन के चरित्रों का पता होते हुए भी कुछ नहीं कहती है,

''सुरेखा: यही कि जैसे अब वो आदमी एक नहीं, एक से ज्यादा है।

मंदा- (विचार मग्न) एक नहीं, एक से ज्यादा है।

सुरेखाः जैसे उसके हिस्से हो गए हैं अलग-अलग और कभी एक से तुम्हारा सामना होता है और कभी दूसरे से.... जैसे कभी वो दफ्तर में डूबा रहता है, कभी घर में, कभी ऊपर-ऊपर से मुझे छू के ही उसका मन भर जाता है और कभी वो एक-एक बोटी नोंच डालता है मेरी।

मंदा : ऐसा तो मुझे भी लगता है अक्सर।

सुरेखा : और कभी उसके बदन से दूसरी औरत की बू आती है।''[37]

भारतीय परंपरा में आस्था रखने वाली भारतीय स्त्रियाँ अक्सर इस तरह के घरेलू अन्याय और कष्टों को नियति मान लेती हैं। सुरेखा भी काफी समय से नियति मानकर सहती रहती है। पर वक्त के साथ सुरेखा के चरित्र में परिवर्तन आ जाता है, वह अपने परंपरावादी चरित्र को त्याग देती है क्योंकि उसके घरेलू हालात दिन-प्रतिदिन बिगड़ते जाते हैं। अतः अपने घर को सुचारू और व्यवस्थित करने के

लिए वह पूरी तरह आधुनिकता के सांचे में ढ़ल जाती है। जिस आधुनिकता के मानदंड़ों को समाज ने मान लिया है। वह अपनी बेटी से उसके प्रेम संबंधों के बारे में भी पूछती है। इस संबंध में किसी भी प्रकार की झिझक नहीं रखती है। वह अलका से पूछती है- बात कहाँ तक पहुँची ? कुछ शादी-वादी की बात की उसने ?

"सुरेखा : क्या रखा है, इतनी पढ़ाई में ? घर का इतना बड़ा काम है, वही क्यों नहीं संभालती ? और एक बार साथ छूट गया तो फिर मुश्किल से होता है। उसे और मिल जाएगा।

अलका : तो क्या मुझे नहीं मिल सकता ?

सुरेखा : ढंग से मामले को आगे बढ़ाने की जरूरत है। थोड़ी देर चांद-सितारों की बातें करके उसे जज्बाती बनाकर राजी-खुशी देती जा उसे जो कुछ वो चाहता है।"[38]

इस प्रकार सुरेखा को वक्त ने कैसा समझोतावादी नारी में बदलकर रख दिया इस प्रसंग में देखा जा सकता है कि कैसे सुरेखा स्वयं माँ होकर अपनी बेटी को प्रेम संबंधी छल प्रपंच सिखा रही है, ताकि उसकी बेटी को भविष्य के सारे भौतिक सुख उसके प्रेमी के माध्यम से प्राप्त हो सके। अतः 'द्रौपदी' नाटक में पात्र के रूप में सुरेखा का विश्लेषण करें तो परंपरावादी और आधुनिक दोनों ही स्त्रियों के रूप उसमें देखे जा सकते हैं। जहाँ एक ओर नाटक के प्रारंभ में सुरेखा एक घरेलू महिला के रूप में घर के सदस्यों का ध्यान रखती है, वहीं नाटक के मध्य में आते-आते वह एक ऐसी आधुनिक स्त्री का रूप धारण कर लेती है जो अपने कार्यस्थल पर पुरुषों से घुलमिल कर काम करती है। साथ ही पदोन्नति के लिए अक्सर अपने घर बॉस को भी बुलाती है। साथ ही साथ प्रेम और काम संबंधों पर बेटी से खुलकर बातचीत करती है। वह जीवन में सफल होने हेतु ऐसे गलत सुझाव देती है, जिसमें वह सदा सुखी रह सकती है। जिसमें वह सामाजिक और पारिवारिक हदों से ऊपर उठ कर सिर्फ अपने फायदे की बात सोचने के लिए प्रेरित करती है।

मनमोहन-

मनमोहन 'द्रौपदी' नाटक में एक ऐसा पात्र है जो आधुनिक महानगरीय जीवन और सभ्यता में अकेला, विखंडित और तनावपूर्ण जीवन जीने वाला व्यक्ति है। उसके पाँच खण्डित रूप इस नाटक में हैं। उसका पहला रूप मनमोहन का है, जो सुरेखा का पति है। सुरेखा उसका परिचय देते हुए कहती है, ''मेरा एक पति है। नाम है उनका मनमोहन। निकट के लोगों ने 'मनि' कर दिया है। आप लोग भी चाहें तो कह सकते हैं, मुझे कोई आपत्ति नहीं।''[39] लेकिन मनमोहन का सिर्फ यही रूप नहीं दूसरे और चार रूपें भी हैं। जो मनमोहन के चरित्र का प्रतिनिधित्व करते हैं। मनमोहन का सफेद-नकाबपोश उसके स्वच्छ, सादगी एवं विचारवान व्यक्तित्व का प्रतिनिधित्व करता है। वह मनमोहन की अंतरात्मा की आवाज है। जो उसे सभी बुरे कर्मों से बचाना चाहती है, उसे आगाह करती है जब भी वह गलत रास्ते की ओर बढ़ता है। अगर मनमोहन किसी बुरे कर्म में लिप्त होता है तो उसे कष्ट होता है। सफेद-नकाबधारी उसे सुधारना चाहता है। वह मनमोहन को बताता है, ''मैं तो हमेशा तुम्हारे साथ रहता हूँ। तुम्हारा सबसे पुराना साथी तो मैं ही हूँ। तुम्हारा सगा भाई सच्चा दोस्त।''[40] मनमोहन का तीसरा रूप है पीले नकाबपोश का जो महानगरीय जीवन में भौतिक सुखों के पीछे भागता-फिरता है। वह इस भौतिक सुख प्राप्ति के दौर में सबसे आगे बढ़ना चाहता है, इसलिए भागते-दौड़ते रहना, बेचैन रहना उसका स्वभाव और प्रकृति ही बन जाती है। लेकिन इस अंधी दौड़ में वह सबसे पीछे रह जाता है, जहाँ उसे ज़िल्लत की ज़िदगी ही मिलती है। चौथा रूप उसका है लाल नकाबधारी का जो केवल काम भावना से ग्रस्त है। जो अनैतिक संबंधों के पीछे दीवाना है। जिसका लक्ष्य केवल यौन सुख प्राप्त करना है। वह स्त्रियों की मजबूरी का फायदा उठाता है। वह अपनी पत्नी सुरेखा के साथ विश्वासघात करता है। उसे अपनी पत्नी में कोई रुचि नहीं है। वह सप्ताह की आखिरी चार रातें रंजना, अंजना, वंदना के साथ गुजारता है। पाँचवां रूप मनमोहन का काले नकाबधारी का है, जो बुरी आत्मा का प्रतीक है। जिसके अंदर बस राक्षसी प्रवृत्ति उभरती रहती है। वह सफेद नकाबपोश को मार देना चाहता है। वह सदाचारी विचारों का अंत कर देना चाहता है।

वह समाज में बुरे लोगों का प्रतिनिधि पात्र है, जिसके लिए कोई नियम, कानून, सही-गलत मतलब नहीं रखता है। उसके जीवन का उद्देश्य ही शोषण एवं दमन करना है। इस प्रकार मनमोहन और उसके बाकी नकाबपोशी रूप आधुनिक महानगरीय जीवन में खण्डित व्यक्तित्व वाले लोगों का प्रतिनिधित्व करते हैं, जो कई स्तरों पर जीवन यापन करने के लिए बाध्य एवं अभिशप्त हैं।

4.4 सूर्य की अंतिम किरण से सूर्य की पहली किरण तक

'सूर्य की अंतिम किरण से सूर्य की पहली किरण तक' में स्त्री-पुरुष के काम-संबंधों का मनोवैज्ञानिक धरातल पर अध्ययन किया गया है। किंतु सुरेन्द्र वर्मा ने अपने अन्य नाटकों की तरह इसमें भी मिथकीय, ऐतिहासिक कथानक लेकर नाटक का संयोजन किया है। कथानक का केंद्रीय विषय मल्ल देश के राजा की नपुसंकता तथा शीलवती के संतान प्राप्ति न होने पर उठे सवाल से संबंधित है। राज्य को उसका उत्तराधिकारी प्राप्त हो जाए, इसी संदर्भ में अमात्य परिषद (सभा जन) राजा ओक्काक तथा रानी शीलवती को राज्य के परंपरागत नियमानुसार नियोग प्रथा को स्वीकार करने के लिए विवश करते हैं, ''महामात्य यह पग उतना क्रांतिकारी नहीं, जितना कि आप समझ रहे हैं। आजकल भी नियोग की प्रथा है। दो वर्ष पहले कुंडिनपुर और तीन वर्ष पहले अवन्ती राज्यों में इसी प्रकार उत्तराधिकारी प्राप्त किया गया है। महाबलाधिकृत : इन दोनों राज्यों की महिषियां गर्भ प्राप्ति के लिए धर्मनटी बनकर बाहर गई थी। राज्य पुरोहित : इतिहास साक्षी है कि हमारे देश में प्राचीन काल से ही यह रास्ता अपनाया गया है। एक-एक पांडव का जन्म नियोग द्वारा ही हुआ था। उनमें कोई भी अपने पिता की संतान नहीं था। महामात्य : जब तक आदमी-आदमी है यह प्रथा जीवित रहेगी।''[41]

शीलवती आमात्य परिषद के सभी तर्कों को सुनने के बाद वो नियोग को स्वीकार करती है और अपने पूर्व प्रेमी प्रतोष को खुद को समर्पित करती है, "आर्य प्रतोष के सहवास-संभोग की एक रात उसमें बाह्याभ्यंतरिक व्यक्तित्व में परिवर्तन करती है। वह एक रात में रविजन्य उन्माद, चापल्य, हर्ष,

आवेग, चांचल्य, उष्मा, औत्सुक्य और रोमांच आदि मनोवैज्ञानिक संवेदनाओं की अनुभूति कर लेती है।''[42] संवेदनाओं की नई अनुभूति जिसका आधार शीलवती के लिए मनोवैज्ञानिक रहता है, उसके पूरे विचारों में एक नवीन परिवर्तन ला देती है। यूं तो इस परंपरा का जिक्र हमारी पौराणिक कथाओं में मिलता है, किंतु सुरेन्द्र वर्मा ने इसे आधुनिक संदर्भ में नहीं, मन की अदीप्त अनुभूति को शब्दबद्ध करते हुए आधुनिक विचारों को प्रस्तुत किया है, ''यह हिन्दी में अकेला नाटक है, जो वर्जनाओं, पुराने मूल्यों, सामाजिक निषेधों और पति-पत्नी के रिश्ते को लेकर बनी हुई अत्यंत नैतिक पवित्रा तस्वीर को तोड़ता है, बिना किसी कुंठा में या अपराध बोध के।''[43]

सुरेन्द्र वर्मा ने इस नाट्य कृति के माध्यम से आज के इस आधुनिक युग में सुख के पीछे बेतहासा भागते दौड़ते व्यक्ति के भटकाव को दिखाया है। शीलवती विवाह से पूर्व व्यक्तिगत सुखमय जीवन के लिए ओक्काक को पति के रूप में स्वीकार तो कर लेती है, किन्तु बाद में उससे जीवन में शारीरिक सुख न मिलने पर अपने प्रेमी प्रतोष का बार-बार नियोग के काल में वरन करती है, जो आधुनिक मानव की अस्थिरता को दर्शाता है, ''मेरी पूरी सहानुभूति है तुम्हारे साथ, लेकिन इसका मतलब यह नहीं कि जब आत्मसंतोष की अंधी दौड़ ही व्यक्तिगत सुख की खोज... तो जीवन बहुत जटिल होता है और उसकी मांगें भी उतनी ही उलझी हुई, पूर्ति के लिए एक से अधिक व्यक्ति चाहिए... किसी से समाज में स्थान, किसी से भौतिक सुविधाएँ, किसी से भावना की तृप्ति, किसी से शरीर का सुख।''[44] इस प्रसंग के माध्यम से सुरेन्द्र वर्मा अपनी भारतीय परंपरा के विरुद्ध पात्रों या परिस्थितियों का सृजन नहीं करते, बल्कि एक ही व्यक्ति के दोनों रूप और परिस्थितियों का चित्रण करते हैं। जहाँ पहले शीलवती अपने व्यक्तिगत सुख का त्याग करती है, वहीं फिर वह भौतिक सुख प्राप्त करने के लिए उसे साधन बनाती है। इस प्रकार इस नाटक में शीलवती परिस्थितियों के अधीन एक आर्दशवादी नारी के स्वरूप में होती है। किंतु बाद के कथानक में नियोग के पश्चात् उसे इस बात का एहसास होता है कि नारी की सार्थकता मातृत्व मात्र में नहीं है। जिससे हमें उसके आधुनिक विद्रोही स्वभाव का परिचय मिलता है, ''केवल नारीत्व की सार्थकता मातृत्व में नहीं मानना, उसके विद्रोही तेवर से

परिचय करवाता है, वहीं वैधानिक चाल में से निकलने की वैधानिक चाल उसमें आधुनिक होने के प्रमाण हैं। अब वह केवल अपने पति के उपचार की 'जड़ी-बूटी' नहीं है, बल्कि हालात में ढली हुई एक आधुनिक नारी बन जाती है। जिसका विद्रोहिणी स्वरूप प्रखर होता है।''[45] इस नाटक के माध्यम से एक और जिस समकालीन समस्या को उठाया गया है वह है शासकीय व्यवस्था में नौकरशाही का स्वरूप। आज राजीनीति का स्वरूप एवं उसकी संरचना ऐसी होती जा रही है, जिसमें वह व्यक्ति के निजी जीवन में भी हस्तक्षेप करती जा रही है। अपने सत्तातंत्र को जीवंत रखने और चलाने के लिए व्यक्ति को एक शतरंज के मुहरे के समान इस्तेमाल किया जाता है। जहां उसकी निजता छिन जाती है। जहाँ वह एक माध्यम बनकर रह जाता है। उदाहरण स्वरूप इस नाटक में भी शीलवती के इच्छा के विरुद्ध, उसे राजसत्ता तथा राजकीय परंपरा की दुहाई दी जाती है। जिसे शीलवती चाहकर भी नकार नहीं पाती है। नियोग की प्रथा को जहाँ खुद स्वीकार करती है, वहीं अपने पति ओक्काक को भी इसके लिए विवश करती है, ताकि इस प्रस्ताव को वह स्वीकार कर ले। राज्य में उत्तराधिकारी के प्राप्त इस लक्ष्य हेतु शक्तिशाली अमात्यपरिषद सदैव अपने फैसले लेता है। जहाँ ओक्काक चाहे या न चाहे। उसकी विवशता यह है कि उसे नियोग के लिए शीलवती को मंजूरी देनी ही पड़ती है। ओक्काक मात्र इस राजनीति के हाथों की कठपुतली बनकर रह जाता है,

''राजपुरोहित: महाराज... अब जो मैं कहूँ, उसको दुहराएँ, राजमहिषी शीलवती। मैं मल्लराज का शासक और आपका पति ओक्काक, आमात्यपरिषद के इस निर्णय से पूरी तरह सहमत हूँ कि आपको गर्भसिद्धि के लिए तीन अवसर दिए जाएँ। यह पहले अवसर की बेला है।.... कहिए महाराज!

ओक्काक : हाँ हाँ, ठीक है।

राजपुरोहित : (ओक्काक से) मैं (शीलवती की ओर संकेत सहित) आपको आज की रात के लिए सूर्य की अंतिम किरण से सूर्य की पहली किरण तक, अर्थात् चुनने का अधिकार देता हूँ।

ओक्काक : अधिकार देता हूँ।

राजपुरोहित : कृपया पूरा वाक्य कह दीजिए।"[46]

निष्कर्ष स्वरूप हम इस नाटक में देख सकते हैं कि कैसे ऐतिहासिक परंपरागत आधार को माध्यम बनाकर नाटककार सुरेन्द्र वर्मा आधुनिक समाज में असंगत परंपराओं, मूल्यों, आर्दशों तथा नैतिक मान्यताओं पर प्रहार हेतु 'सूर्य की अंतिम किरण से सूर्य की पहली किरण तक' जैसे नाटक की रचना करते हैं। शीलवती के माध्यम से स्त्री के उस रूप से भी रूबरू करवाते हैं, जहाँ शीलवती अपनी परंपरावादी देवी की छवि से निकल जाती है l समाज द्वारा निर्मित मर्यादाओं को तोड़ आधुनिक समाज की स्त्री की भांति भोगवादी रूप में आ जाती है, साथ ही साथ राजनीति का दायरा कैसे दिन-प्रतिदिन व्यक्ति के निजी जीवन तक को अंदर तक प्रभावित कर दे रहा है। इस प्रसंग को भी नाटक के माध्यम से बड़ी कुशलता से नाटककार ने प्रस्तुत किया है।

शीलवती-

'शीलवती' के माध्यम से सुरेन्द्र वर्मा ने एक ऐसे पात्र का चित्रण अपने नाटक 'सूर्य की अंतिम किरण से सूर्य की पहली किरण तक' में किया है जिसमें परंपरावादी, आधुनिकता और उत्तर-आधुनिकता तीनों ही लक्षण दिख जाते हैं। जीवन में भौतिक एवं एंद्रिय सुख के लिए वह जिस प्रकार निर्णय लेती है, उससे आज के समकालीन आधुनिक स्त्री-चरित्र का बोध होता है। शीलवती एक निम्नवर्ग के परिवार में जन्म लेती है। किन्तु उसकी इच्छा दुनिया के सुखों और वैभवों को पाने की रहती है। अतः वह अपने प्रेमी प्रतोष को छोड़कर एक ऐसे राजा से विवाह करती है जिससे वह संतान प्राप्त नहीं कर पाती है। शीलवती के विवाहपूर्व हालातों का पता उसके शब्दों में ही मिलता है, ''इतना बड़ा परिवार और पिता की सीमित आय... अभाव... वंचना... दरिद्रता.... दुःख... न पाने की कुढ़न... न होने की कड़वाहट न मुस्कराने की कचोट... न हँसने की घुटन... दूसरों के प्रति आक्रोश, अपनों के लिए क्रोध, स्वयं से घृणा ... मुझे बिल्कुल प्रारंभ से ही नियमित रूप से ये सब मिल रहा था कुछ चौथाई तोला, कुछ आध मास, कुछ एक रत्ती...।''[47] 'ओक्काक' से विवाह पश्चात् शीलवती को

वर्षों तक कोई संतान प्राप्त नहीं होती है। ओक्काक में पुरुषार्थ न होने पर भी शीलवती एक परंपरावादी भारतीय नारी की तरह हर रूप में ओक्काक को अपना पति स्वीकार करती है और अपने जीवन का यही सत्य मानकर कभी भी अपनी कामनाओं को प्रकट नहीं करती है, ''जीवन के इस रूप को अपना लिया था-(तुरंत अपना लिया है) और कभी नहीं सोचा था कि ऐसी बात भी हो सकती है। वर्ष बीतते गए ऋतुएँ और स्वीकार की लकीर और गहरी होती गई।''[48] यहाँ शीलवती के इस रूप में हमें उस परंपरा का अनुशीलन करने वाली नारी के दर्शन होते हैं जो पति को अपना परमेश्वर मानकर उसके सुख में अपना सुख मानती है। अपने दुखों को कभी बांटती नहीं, जिसे भाग्य नियति मात्र मानकर जीवन व्यतीत करती है। वर्षों राज्य को जब कोई उत्तराधिकारी शीलवती से प्राप्त नहीं होता है। तब राज्य का अमात्यपरिषद जो राज्य के कल्याण के लिए निर्णय लेने का कार्य करती है। वह यह निर्णय लेती है कि शीलवती को परंपरागत नियोग प्रथा द्वारा 'धर्मनटी ' बनना होगा और अपनी इच्छा से किया एक पुरूष का वरण करेगी, जिससे राज्य को उसका उत्तराधिकारी प्राप्त हो। सर्वप्रथम भारतीय परंपरावादी नारी शीलवती इस आमात्यपरिषद के निर्णय पर आपत्ति जताती है। किंतु राज्य की भलाई और राज्य को उसका उत्तराधिकारी देने के लिए अमात्यपरिषद विभिन्न तर्कों से शीलवती को नियोग द्वारा 'धर्मनटी' बनने के लिए मना लेती है। अमात्यपरिषद तर्क देती है, ''यह पग उतना क्रांतिकारी नहीं है जितना आप समझ रहे हैं। आजकल भी नियोग की प्रथा है। दो वर्ष पहले कुंडिलपुर और तीन वर्ष पहले अवंती राज्य में इसी प्रकार उत्तराधिकारी प्राप्त किया गया है। इतिहास साक्षी है कि एक-एक पांडव का जन्म नियोग के द्वारा ही हुआ था- उनमें से कोई भी अपने पिता की संतान नहीं था।''[49] हमारी परंपरा में सदा से स्त्री त्याग और समर्पण की मूरत रही है। शीलवती भी अपनी सारी मान-मर्यादा, परंपरा को त्याग, नियोग प्रथा द्वारा 'धर्मनटी' बनना स्वीकार करती है। जिसमें अपने पूर्व प्रेमी प्रतोश को नियोग प्रक्रिया के लिए चयन करती है। विवाह के वर्षों बाद भी शीलवती ने संयोग सुख को नहीं अनुभव किया था। जिसे वह प्रथम नियोग प्रक्रिया में अनुभव करती है। जो उसके पूरे चरित्र को ही बदल देता है। उसे एहसास होता है कि स्त्री की पूर्णता माँ बनने मात्र

में नहीं है, बल्कि स्त्री सुख, स्त्री पूर्णता, उसकी सार्थकता उससे कहीं दूसरे अर्थों में भी है। वह कहती है, ''नारीत्व की सार्थकता मातृत्व में नहीं है केवल पुरुष से संयोग के सुख में मातृत्त्व केवल एक गौण उत्पादन है, जैसे दही से निकलता तो मक्खन है लेकिन तलहट में थोड़ी सी छाछ भी बच जाती है।''[50] यहाँ से शीलवती के आधुनिक चरित्र का हमें पता चलता है जब वह अपनी कामनाओं को जाहिर करती है और त्याग की भावना से बाहर निकल अपनी कामनाओं को साकार करती है।

अतः शीलवती के रूप में हमारे सामने एक ऐसी स्त्री का चित्रण सुरेन्द्र वर्मा करते हैं, जो प्रारंभ में एक भारतीय परंपरा में आस्थावान नारी होती है। किंतु जीवन में शारीरिक इच्छाओं और आवश्यकताओं को जानने के बाद वही आधुनिक स्त्री की भांति अपनी इच्छाओं, आवश्यकताओं को लेकर खुलकर बोलती है। अतः परंपरा और आधुनिकता दोनों की सामूहिक छवि शीलवती के अंदर देखी जा सकती है। वह कहती भी है, ''मैं एक मामूली स्त्री हूँ। जब शरीर के माध्यम से जीती हूँ तो शरीर की मांगों को कैसे नकार सकती हूँ।''[51]

ओक्काक-

'ओक्काक' सदियों से चल रहे परंपरागत सामंती विचारों वाला एक शासक है। जिसकी सोच पुरुषवादी विचारधारा से ग्रस्त है। स्त्रियों को भोग की वस्तु समझकर मात्र इस्तेमाल करता है। शीलवती से विवाह भी वह इसलिए करता है ताकि उसके माध्यम से उसके अंदर काम संबंधी पुरुर्षाथ को प्राप्त कर सके। उसे वह एक औषधी या उपकरण समझ कर विवाह करता है, ''पत्नी से अच्छा उपचार मेरे लिए नहीं हो सकता, वह संगिनी बनकर अकेलापन दूर करेगी, मित्र बनकर काम काज में सम्मति देगी... माँ की ममता, बहन का स्नेह, प्रेयसी का प्रेम- हर कमी दूर होगी, सारे अभाव पूरे होंगे, खोया हुआ आत्मविश्वास मिलेगा और जब शैया पर पहुंचेंगे वह घड़ी आएगी जब कामना की पूरी ऊष्मा के साथ नारीत्व का आह्वान करेगी तो उस मनोवैज्ञानिक क्षण में अपने आप ही..''[52] एक शासक के रूप में ओक्काक कमजोर व्यक्ति होता है। जिसका न उसके राज्य के कर्मचारी अर्थात्

आमात्य परिषद् पर नियंत्रण होता है और न अपनी पत्नी शीलवती पर। दोनों ही अर्थों में देखें तो ओक्काक का चरित्र एक कमजोर व्यक्ति का होता है। न तो वह आमात्यपरिषद् के निर्णय पर सवाल उठा पाता है, जब शीलवती को धर्मनटी बनने की आज्ञा दी जाती है, न शीलवती के धर्मनटी बनने के बाद शीलवती की बढ़ती उत्कंठा का विरोध कर पाता है। एक ओर आमात्यपरिषद परंपरा से उदाहरण देकर अपना निर्णय ओक्काक पर थोप देता कि वह शीलवती को धर्मनटी बनने की आज्ञा दे। वहीं शीलवती धर्मनटी बनने के बाद उसके नियमों के तहत ओक्काक को विवश कर देती है, जिससे वह कुछ भी नहीं कर पाता है, वह अपनी शारीरिक आवश्यकताओं के लिए नियमों को हथियार बनाकर इस्तेमाल करती है और धर्मनटी बनकर अपने भौतिक सुखों को पाती है।

इस प्रकार नाटककार ने ओक्कोक के माध्यम से ऐसे शासक एवं व्यक्ति का चित्रण नाटक में किया है, जो ऐतिहासिक संदर्भों में भी और आज की राजनीति में भी नौकरशाहों एवं उनके बनाए गए नियमों एवं शर्तों में उलझकर रह जाता है। सत्ता में होने पर भी सत्ता के हाथों की कठपुतली बनकर रह जाता है। जिसका प्रतिनिधित्व इस नाटक में ओक्काक एक शासक, एक पति बनकर करता है।

4.5 आठवां सर्ग

'आठवां सर्ग' का कथानक मूलतः कालिदास द्वारा रचित 'कुमार संभव' के आठवें सर्ग पर आधारित है, किन्तु नाटककार का उद्देश्य 'कुमार संभव' की कथा को यहाँ कहना नहीं है, अपितु लेखक की रचनात्मक अभिव्यक्ति की मूल समस्या को समझना है। इस दिशा में शासन अर्थात् समकालीन सत्ता किस प्रकार एक रचनाकार की रचनाधर्मिता पर प्रश्न उठाता है तथा उसकी रचना का सही मूल्यांकन किये बिना उसे प्रतिबंधित करने को आतुर हो जाता है। दोनों धुरियों के इसी टकराहट को नाटक का केन्द्रिय विषय बनाया गया है।

'आठवां सर्ग' मुख्यतः दो विषयों पर केन्द्रित है। पहला तो कृति में श्लीलता-अश्लीलता के प्रश्न को उठाया गया है। दूसरा मुख्य विषय जिसकी तरफ नाटककार इंगित करना चाहता है, वह है अभिव्यक्ति

के संदर्भ में लेखकीय रचना की स्वतंत्रता। कालिदास का 'आठवां सर्ग' पूर्ण होने के पश्चात् उनके सम्मान में समारोह का आयोजन निर्धारित किया जाता है। जिसमें सभी सभागण आसन पर विराजमान कालिदास के 'आठवें सर्ग' का काव्य पाठ बड़े मंत्र-मुग्ध होकर सुनते रहते हैं। किन्तु पाठ में जैसे ही काव्य के उस अंश का वाचन कालिदास करता जिसमें शयनगार में उमा और महादेव की रति का ज़िक्र होता है, ''दोनों के केश छितरा गए, चंदन पुछ गया, उमा की मेखला टूट गई। त्यों ही क्रोध से तमतमाया चेहरा लिए धर्मगुरु खड़े हो गए और गरजकर बोले कि यह सर्ग अत्यंत अश्लील है। जगत पिता महादेव और जग-जननी पार्वती के भोग विलास का ऐसा उद्धम ऐसा स्वच्छंद, ऐसा नग्न चित्रण। इसका रचयिता पापी है। इसके श्रोता पापी हैं। जो उसका निमित्त बने, वह पापी है। जो उसमें सहायता दे, वह पापी है, कुमारसंभव पर प्रतिबंध लगाया जाए, क्योंकि कच्चे मष्तिष्कों पर इसका बुरा प्रभाव पड़ेगा।''[53] काव्य पाठ के इसी अंश पर आकर धर्मगुरु के विरोध के कारण कालिदास का सम्मान समारोह रोक दिया जाता है। आधुनिक समाज में भी अगर हम देखें तो आज परंपरा और धर्म के नाम पर इनके ठेकेदार अक्सर कृतियों पर आरोप-प्रतिरोप लगाकर उन पर प्रतिबंध लगाने की बात करते हैं। इसी प्रकार इस नाटक में कालिदास की कृति पर अश्लीलता का आरोप लगाकर उसे प्रतिबंधित कर दिया जाता है साथ ही कालिदास का अपमान भी किया जाता है और उसे क्षमा मांगने के लिए बोला जाता है। लेकिन सवाल रचनाकार और रचना की अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता का उठता है, साथ ही सवाल किसी भी पूर्वाग्रहों से ऊपर उठकर उसके मूल्यांकन का है। कालिदास का भी मानना है कि उसने काव्य का स्वच्छंद प्रसंगानुसार और स्वाभाविक वर्णन किया है, क्योंकि 'सातवां सर्ग' में नायक-नायिका के विवाह वर्णन के साथ सर्ग समाप्त होता है। अतः कालिदास आगे की कल्पनानुसार 'आठवां सर्ग' के लिए उन सभी सवालों को ध्यान में रखता है और उन्हीं के अनुसार अगले सर्ग की रचना करता है। सुरेन्द्र वर्मा इस संदर्भ में लिखते हैं, ''सातवां सर्ग नायक और नायिका के ब्याह से समाप्त होता है। क्या रूप रेखा रही उनके जीवन की ? क्या उन्होंने एक-दूसरे में अपने सपनों को पाया, जो यौवन के आते ही देखे जाने लगते हैं ? क्या उन्होंने

तन और मन का वह सुख जाना, जो विवाह के बंधन को स्थाई बनाता है ? कथा के इस मानवीय आधार को हटा दूँ ? स्वाभाविक विकास की धारा को रोक दूं... ब्याह के एकदम बाद पुत्रोत्पत्ति हो जाएगी तो बीच की इस खाई को पाठक कैसे भरेगा ? क्या कथा का कलात्मक दोष नहीं होगा।"[54] अतः सुरेन्द्र वर्मा इस तथ्य के माध्यम से इस नाटक में यह कहना चाहते हैं कि किसी भी कृति का स्वरूप उसकी विषयवस्तु के अनुकूल ही होना आवश्यक है। इस प्रकार कालिदास ने भी स्वाभाविक रचना का स्वरूप कथावस्तु के अनुरूप ही रखा है। जिसमें ब्याह के पश्चात शिव-पार्वती की रति क्रीड़ाओं का वर्णन किया है। जो स्वाभाविक है। सुरेन्द्र वर्मा लिखते हैं कभी भी पति-पत्नी के बीच का प्रणय अश्लील नहीं होता, बल्कि यदि इस दृष्टि से उनके संबंध को कोई देखता है तो उसकी दृष्टि का दोष है, ''आठवें सर्ग में पति-पत्नी के बीच कुछ भी अश्लील नहीं होता... इसमें अश्लीलता उसी को मिलेगी, जिसकी दृष्टि अधूरी होगी, अर्थात् जो केवल नग्नता देखेगा, उसे औचित्य देने वाली पूर्णता नहीं, सार्थकता नहीं।''[55] इस दृष्टि से सुरेन्द्र वर्मा नाटक के माध्यम से यह संदेश सम्प्रेषित करना चाहते हैं कि अश्लीलता व्यक्तियों की दृष्टि में हो सकती है। श्रेष्ठ कृतियाँ हमेशा स्वाभाविक, क्रमिक एवं सत्य की स्थापना करती हैं। 'आठवां सर्ग' के माध्यम से सुरेन्द्र वर्मा रचनाकार और रचना से जुड़े एक गंभीर प्रश्न को इस नाटक के माध्यम से रेखांकित करते हैं कि किस प्रकार एक रचनाकार और उसकी रचना को राजसत्ता एवं उसके नीतियों पर आश्रित रहना पड़ जाता है या प्रतिबंधित हो जाती है। नाटक में चन्द्रगुप्त कालिदास से इस प्रसंग पर चर्चा करते हुए कहता है कि माना तुम एक श्रेष्ठ रचना करते रहोगे, पर क्या बिना राज्याश्रय के तुम्हारी कृति वह सम्मान या ख्याति प्राप्त कर पाएगी ? अतः वह बिना राज्याश्रय के कुएँ के मेंढक की तरह उसी में टर्र-टर्र करती रह जाएँगी, ''रचनात्मक प्रतिभा अपने आप में अधूरी है, क्योंकि रचना को प्रकाश में लाने के लिए, उसके प्रचार और प्रसार के लिए, उसकी स्वीकृति और मान्यता के लिए कुछ माध्यमों की आवश्यकता होती है।''[56]

श्रेष्ठ रचनाकार की रचना ही कहते हैं उसकी अभिव्यक्ति का माध्यम होता है, कालिदास भी अपनी रचनात्मक प्रतिभा के माध्यम से जन के बीच अपनी एक विराट पहचान बना लेते हैं। 'अभिज्ञान शाकुन्तलम्'की स्वर्ण जयंती पर मदनोत्सव वाले दिन सत्तापक्ष द्वारा सम्मान समारोह में अपना सम्मान स्वीकार नहीं करते हैं, क्योंकि उनकी ख्याति उनकी पहचान जन-जन के बीच उनकी रचना से हो चुकी थी। अतः कालिदास अपने सम्मान में अभिनंदन समारोह का बहिष्कार कर देते हैं। कालिदास कहतें हैं, ''जीवन के एक मोड़ पर सत्ता की सहायता की आवश्यकता थी अब नहीं है। अब अगर मेरी रचना पर यहाँ रोक लगाएगा तो वह दूसरे राज्य में सप्तम स्वर में सुनी जाएगी। मुझे बंदीगृह में डाल देगा तो संकीर्ण बुद्धि और कुटिलमन कहलायेगा और अगर मेरी हत्या कर देगा तो लोकमत उसके विरुद्ध आषाढ़ के पहले काले कजरारे मेघों के समान भड़क उठेगा।''[57]

निष्कर्षतः हम यह कह सकते हैं कि सुरेन्द्र वर्मा ने 'आठवां सर्ग' के माध्यम से रचनाकार और सत्ता के बीच अक्सर देखे जाने वाले उस द्वंद्व को उजागर किया है। इसमें यह स्पष्ट करना चाहा है कि किसी भी श्रेष्ठ रचना को सत्ता के आश्रय की तभी तक जरूरत होती है, जब तक वह जनसमूह तक नहीं पहुँच जाती है। श्रेष्ठ रचना अपने समकालीन समाज को तथा साथ ही साथ अपने साहित्यभाव से लोगों का सदियों तक मार्गप्रशस्त करती रहती है। साथ ही नाटककार ने इसी साहित्य में श्लील-अश्लील के प्रश्नों को उठाया है, जिसमें यह बताया है कि सदा से साहित्य का मूल्यांकन करने का भार सत्तापक्ष ऐसे लोगों को देता आया है, जिसे साहित्य का अधूरा ज्ञान होता है, साथ ही व्यक्तिगत ईर्ष्या, राजनीतिक लाभ और साहित्यिक गुटबंदी भी अक्सर श्रेष्ठ साहित्य का मूल्यांकन गलत अर्थों में करती है। ताकि सदैव समाज उस साहित्य और कृति को उनकी नज़र से देखे जिन संदर्भों में वे उन्हें दिखाना चाहते हैं। इस प्रकार आधुनिक समाज की विभिन्न साहित्यिक, राजनीतिक गठित समितियों पर भी नाटककार प्रश्न उठाता है। जो कि साहित्य का मूल्यांकन एक सच्चे आलोचक के रूप में नहीं करती हैं, जिसके कारण समाज कई श्रेष्ठ रचनाओं से भविष्य में अवगत नहीं हो पाता है।

कालिदास-

'आठवां सर्ग' में सुरेन्द्र वर्मा 'कालिदास' के माध्यम से एक ऐसे पात्र का चित्रण करते हैं जो एक साहित्यकार है। जिसका कार्य है साहित्य की रचना करना तथा किसी भी कथा को साहित्य के माध्यम से कहते हुए उसकी कलात्मकता, सार्थकता और क्रमबद्धता को बनाए रखना। जिसे कालिदास चन्द्रगुप्त के राजाश्रय में पूर्णतः ईमानदारी और लगन से करता भी है। इस साहित्यिक कर्म में वह 'आठवां सर्ग' की रचना करता है। जिसमें शिव-पार्वती के विवाह पश्चात् आठवां सर्ग में दाम्पत्य मिलन का जिक्र होता है। किंतु धर्मगुरु 'आठवां सर्ग' सुनते-सुनते पल भर में क्रोध से भर उठते है और 'आठवां संर्ग' पर प्रतिबंध लगाने को कहते हैं। कालिदास अपनी रचना पर प्रतिबंध स्वीकार करते हैं, किन्तु उसके स्वरूप में परिवर्तन स्वीकार नहीं करते हैं। वह धर्माध्यक्ष, चंद्रगुप्त तथा सभी अन्य लोगों के सुझाव को अस्वीकार कर देते हैं। कालीदास अस्वीकार करने का कारण काव्य में कलात्मक दोष के आने का संदेह जताते हैं। वे कहते हैं, '' 'सातवां' सर्ग नायक और नायिका के ब्याह से समाप्त होता है और आठवें सर्ग की पहली पंक्ति में पुत्र का प्रादुर्भाव हो जाएगा ? बीच के नौ महीने नवदम्पत्ति कहाँ रहे ? कैसे रहे ? क्या रूपरेखा रही उनके जीवन की ? क्या उन्होंने एक-दूसरे में अपने स्वप्नों को पाया, जो यौवन के आते ही देखे जाने लगते हैं, क्या उन्होंने तन और मन का वह सुख जाना, जो विवाह के बंधन को स्थाई बनाता है ? ब्याह के एकदम बाद पुत्रोत्पत्ति हो जाएगी तो बीच की इस खाई को पाठक कैसे भरेगा ? क्या यह कथा का कलात्मक दोष नहीं होगा? इससे काव्य के समग्र प्रभाव को ठेस नहीं पहुँचेगी ?''[58] कालिदास एक साहित्यकार होने के नाते साहित्य को कलात्मक दोष से बचाते हैं। साथ ही साहित्यकारों की अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता तथा साहित्य के प्रति अपनी आस्था प्रकट करते हैं, साथ ही साहित्यकारों के संघर्षशील जीवन का चित्रण कालिदास के माध्यम से करते हैं। कालिदास आवेग में यह निर्णय लेते हैं कि वह 'कुमार संभव' को अधूरा छोड़ देंगे पर उस पर कलात्मक दोष नहीं लगने देंगे। कालिदास कहतें हैं, ''आठवें सर्ग पर आगे नहीं लिखूँगा। इस रचना को एक प्रकार से भूला ही दूँगा। यह कभी मेरे घर से बाहर नहीं

निकलेगी? किसी गोष्ठी में इसका पाठ नहीं होगा। किसी तक इसकी प्रतिलिपि नहीं पहुँचेगी। इतने से लोग संतुष्ट हो जाएँगे ? फिर तो किसी को आपत्ति नहीं होगी। कई बार श्रम व्यर्थ भी हो जाता है। समझ लूँगा कि कुमार का जन्म संभव नहीं हुआ गर्भ में ही उसकी हत्या हो गई।''[59]

इस प्रकार सुरेन्द्र वर्मा ने आज आधुनिक काल में साहित्यकारों के जीवन संघर्ष को कालिदास के जीवन संघर्ष से जोड़कर दिखाने का प्रयत्न किया है। नाटक में कालिदास एवं उनकी रचना के माध्यम से यह दिखाना चाहा है कि यदि रचना श्रेष्ठ है तो किसी राज्य में उस पर प्रतिबंध क्यों न लगा दिए जाए, किसी साहित्यकार का सम्मान किसी राज्य में भले न हो, लेकिन श्रेष्ठ साहित्यकार एवं साहित्य की पहचान कर जनता उन्हें खुद-बखुद सम्मानित कर देती है। कुछ समय बाद 'कुमार संभव' की ख्याति चारों और फैल जाती है। तब कालिदास कहते हैं, ''जीवन के एक मोड़ पर सत्ता की सहायता की आवश्यकता थी .. अब नहीं है। (ठहरकर) अब ? अगर शासन मेरी रचना पर यहाँ रोक लगाएगा तो वह दूसरे राज्य में सप्तम सुर में सुनी जाएगी। मुझे बंदीगृह में डाल देगा तो संकीर्ण बुद्धि और कुटिल मन कहलाएगा और अगर मेरी हत्या कर देगा तो लोकमत उसके विरुद्ध आषाढ़ के पहले काले कजरारे मेघों के समान भड़क उठेगा।''[60]

अतः कालिदास के माध्यम से आधुनिक समकालीन समाज में अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता जैसे प्रश्न को सुरेन्द्र वर्मा ने उठाया है। साथ ही कालिदास के रूप में साहित्यकारों के जीवन संघर्ष को उजागर किया है और साथ ही श्लीलता और अश्लीलता जैसे प्रश्नों को भी कालिदास की रचना के माध्यम से उठाया है। अक्सर साहित्य का मूल्यांकन ऐसे लोग करते हैं, जिन्हें साहित्य का अधूरा ज्ञान होता है या किसी पूर्वाग्रह से ग्रसित होकर नकारात्मक आलोचना साहित्य की करते हैं।

4.6 छोटे सैयद बड़े सैयद

सुरेन्द्र वर्मा ने 'छोटे सैयद बड़े सैयद' नाटक के माध्यम से मध्यकालीन भारत में औरंगजेब शासन के पश्चात् सत्ता प्राप्ति हेतु उत्पन्न हुए राजनैतिक संघर्ष और षड्यंत्र को उजागर किया है। किंतु

नाटककार का मूल उद्देश्य मध्यकालीन इतिहास को मात्र नाट्यरूप देना नहीं है, बल्कि इतिहास को नाटक के माध्यम से आधुनिक संदर्भ में प्रस्तुत करना है। जिससे आधुनिक परिस्थितियों को जाना, समझा जा सके। आज जिस प्रकार राजनीति में नैतिकता का पतन होता जा रहा है और मानवीय सिद्धांतहीन राजनेता सत्ता पर काबिज हैं, उस भाव को नाटक के माध्यम से प्रस्तुत किया गया है।

नाटक में भाड़ नक्काल और बहुरूपियों द्वारा प्रस्तुत गीत आज के राजनैतिक हालातों तथा देश की दशा और दिशा की ओर इंगित करता है। 1980 में लिखा गया यह नाटक न केवल अपने समकालीन राजनैतिक हालातों को उजागर करता है, बल्कि भारतीय राजनीति के भविष्य की झलक भी दिखाता है। 1707 ई॰ में औरंगजेब की मृत्यु के पश्चात् मुगल शासन के इतिहास में राजनीतिक दृष्टि से उथल-पुथल एवं अस्थिरता का दौर था। जहाँ सत्ता के लिए औरंगजेब के चारों पुत्रों में युद्ध ठन गया। औरंगजेब के चारों पुत्रों जहांदार शाह, अजीम उस शान, रफी उलशान और जहानशाह में से जहांदार जुल्फिकार खां की सहायता से जो ईरानी दल का नेता था, सत्ता प्राप्त करने में सफल होता है। किंतु जहांदार स्वभाव से ऐय्यास है जो न सही से सत्ता संभालता है न अपनी राजनैतिक स्थिति को मजबूत बनाता है। परिणाम स्वरूप जहांदार शाह का भतीजा ने उसकी फारूख हत्या करवाकर खुद सत्ता पर काबिज हो गया। सत्ता की खातिर हत्या का दौर और फिर सत्ता पर विराजमान होने का आंतरिक कलह और षड्यंत्र एक के बाद एक चलता रहा। इस मुगलीय शासन के उथल-पुथल से उत्पन्न संघर्ष को डॉ. विजय पाल के शब्दों में जान सकते हैं, ‘‘कुछ समय पश्चात् जहांदार शाह के भतीजे फर्रूखसीयर ने सैयद बंधुओं की सहायता से उसे मार डाला और स्वयं शासक बन बैठा। कृतज्ञ फर्रूखसीयर ने भी वही दुहराया तथा अब्दुल्ला को वजीर और हुसैन अली को मीर बख्सी के रूप में स्वीकार किया। महत्वपूर्ण पद पाकर ‘सैयद बंधु शक्तिशाली हो गए। सम्राट ने सैयद बंधुओं की शक्ति पर अंकुश लगाना चाहा तथा उनके जुए को अपने ऊपर से उतार फेंकने की सोची। इस हेतु षड्यंत्र रचे, परंतु सैयद बंधु सम्राट से अधिक चालाक थे। उन्होंने सम्राट को ही समाप्त कर दिया। इसके बाद इस शून्य को भरा रफी उद्दजति को शासक बनाकर, लेकिन वह भी कुछ दिन ही शासन

कर सका । इसके बाद क्रमशः रफीउद्दौला तथा मुहम्मदशाह को सिंहासन पर बैठाया गया । मुहम्मदशाह ने दोनों उच्च पदाधिकारियों अबदुल्ला खां और हुसैन अली को मरवा दिया। स्पष्ट है कि औरंगजेब के बाद एक के बाद एक शासक की नियुक्ति होती है, जिससे अस्थिरता बनी रहती है कि अगला शासक कौन होगा व कितने दिन तक शासन करेगा।''[61] नाटक के इस प्रसंग के माध्यम से आज की आधुनिक समकालीन राजनीति में हो रही उथल-पुथल को चित्रित किया गया है। इसके अलावा सत्ता की अस्थिरता की ओर भी इंगित किया गया है। आज राजनेता सत्ता तो प्राप्त कर लेते हैं पर जनता के लिए एक ठोस व्यवस्था और निर्णय लेने में नाकाम हैं, जिससे एक अव्यवस्था का माहौल बना रहता है। विपक्षी पार्टी उनका विरोध करती है, ऐसी स्थिति में स्थाई सरकार का निर्माण कई बार नहीं हो पाता। अतः इस संदर्भ में 'छोटा सैयद बड़ा सैयद' नाटक एक सफल नाटक है जो आज भी समय सापेक्ष है। एक और पक्ष जो इस नाटक में देखा जा सकता है वह है राजनीति में धर्म का इस्तेमाल। धर्म के नाम पर राजनीति सदियों से होती आ रही है। आज भी वर्तमान परिदृश्य में धर्म का सहारा लेकर राजनीति की जाती है। आज भी सत्ता प्राप्ति हेतु राजनेता सारे धार्मिक हथकंडे इस्तेमाल करते हैं। यदि आज आधुनिक भारतीय राजनैतिक परिदृश्य देखें तो धर्म के नाम पर हर जगह राजनीति की जाती है । जो एक ज्वलंत राजनैतिक सामाजिक मुद्दा है । इस नाटक में भी राजनीति में धर्म का इस्तेमाल कैसे किया जाता है, उसे दिखाया गया है, ''एक सूरत है, ऐसी कि उससे सैयदों के खिलाफ हिंदू जज्बात भी भड़क सकते हैं। पिछले हफ्ते काजी ने फैसला दिया है कि हिंदू लड़की सावित्री मुसलमान मानी जानी चाहिए, क्योंकि अपने बाप के इस्लाम कुबूल करते वक्त वो नाबालिग थी। राय न हो पाने की वजह से लड़की को फिलहाल गली भैरोंवाली के सेठ जीवनदास के यहाँ भेज दिया गया है। लड़की को गायब करके सेठ से पचास हजार अशर्फियों की फिरौती मांगी जाए और हासिल हो जाने पर लड़की की लाश मस्जिद से बरामद कर ली जाए । तो दुरुस्त है हाजरीन। सैयद बिरादरान के खिलाफ पहली मुहिम खोल दी जाए।''[62] इस प्रकार इस अंश में देखा जा सकता है कि कैसे धर्म का सहारा लेकर सत्ता पाने की राजनीति की जाती है, जिसमें विरोधियों

को परास्त करने मात्र के लिए एक निर्दोष लड़की की जान ले ली जाती है। आज की इस आधुनिक समकालीन राजनीति का एक चेहरा यह भी है जहाँ हत्या, अपहरण फिरौती को अंजाम दिया जाता है। जिसमें धर्म का इस्तेमाल एक अस्त्र के रूप में किया जाता है, जिसका वार खाली नहीं जाता है। सत्ता से जुड़ा एक सत्य यह भी है कि धन सम्पन्न शक्तिशाली लोग सदैव अपने फायदे के लिए सत्ता का इस्तेमाल करते हैं। अपने महत्वपूर्ण उद्देश्यों की पूर्ति के लिए सत्तापक्ष को अपने साथ मिलाकर अपने अनुसार कार्यों के अनुरूप नियमावली और योजनाएँ निर्धारित करवाते हैं। इस नाटक में भी अमीर मनसबदार और व्यापारियों को नजरअंदाज सम्राट नहीं कर सकता था, क्योंकि ये शक्तिशाली वर्ग सम्राट की सत्ता चलाने तथा वित्तीय सहायता दोनों रूपों में मदद करते हैं। जिसके एवज में वे अपनी मनमानी योजनाएँ स्वीकृत करवा लेते हैं।

इस प्रकार निष्कर्ष स्वरूप 'छोटे सैयद, बड़े सैयद' नाटक के माध्यम से हम कह सकते हैं कि सुरेन्द्र वर्मा ने इतिहास से एक घटना उठाकर आज के आधुनिक समकालीन राजनैतिक हालात पर प्रकाश डाला है। जिसमें राजनीतिक षड्यंत्र, उथल-पुथल, सत्ता के खातिर हत्या, धर्म के माध्यम से राजनीति और जिसमें आम जनता के आपसी सामाजिक संबंध टूटते हैं, धर्मिक असहष्णुता फैलाती है। अतः ऐतिहासिक पात्र एवं मिथकीय कथा के माध्यम से आधुनिक समकालीन समस्याओं को उजागर करता हुआ एक सफल नाटक है।

4.7 एक दूनी एक

आज के उच्च-मध्यवर्गीय समाज और नारी मनोविज्ञान से संबंधित वास्तविक सच्चाई को आधार बनाकर सुरेन्द्र वर्मा ने नाटक 'एक दूनी एक' का लेखन किया है। आज अपने भारतीय परंपरागत सामाजिक और पारिवारिक मूल्यों से दूर होते, कटते स्त्री-पुरुष किस प्रकार निजी सुखों (यौन संबंधों) के पीछे भागते जा रहें हैं, इसी पर आधारित है यह नाटक 'एक दूनी एक'। कथानक किसी स्थान विशेष से संबंधित नहीं है। नाटक में मुख्य पात्रों के बीच द्वंद्व और उनकी उलझन भरी जीवन की

परिस्थितियाँ दिखाई गई हैं। आज भारत में उच्च मध्य वर्ग के स्त्री-पुरुष जैसे-जैसे अनैतिक संबंधों की ओर बढ़ते जा रहे हैं वैसे-वैसे भारतीय दाम्पत्य जीवन की जो परिभाषा रही है, जो परंपरा रही है, उससे वे दूर होते जा रहे हैं। समुद्र को प्रतीक बनाकर नाटककार इसी बात को कहना चाहता है, ''समुंदर बाल्कनी तक आ गया है... एक के बाद एक लहरें... दीवार से टकरा रही हैं, घर में पानी भर रहा है... मैं चीख कर कहती हूं समुंदर से, यह तो गलत बात है। कुदरत का कायदा है कि तुम अपनी हद नहीं छोड़ सकते। फिर ऐसा क्यों? समुंदर कहता है। कायदा था जहा तक नरीमन नहीं था। जब तुम लोगों ने जबरदस्ती मेरा इलाका और जले पर नमक छिड़कते हुए रखा रिक्लेमेशन... तभी से अपनी हद न छोड़ने वाला कायदा मैंने तोड़ दिया। अब मैं अपना सारा एरिया रिक्लेम कर रहा हूँ।''[63]

आज पश्चिमी सभ्यता की ओर जिस प्रकार भारतीय समाज अंधी दौड़ लगा रहा है, उसमें वह उतनी ही अपनी परंपरा से दूर होता जा रहा है। इस अनुकरण का एक काला सच यह है कि आज स्त्री-पुरुष विवाहपूर्व और विवाहेत्तर अवैध संबंध जिस प्रकार बना रहे हैं, उससे आगे चलकर पश्चिमी देशों की तरह भारतीय समाज का भी सामाजिक ढांचा बन के रह जाएगा। जहाँ आपसी संबंधों का ठहराव नहीं होगा। भारतीय परंपरा में स्त्री-पुरुष के बीच शादी के बाद एक विश्वास, एक समर्पण हुआ करता था, वह अब धीरे-धीरे धूमिल होता जा रहा है। सुरेन्द्र वर्मा का ध्येय भी इस नाटक के माध्यम से इस समस्या को उठाना है। विवाह के पश्चात् आज उच्च-मध्यवर्ग के लोग अपनी ज़िंदगी को उच्च वर्गों के साथ जोड़ कर देखना चाहते हैं और उस दिखावे की ज़िंदगी में वे दो तरफ़ा ज़िंदगी जीते रहते हैं। आज भारतीय उच्च-मध्यवर्गीय समाज का यह एक कटु सत्य बनता जा रहा है। आधुनिक ज़िंदगी के इस एक रूप को नाटक के इस अंश में देखा जा सकता है, ''रूपेश बंसल की पत्नी का अन्य पुरुष से प्रेम व्यापार चल रहा है। पूनम नारंग के पति मनोज का रीता वाचानी से अनैतिक संबंध है। इतना ही नहीं नाटक का प्रमुख पात्र 'आदमी' अनेक महिलाओं से अपनी 'कुडंलिनी' जाग्रत करवा चुका है। बीना, सपना, पायल, राजहंसिनी तो कभी गाल के गड्डे वाली आदि।''[64]

आज समाज आत्मक्षीण होता जा रहा है और प्रेम मांसल होता जा रहा है। विवाह में बंधने के बाद भी मनुष्य अन्यत्र संबंध स्थापित करना चाहता है या विवाह जैसे बंधन में बंधना ही नहीं चाहता है। 'एक दूनी एक' नाटक में भी मुख्य पात्र 'आदमी' शादी के बंधन में बंधना नहीं चाहता है। विवाह के कई ऐसे अवसर आए पर वह भाग खड़ा होता है। कई लड़कियों से शारीरिक संबंध बनाने के बाद भी वह शादी करके जिम्मेदारी से भाग खड़ा होता है। दूसरी ओर नाटक की मुख्य स्त्री पात्र प्रेम में कई बार धोखा खा चुकी होती है। अपने प्रेमी को अपना तन-मन सब अर्पण करने के बाद भी उससे उसे धोखा ही मिलता है। नाटककार इन सभी प्रसंगों से यह बताना चाहता कि आज के इस आधुनिक भारतीय समाज में भी एक ऐसा वर्ग तेजी से बढ़ता जा रहा है जो शादी जैसी प्रथा में भरोसा नहीं रखता और शादी करते भी हैं तो समाज को दिखाने मात्र के लिए। शादी के बंधन इनके लिए इनकी स्वतंत्रता पर अंकुश के समान हैं। अतः आज पश्चिमी सभ्यता का अनुसरण करते हुए जो एक बड़ा भारतीय समाज का तबका आगे बढ़ता जा रहा है, वह अपनी परंपरा एवं संस्कृति से एक ओर कटता जा रहा है। जिससे भारतीय परंपरागत मूल्य संकट में पड़ते जा रहे हैं। सुरेन्द्र वर्मा अंध आधुनिकरण के पीछे भागते उच्च-मध्यवर्ग के लोगों को इस नाटक के माध्यम से इंगित करने का प्रयत्न करते हैं।

नाटक में सांकेतिक रूप में ऐसी शब्दावली का इस्तेमाल किया गया है जो यौन संबंधों को दर्शाती है। इसमें अधिकतर पात्रों को भोगवादी ही दिखाया गया है, जो आज के समाज में एक उदाहरणार्थ चरित्र हैं। नाटककार ने इनकी ज़िंदगी के केन्द्र में काम को ही दिखाया है, जो कि आज मानवीय समाज का एक कटु सत्य भी है। नाटककार ने नाटक में कुछ चरित्रों के माध्यम से यह दिखाया है कि आज किस प्रकार इनकी मानसिकता भी ऐसी होती जा रही है, जहाँ अपनी ज़िंदगी के सभी कारणों का जड़ 'काम' को ही मानने लगते हैं। उदाहरण स्वरूप नाटक में मुख्य पात्र 'आदमी' अपनी पीठ के दर्द का कारण भी यौन संबंध को मानता है, ''आदमी : पीठ में घनघोर दर्द हो रहा है। बात

यह है कि बहुत दिनों से मेरी कुंडलिनी जाग्रत नहीं हुई। यह जो मेरी रीढ़ की हड्डी शुरू होती है, न नीचे से... यहाँ हल्के-हल्के सहला देने से मीठी-मीठी सिहरन होती है।''[65]

निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि 'एक दूनी एक' नाटक आज के आधुनिक समाज में उच्च मध्यवर्गीय स्त्री-पुरुष के बीच स्थापित होता अनैतिक संबंध का मनोवैज्ञानिक अध्ययन है। स्त्री-पुरुष के बीच विवाहपूर्व, विवाहेत्तर अनैतिक संबंध, विवाह के प्रति अनास्था, साथ ही प्रेम और रिश्तों में स्थायित्व की इनकी कोई कामना नहीं होना आदि को विस्तारपूर्वक इस नाटक में चित्रण किया गया है। यही आधुनिक युग और समकालीन भारतीय समाज का सत्य बनता जा रहा है। जिसे नाटककार सुरेन्द्र वर्मा ने सटीक भावों, कथानक, भाषा और पात्रों द्वारा इस नाटक में चित्रित किया है। नाटक का शीर्षक स्वयं अकेले व्यक्ति की स्थिति का आभास करवा रहा है। अतः परंपरा के मूल्यों का अतिक्रमण कर आधुनिकता के नाम पर जो अवमूल्यन परंपरा की शुरूआत भारतीय, खासकर उच्च-मध्यवर्गीय समाज में हो चुका है, उसे ही बेबाकी से दिखाना नाटककार का ध्येय है।

4.8 शकुन्तला की अंगूठी

सुरेन्द्र वर्मा ने नाटक 'शकुन्तला की अंगूठी' कालिदास द्वारा रचित कृति 'अभिज्ञान शाकुन्तलम्' को आधार बनाकर लिखा है। यह नाटक भी सुरेन्द्र वर्मा का ऐतिहासिक पौराणिक मिथकीय कथा केन्द्रित है, किंतु नाटक का अपना एक समकालीन संदर्भ और कथा उद्देश्य है। 'अभिज्ञान शाकुन्तलम्' का सम्पूर्ण सौंदर्यबोध हम 'शकुन्तला की अंगूठी' में देख सकते हैं। किंतु नाटक और नाटककार का ध्येय एक नए संदर्भ में समकालीन व्याख्या करना है।

नाटक का मुख्य पुरुष पात्र कुमार और स्त्री पात्र कनक को सुरेन्द्र वर्मा ने 'दुष्यंत' और 'शकुन्तला' के रूप में चित्रित किया है। किंतु मुख्य भाव वही है जो 'शकुन्तला' और 'दुष्यंत' के पीछे छिपा भाव है। अर्थात् पात्र के रूप में 'शकुन्तला' और 'दुष्यंत' हैं तो पौराणिक पात्र किंतु उनका भाव आधुनिक युवा का है। आज वर्तमान परिदृश्य में स्त्री और पुरुष दोनों ही बाहर व्यावसायिक कार्यो

के लिए घर से निकलते हैं। जहाँ साहचर्य जन्य मित्रता बन जाती है। यह मित्रता कब प्रेम का रूप ले लेती है यह पता नहीं चलता है। प्रस्तुत नाटक 'शकुन्तला की अंगूठी' में भी कनक और कुमार एक रंगसंस्थान 'कुछ न कुछ' से जुड़े रहते हैं। 'अभिज्ञान शाकुन्तलम्' की प्रस्तुति हेतु पूर्वाभ्यास करते रहते हैं जिसमें कनक शकुन्तला और कुमार 'दुष्यंत' के चरित्र को निभाते रहते हैं। इन चरित्रों को पूर्वाभ्यास करते हुए कब उन्हें वास्तविक प्रेम हो जाता है उन्हें खुद पता नहीं चलता है। इस एहसास का आभास उन्हें तब होता जब एक-दूसरे से अलग होकर एक-दूसरे के लिए बेचैनी महसूस करते हैं। कनक का एक आधुनिक स्त्री के रूप में चित्रण किया गया है। जो न केवल आर्थिक रूप से आत्मनिर्भर है, बल्कि मानसिक रूप से भी अपने फैसले स्वतंत्र रूप से लेती है। शादी-विवाह के संदर्भ में अपनी माँ से किये गये संवाद से इस बात की पुष्टि होती है,

''माँ: अब नहीं करोगी तो कब करोगी? चंपा और चमेली के तो एक-एक बच्चा भी हो गया।

कनक मेरी तरफ से चार-चार हो जाए।

कनक : जिसमें बुराई दिखाई न दे, उससे शादी कर लो ?

माँ : अच्छा कुंदन के बारे में क्या राय है।

कनक : मुझे कुंदन के बारे में राय बनाने के अलावा और भी काम है कुछ।''[66]

कनक का माँ से यह संवाद उसको स्पष्टवादी, स्वेच्छावादी तथा समकालीन आधुनिक विचारों की स्त्री साबित करता है। शादी से बढ़कर उसके जीवन का लक्ष्य और भी है यह स्पष्ट होता है।

कालिदास की 'शकुन्तला' से यदि कनक की तुलना करें तो पाते हैं कि कालिदास की 'शकुन्तला की प्रकृति है- कोमलता और विश्वास करना। वहीं सुरेन्द्र वर्मा की नायिका कनक प्रेम में धोखा खाई एक ऐसी आधुनिक युवा स्त्री है जो अब किसी पर भी भरोसा नहीं करती है। आशंका और संदेह उसके स्वभाव का हिस्सा बन चुका है। कुमार के साथ प्रेम में वह तन-मन से सभी कुछ देकर भी

कुमार के साथ बनाए रिश्ते को एक गहराई और ठहराव नहीं दे पाती है। आज आधुनिक युग में प्रेम का अर्थ बदलता जा रहा है। काम केंद्रित संबंध आज सर्वोपरि होता जा रहा है। अतः आज की आधुनिक युवा पीढ़ी में वह परंपरागत आदर्श प्रेम स्वरूप नहीं रह गया है। प्रेम अब आत्मिक न होकर शारीरिक हो चुका है। शाश्वत न होकर क्षणिक भर का रह गया है। नाटक का नायक कुमार भी अपने प्रेम को अपने जीवन में वह स्थान नहीं देता है और कैरियर बनाने हेतु अमेरिका चला जाता है। प्रेम संबंधों का यह प्रपंच आज के आधुनिक समाज का हिस्सा बन चुका है 1 अतः ऐसे हालात कनक के साथ पहले भी घटित हो चुके होते हैं जब उसका पहला प्रेमी नील झूठ बोलकर उसे छोड़कर चला जाता है। इसके लिए कनक को जिम्मेदार बनाता है, ‘‘नील : तुम इस तरह पड़ी थी मेरे पीछे कि मेरे मुँह से झूठ निकल गया और लिखा मैंने इसलिए नहीं कि अभी मैं शादी करना नहीं चाहता।

कनक : (आहत होकर) इसका मतलब तुमने यह भी झूठ कहा था कि तुम मुझे चाहते हो ?

नील : मैं तुम्हें चाहता हूँ। ऐसा शादी के बिना सच नहीं हो सकता ?’’[67]

इस प्रकार नील भी शादी से अधिक अपने कैरियर को महत्व देता है। आज आधुनिक युवा पीढ़ी के लिए प्रेम का लक्ष्य और अर्थ शारीरिक संबंध मात्र होता जा रहा है। प्रेम का संबंध भावनाओं से नहीं रह गया है। कैरियर बनाने के दौरान प्रेम को एक पड़ाव मात्र मानते हैं, जहाँ आज की युवा पीढ़ी इसे जीवन के इस पड़ाव पर अपने लिए एक आवश्यक उपलब्धि मानती है। जिसके बाद युवा पीढ़ी आगे बढ़ जाती है।

एक और समस्या से सुरेन्द्र वर्मा हमें इस नाटक के माध्यम से रूबरू करवाते हैं, वह है गांव से शहर की तरफ लोगों के पलायन की समस्या, जिसे उन्होंने मछुए के माध्यम से चित्रित किया है। गांव के लोगों के रूप में मछुआ एक प्रतीक है। गांव के लोग गांव में रोजगार नहीं मिलने पर उससे पलायन कर शहर की तरफ दौड़ते हैं। शहरी जीवन ग्रामीण जीवन पर हावी होता जा रहा है। वहाँ का शुद्ध और निश्छल वातावरण शहरी पाश्चात्य संस्कृति में आक्रांत होता जा रहा है। गांव से शहर जाकर

लोग वहाँ की संस्कृति, परंपरा और जीवन शैली अपना लेते हैं। सुरेन्द्र वर्मा ने इस संदर्भ में स्पष्ट किया है, "दरअसल यह नाटक गांव और शहर का कंफर्टेशन है। ज़िंदगी बिल्कुल सही थी, लेकिन जैसे ही शहर की हवा यानी दुष्यंत यानी पोल्युशन आता है, आश्रम की आत्मा यानी शकुन्तला की ज़िंदगी में जहर घुल जाता है। राज महल से निकाले जाने के बाद उसे फिर पनाह कहां मिलती है ? मारीच आश्रम में ... और आखिरकार वो गांव का सीधा-सादा मछुआ है, जो नए सिरे से ज़िंदगी जीता है।"[68]

अतः स्पष्टत: यह कहा जा सकता है कि प्रस्तुत नाटक के माध्यम से सुरेन्द्र वर्मा ने 'अभिज्ञान शाकुन्तलम्' को आधार रूप में ग्रहण कर उसके मूल भाव को बिना ठेस पहुँचाए आधुनिक समकालीन संदर्भ में उसे प्रस्तुत किया है। कालिदास की शकुन्तला जहाँ भाग्य पर भरोसा करती है, वहीं सुरेन्द्र वर्मा की शकुन्तला भाग्य और निमित्ति में भरोसा नहीं करती है। वह अपना निर्णय खुद लेती है। तभी तो अपनी अंगूठी वापस लेकर वह सुर्दशन को पहना देती है। जिसके लिए न उसे अफसोस है न ग्लानि। अतः विवाह पूर्व प्रेम में शारीरिक संबंध बनाना आज के आधुनिक युवा पीढ़ी के लिए किसी भी प्रकार से अनैतिक नहीं है। जैसा कि इस नाटक में भी दिखाया गया है। अतः कालिदास की 'शकुन्तला की अंगूठी' में कनक के प्रेम का आखिरी उद्देश्य शारीरिक संबंध ही था। कुमार और नील के लिए प्रेम मात्र एक क्षण भर का पड़ाव मात्र है। जिसमें कैरियर बनाने के दौरान जीवन के सुखों का उपयोग कर आगे बढ़ जाना है। अतःऐतिहासिक एवं मिथकीय कथा पर आधारित सुरेन्द्र वर्मा का यह एक और सफल नाटक है, जो आधुनिक भारतीय समाज के स्त्री-पुरुष के संबंधों को दर्शाता है। अपनी परंपरागत ग्रामीण जीवन शैली से कटकर आधुनिक शहरी जीवन में व्यक्ति के व्यक्तित्व को घुलते दिखाता है, जहाँ आज मनुष्य अपने जीवन में भावनाओं को कोई स्थान नहीं देता है। बल्कि अपनी भौतिक इच्छाओं की पूर्ति हेतु लगातार भागता ही रहता है। इन सभी आधुनिक सामाजिक विषयों को नाटक में सफलतापूर्वक उठाया गया है।

कुमार-

'शकुन्तला की अंगूठी' नाटक का मुख्य पात्र कुमार है। कालिदास के 'अभिज्ञान शाकुन्तलम्' में जिस किरदार में दुष्यंत होता है, उसी किरदार में 'कुमार' 'शकुन्तल की अंगूठी में' होता है। सुरेन्द्र वर्मा ने पात्र और कथा संदर्भ पौराणिक एवं आधुनिक संदर्भों में लिया है। 'कुमार' के माध्यम से आज के उस आधुनिक मनुष्य का चित्रण नाटककार ने किया है, जो द्वंद्वात्मक स्थिति में फंसा होता है, साथ ही उन्होंने वर्तमान मनुष्य की प्रवृत्तियों का भी चित्रण कुमार के माध्यम से किया है।

कुमार आज का वह आधुनिक युवक है, जो अपने भविष्य (करियर) को लेकर जागरूक है। जिसके लिए वह अपनी प्रेमिका के साथ ही उस नाट्य मंडली को छोड़कर अमेरिका चला जाता है। जिसे वह काफी लगन और मेहनत से शुरू किये होता है। आज जिस प्रकार आधुनिक मनुष्य खुद को समाज से काट अकेला होता जा रहा है। उससे उसके अंदर अवसाद का भाव जन्म लेने लगता है। जिससे उसका आत्मविश्वास टूटने लगता है। वह अपनी असफलता को भाग्य और नियति से जोड़कर देखने लगता है। कुमार भी नाटक के एक स्थल पर खुद को अकेला पाता है। कुमार खुद ही अपने शब्दों में अपनी स्थिति का बखान करता है, ''सुबह का निकला आधी रात को लौटता है अकेला आदमी। कमरे में बेहद उसके अकेलेपन की गंध ताला खोलने से लेकर बत्ती जलाने के बीच तक रोशनी होने पर कमरे का सब कुछ वही है। वैसे ही जैसे सुबह छोड़ा था। अखबार, कमीज, चाय का प्याला। कमरे और अपने भीतर का भुतहा सन्नाटा तोड़ने के लिए। अकेला आदमी अपने आप से बात करता है। चुभता है कमरे में अकेले घुसना। और मन मारे रहना। अपनी मजबूरियाँ और सपनों के साथ।''[69] इस प्रकार कुमार अकेला डरता जिम्मेदारियों से भागता युवक है। 'कुमार' अकेला नहीं रहना चाहता पर शादी भी नहीं करना चाहता है, क्योंकि शादी के बाद उसकी परिवार के प्रति एक जिम्मेदारी होगी, जिसका वह वहन नहीं करना चाहता है। ऐसा ही आज का आधुनिक युवक प्रेम तो करना चाहता है, प्रेम में काम संबंध भी बनाना चाहता है, किंतु विवाह की बात करने पर उस जिम्मेदारी से भागता है। कुमार भी कनक से प्रेम करता है और जिसके बाद शारीरिक संबंध

भी बनाता है, किंतु शादी नहीं करना चाहता। यही सत्य आज के आधुनिक समाज में नौजवानों का है। इस प्रसंग को हम कुमार और कनक के बीच होने वाली बातचीत में देख सकते हैं,

''कुमारः मेरी नौकरी चलने वाली नहीं। मैं अपने गिर्दोपेश इस तरह थक चुका हूं कि.....

कनक : मेरी नौकरी तो है।..... तुम अपने को काम करना, जब जैसे चाहों।

कुमार : अगर घर बसाऊँगा तो जिम्मेदारी से कैसे बच सकता हूँ ?

कनक : मैं तुम्हारे ऊपर कोई जिम्मेदारी नहीं डाल रही।

कुमार : मेरे आत्मसम्मान की भी तो बात है... जरूरत है मुझे भी। लेकिन कीमत भी बहुत बड़ी है।"[70]

अतः कुमार के रूप में सुरेन्द्र वर्मा ने एक ऐसे आधुनिक पात्र का सृजन परंपरा का आधार लेकर किया है, जो परंपरा से हटकर आधुनिक युवक है। जो अकेला है, द्वंद्व में घिरा रहता है। इन सबके कारण जिम्मेदारियों से भागता है और प्रेम का संबंध काम मात्र से समझता है। उसके आगे जिम्मेदारियाँ नहीं निभाना चाहता है।

कनक-

कनक भी शकुन्तला की भूमिका में कालिदास कृत 'अभिज्ञान शाकुन्तलम्' से उद्धरित हुई है। किंतु सुरेन्द्र वर्मा उसे पौराणिक शकुन्तला जो परंपरावादी होती है उस रूप में कनक का चित्रण नहीं किया है, जबकि उसका चित्रण आधुनिक स्त्री के संदर्भ में किया है। कनक अपने निर्णय स्वयं लेती है। स्वच्छंद जीवनयापन करती है। वह प्रेम के नाम पर कई लड़कों से काम संबंध रखती है। वह एक कामकाजी शहरी नारी है जो परंपरा से इतर अपनी ज़िंदगी के फैसले खुद लेती है। अतःजीवन में विवाह संबंधी निर्णय भी खुद लेना चाहती है। वह इस संदर्भ में अपनी माँ से तर्क करती है,

''माँ: अब नहीं करोगी तो कब करोगी?

कनक : पता नहीं।

माँ : चंपा और चमेली के तो एक-एक बच्चा भी हो गया।

कनक : मेरी तरफ से चार-चार हो जाए।

माँ : रामस्वरूप में तुम्हें कौन सी बुराई दिलखाई देती है।

कनक : जिसमें बुराई दिखाई न दे, उससे शादी कर लो ?

माँ : अच्छा गौरी शंकर तो भला है।

कनक : (नाराज होकर) तो मैं क्या करूँ ?''[71]

अतः कनक अपने जीवन में आज की आधुनिक नारी की तरह अपने माता-पिता के निर्णय को महत्व नहीं देती। जिस प्रकार आज की नवयुवतियाँ अपनी पसंद नापसंद स्वच्छंद होकर बताती हैं उसी प्रकार कनक भी बताती है कि जीवन साथी उसे बनाया जा सकता है जिसमें कुछ समानता हो। नहीं तो जीवन की गाड़ी दूर तलक नहीं जा पाती है। वह शकुन्तला और दुष्यंत का उदाहरण देते हुए कहती है, ''लेकिन भीतरी लगाव के लिए दोनों में कुछ कॉमन भी तो होना चाहिए। कहाँ हिरण के मुंह के घाव से परेशान मासूम लड़की और कही हिंदुस्तान की पेचेदी बागडोर थामने वाला राजा...''[72]

कनक में जो एक और आधुनिक स्वभाव विद्यमान है, वह है किसी पर भरोसा नहीं करना। उसका लोगों से भरोसा उठ चुका होता है। इसलिए वह सभी को शक और शंका की नजर से ही देखती है। इस आधुनिक समाज में लोगों से धोखा खाकर वह परिपक्व बन चुकी थी। 'शकुन्तला की अंगूठी' नाटक में मानों शकुन्तला के रूप में खुद के जीवन के कटु अनुभवों को शब्दबद्ध कर रही थी,

''कनक: मैं देख नहीं पा रही। कर्णफलों का पराग आंखों में पड़ गया है।

कुमार : कहो तो मैं फूंक मारकर निकाल दूँ।

कनक : बड़ी कृपा होगी... लेकिन मुझे आपको भरोसा नहीं।

कुमार : नहीं ऐसा नहीं होगा। नया-नया सेवक स्वामी के आदेशों से आगे नहीं जाता। कनक: इन नर्मी से ही तो भरोसा नहीं हो रहा।"[73]

इस प्रकार कनक एक ऐसी आधुनिक पात्र 'शकुन्तला की अंगूठी' में है जो स्वच्छंद विचारों के साथ जीवन भी स्वच्छंद जीती है। उसके ऊपर किसी का अंकुश नहीं होता है। यहाँ तक कि माँ-बाप का भी नहीं। आज के वर्तमान परिदृश्य के भी यही हालात हैं, स्त्री या पुरुष अपनी ज़िंदगी अपने उसूलों पर जीना चाहते हैं। जिदंगी में बनते बिगड़ते धोखा खाते हालात ऐसे हो जाते है कि किसी पर भी भरोसा नहीं करते। वैसा ही कनक का भी स्वभाव हो जाता है। भोगवादी दृष्टि और एकल स्वच्छंद विचरण करना आज के युवाओं की नियति बन चुकी है। इस संदर्भ में कनक का 'शकुन्तला की अंगूठी' का सफल चित्रण सुरेन्द्र वर्मा ने किया है।

4.9 कैद-ए-हयात

'कैद-ए-हयात' नाटक भारतीय परंपरा के प्रसिद्ध शायर मिर्ज़ा ग़ालिब के जीवन परिवेश के संदर्भ में प्रस्तुत किया गया है। इस नाटक का मुख्य पात्र है तो ग़ालिब, लेकिन यह नाटक न उन्हें ऐतिहासिक पुरुष के रूप में चित्रित करता है और न उन्हें उनकी रचना के लिए महान शायर ही सिद्ध करता है। सुरेन्द्र वर्मा नाटक के फ्लैप पृष्ठ पर लिखते हैं, "यह गालिब के जीवन का दस्तावेजी नाट्यलेख नहीं है, बल्कि वे यहाँ एक प्रतीक की हैसियत से मौजूद हैं। गालिब के जीवन सन्दर्भों के सहारे रचनाकार के तनावों से रू-ब-रू करवाते हैं और हम देखते हैं कि रचनाकार के युग परिवेश को नहीं, उसके सामाजिक पारिवारिक और बेहद निजी संसार को भी हमारे सामने खोलता आ रहा है।"[74] अतः नाटककार की उपलब्धि इस संदर्भ में है कि उन्होंने गालिब के माध्यम से साहित्यकारों के संघर्षमय जीवन, लेखकीय चुनौतियों को भी बखूबी प्रस्तुत किया है। प्रस्तुत नाटक में दिखाया गया है कि अपने समय के इतने बड़े शायर गालिब की ज़िंदगी कैसे भिन्न हालातों से घिरी हुई थी। उनके आसपास निजी, समाजी और सियासी जो माहौल था, साथ ही शायरी की जो एक बड़ी जिम्मेदारी

थी उनके ऊपर वो उन्हें हमेशा घेरे और बांधे रखती थी। एक का निर्वाह करने पर दूसरे की नाराजगी झेलनी पड़ती थी। बहुत छोटी उम्र में पिता के देहांत के उपरांत उनका लालन-पालन ननिहाल में हुआ था। शादी भी मात्र 13 वर्ष की छोटी उम्र में हुई थी। जिसके पश्चात् जीवन यापन के लिए दिल्ली, लखनऊ, बनारस और कोलकत्ता आदि शहरों में भटकते रहे। आठ संतानें उनकी हुई, किन्तु सभी की मृत्यु हो गई जिससे वह निःसंतान ही रहे। आर्थिक दशा भी उनकी दीन-हीन थी। इस बात का ज्ञान नाटककार ने खुद गालिब की पत्नी 'उमराव' से करवाया है, ''हज्जाम, धोबी, मिस्त्री, खां रोब-किसी को चार माह से उजरत नहीं मिली। मालिके मकान को किराया नहीं चुकाया गया। महाजन आशिक-बेताब की मानिंद दहलीज पै सिजदे किए जा रहे हैं।''[75] नाटककार इस नाटक के माध्यम से यह बताना चाहता है कि साहित्यकारों का जीवन हमेशा से कष्टों में और संघर्ष से भरा रहा है। कबीर, निराला, मुक्तिबोध, नागार्जुन आदि साहित्यकारों की भांति गालिब की जिन्दगी भी कष्टों और समस्याओं से घिरी हुई थी। खुद गालिब शायरी में इतने रमे हुए थे कि उन्हें घर-परिवार की सुध ही नहीं रहती थी। उनकी पत्नी उनकी गरीबी और हालात के लिए जिम्मेदार उनकी शायरी को बतलाती थीं,

''आपा: (उलहाने से) तुम शायरी के पीछे लट्ठ लिए क्यों पड़ी हो?

उमराव : चूंकि इस गर्दिशे-पैहम की वही जिम्मेदार है।... यही तो मैं भी कहती हूँ, यही तो मैं चाहती हूँ, लेकिन इनकी नींव इतनी गहरी और उस पर तामीर की गई खुद्दारी इतनी बुलंद है कि उसने शख्सियत से वो तवजन हटा दिया जो इंसान को सुखनवरी के बावजूद खानदान बनाए रखता है और इसकी सबसे ज्यादा सजा भुगतनी पड़ती है बेचारी बीबी को।''[76] ग़ालिब को पारिवारिक समस्याओं के अलावा सामाजिक और राजनैतिक समस्याओं का भी सामना करना पड़ा था। ग़ालिब के चाचा की सम्पत्ति फिरोजपुर झिकी के नवाब अहमदबख्श खां को सौंप दी गई थी। जिसके बदले में उनके परिवार को दस हजार सलाना देना तय हुआ था। जिसमें से ग़ालिब के हिस्से में 750 रुपये आते थे। लेकिन एक राजनीति द्वारा नवाब अहमदबख्श खां ने लॉर्ड लेक से मिलकर दस हजार की रकम को

कम करवा कर पांच हजार तय करवा दिया। इतनी ही नहीं, इस सम्पति में एक अन्य किसी व्यक्ति को हिस्सेदारी दिलवा दी। अंततः इन सभी राजनैतिक साजिशों के कारण ग़ालिब का जीवन और भी समस्याओं से भर गया था। इन सबसे लड़तें हुए ग़ालिब अदालतों के चक्कर लगाते फिरते थे। जिसके लिए दिल्ली और कलकत्ता की अदालतों में रिश्वत भी देनी पड़ी थी। इस बात का संज्ञान शीरी और ग़ालिब की बातचीत से मिलता है, ''शीरी : क्या आपको भी कुछ रिश्वत देनी पड़ी थी ?

मिर्ज़ा-राज को राज ही रहने दीजे, वर्ना इंसाफ से लोगों का यकीन उठ जाएगा।''[77]

ग़ालिब की उर्दू-शायरी ने एक अलग मुकाम हासिल किया है। जिनकी शायरी आज मिसाल बन चुकी है। ग़ालिब की शायरी में लोगों की ज़िंदगी दिखती है। उनकी शायरी में प्रेम, दर्द, ज़ज्बात हैं, कम शब्दों में समेटें तो उनकी शायरी में ज़िंदगी के हर पहलू दिखते हैं। ग़ालिब की शेर-ओ-शायरी से कोई भी विषय अछूता नहीं रहा है। यह ग़ालिब की शायरी की विशेषता रही है। ग़ालिब की शायरी ने देश की सीमाओं को पार कर लिया है। अतः समय के साथ कम शब्दों में ज़ज्बाते बयां बन गई ग़ालिब की शायरी।

इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि ग़ालिब जैसे शायर को अपने नाटक में मुख्य पात्र के रूप में चयन कर उसकी ज़िदंगी से जुड़े पहलुओं पर नाटककार ने रोशनी डाली है, जो सराहनीय है। इसके अलावा ग़ालिब के जीवन संघर्ष को आज के लेखकों के जीवन संघर्ष के साथ जोड़कर दिखाया और उसका वर्णन आधुनिक संदर्भों में किया है। इस सन्दर्भ में यह नाटक एक सफल नाटक है, यह कहना गलत नहीं होगा। जिस तरह से ग़ालिब का निजी, सामाजिक-राजनैतिक जीवन साहित्यकार के रूप में कष्टों और चुनौतियों से भरा हुआ था, वैसे ही आज के समकालीन साहित्यकारों की ज़िदगी भी चुनौतियों एवं संघर्षों से भरी पड़ी है। इसके अतिरिक्त आलोचकों और विरोधियों के व्यंगों का सामना भी करना पड़ता है तथा उसका प्रत्युत्तर देते हुए अपने सृर्जनात्मक कार्यों में निरंतर लिप्त रहना

पड़ता है। अतः सुरेन्द्र वर्मा ने ग़ालिब को प्रतीक रूप में इस नाटक में स्थापित कर आधुनिक युग परिवेश में साहित्यकारों के जीवन को सार्थक रूप में चित्रित किया है।

मिर्ज़ा नौशा ग़ालिब-

'कैद-ए-हयात' नाटक में मिर्ज़ा ग़ालिब के माध्यम से सुरेन्द्र वर्मा ने रचनाकार के निजी, समाजिक और राजनैतिक जीवन से जुड़ी समस्याओं और तनावों को व्यक्त किया है। जिस प्रकार एक रचनाकार अपनी रचनाधर्मिता में लीन होने पर अपने निजी जीवन की सुध-बुध नहीं ले पाता वैसे ही ग़ालिब भी शायरी करने में मसगूल वह अपने परिवार की ओर ध्यान नहीं दे पाते हैं। इससे कई घरेलू दिक्कतें आ जाती हैं। नाटककार ग़ालिब और नाटक के सदर्भ में प्रथम पृष्ठ पर ही लिखता है, ''नाटक मिर्ज़ा ग़ालिब के जीवन का ऐतिहासिक दस्तावेज नहीं है, बल्कि उनके माध्यम से प्रतीक रूप में किसी भी समसामायिक युग पुरुष के बहुविध तनावों को समझाने की कोशिश है, जो रचनाक्रम में परिपाटी तोड़ने वाले रचनाकार को झेलने पड़ते हैं- अपने सहकारियों के बीच, समाज के बीच, परिवार के बीच और स्वयं अपने बीच।''[78] ग़ालिब का जीवन के प्रति आधुनिक दृष्टिकोण है। उन्होंने शायरी को एक नए और उच्चतम शिखर तक पँहुचा दिया। उनकी शायरी में ज़ीवन का रस छिपा है। वो लिखते हैं, ''नहीं थी रोक कोई आशियां से आस्मा तक की कि बचाते किस तरह बिजली से अपना आशियाँ यारब।''[79] इस शेर की समकालीन शायरों ने खूब तारीफ की तथा इसे बेहतरीन शायरी कहा, कितु ग़ालिब ने इसे अपने नये अंदाज में कहा, ''नहीं थी आस्मा से रोक जो शाखे नशेमन तक बचाते किस तरह बिजली से अपना आबसी यारब।''[80]

इस प्रकार ग़ालिब ने एक लेखक के रूप में अपनी निजी ज़िंदगी में तमाम मुसीबतों का सामना किया, किन्तु अपने शेरो से ज़िंदगी को देखने का इस दुनिया को एक अंदाज़ एक नजरिया दिया। अतः नाटककार ने ग़ालिब की ज़िंदगी और उसके संघर्ष के माध्यम से आज के आधुनिक लेखकों के संघर्ष को भी दिखाने का नाटक में प्रयत्न किया है।

उमराव-

उमराव का चित्रण नाटककार ने एक मुस्लिम समाज की परंपरावादी नारी के रूप में किया है। जो सारे दुखों को सह कर कभी भी शिकायत नहीं करती है। उमराव ग़ालिब की पत्नी है और उसे पता है कि ग़ालिब की शायरी की वजह से सारी घरेलू दिक्कतें आ रही हैं, किंतु वह कभी भी शिकायत नहीं करती है। वह आपा से बात करते हुए कहती है, ''इनकी तवअशायरी की नींव इस कदर गहरी और उस पै तामीर की गई खुद्दारी इतनी बुलंद है कि उसने शख्सियत से वो तवाजन हटा दिया, जो इंसान को सुखनवरी के बावजूद खानदार बनाए रखता है। (फीकी हंसी से) और इसकी सबसे ज्यादा सजा भुगतनी पड़ती है बेचारी बीवी को।"[81]

आज भी परंपरावादी भारतीय नारी 'उमराव' की तरह सारी दिक्कतें-परेशानियों को झेलकर भी कभी उसकी शिकायत नहीं करती है। लेकिन 'उमराव' का आधुनिक चरित्र तब उभर कर सामने आता है जब ग़ालिब उसकी उपेक्षा करता है और कातिबा से मिलने के लिए उतावला होता रहता है। 'उमराव' उसे चेतावनी देते हुए कहती है, ''तो फिर यह भी जान लीजिये कि आज आपने दहलीज के बाहर कदम रखा तो हमारे बीच कोई चीज हमेशा के लिए टूट जाएगी।''[82]

इस प्रकार नाटककार उमराव के रूप में प्रारंभ में तो एक परंपरावादी नारी का चित्रण करते हैं, किंतु बाद में 'उमराव' में एक आधुनिक चरित्र की सृष्टि भी करते हैं जो अपने रिश्ते को टूटता देख विरोध करते हुए ग़ालिब को जिसने कभी अपने दुखों को उसे नहीं बताया, उसे चेतावनी तक दे देती है।

4.10 रति का कंगन

'रति का कंगन' सुरेन्द्र वर्मा कृत यह अब तक का उनका आख़िरी नाटक है। मिथकीय कथा, परंपरागत देश-काल और वातावरण, नाट्यभाषा तथा पात्रों का संयोजन आधुनिक भाव-बोध के साथ सुरेन्द्र वर्मा ने इतनी खूबसूरती से किया है कि ऐसा प्रतीत होता है मानों ये हमारे वास्तविक ऐतिहासिक पात्र हों। जिसके माध्यम से आज के आधुनिक व्यक्ति के उच्च शैक्षणिक जगत में

सफलता-असफलता, शोध-जगत में शोधार्थी एवं शोध-निर्देशक के साथ विभिन्न परिस्थितियों व्यक्तिगत प्रेम, काम और उससे उपजे संबंधों को उद्घाटित करता है। साथ ही आज के समय में रचनाकार की रचनाओं का प्रकाशकों द्वारा सही मूल्य नहीं देना आदि विषयों को भी बड़ी गंभीरता से चित्रित किया गया है। नाटककार ने इस नाटक को बड़े ही संक्षिप्त शब्दों में व्यक्त भी किया है। वह लिखते हैं, "दिव्य के पीछे कभी गर्हित भी होता है- लेकिन गर्हित का ही रूपांतर फिर दिव्य में हो जाने की क्षत-विक्षत नाट्य- कथा है-'रति का कंगन' ।"[83] इस नाटक का मुख्य नायक 'मल्लिनाग' है। जिसका चित्रण एक परम स्वार्थी के रूप में नाटककार ने नाटक के प्रारंभ में ही किया है। मल्लिनाग जो बिना किसी स्वार्थ सिद्धि के कोई काम नहीं करता है और किसी की मदद भी बिना स्वार्थ के नहीं करता है। स्वार्थ के सन्दर्भ में उसका मत होता है कि यह एक गरिमापूर्ण भावना है और यह भावना जिस व्यक्ति के जीवन के केंद्र में होती है अर्थात् इसका महत्त्व जानता है, वह सदा ही सुखी होता है और मल्लिनाग के अनुसार स्वार्थी इंसान हमेशा ही धनवान होता है, "मल्लिनाग : मेरा मानना है तात कि स्वार्थ सकारात्मक और गरिमाभरी भावना है। जिस व्यक्ति के जीवन में यह केंद्रीय होती है, उसे विकास राजमार्ग पर आगे बढ़ने के लिए सदा प्रेरित करती है। स्वार्थ का संबंध किसी न किसी रूप में अर्थ से होगा ही। इसीलिए स्वार्थी और कुछ चाहे हो या न हो, धनवान अवश्य होगा।"[84] पात्र के रूप में मल्लिनाग का मूल्यांकन करें तो यह आज के आधुनिक मानव का ही प्रतिनिधि पात्र है, जो स्वार्थी हो चुका है। आज का मनुष्य जिस प्रकार से बिना स्वार्थ के दूसरे का कार्य या मदद नहीं करना चाहता है या नहीं कर रहा, उसी का प्रतिरूप मल्लिनाग है। मल्लिनाग के अन्दर आधुनिक मनुष्य की वह सभी नकारात्मक प्रवृत्तियाँ हैं जिससे वह पथभ्रमित होता है। प्रेम के प्रति उसकी कोई श्रद्धा नहीं है। अनैतिक संबंधों में ही जीवन का सुख और जीवन लक्ष्य मानता है। इस सन्दर्भ में सूत्रधार और मल्लिनाग के बीच तर्क भी होता है। जिसमें मल्लिनाग का प्रेम सीमित है। प्रेम जैसी भावनाओं में उसकी कोई विशेष आस्था नहीं है और प्रेम को वह सीमित आत्मीयता का बस लेनदेन मानता है, "मल्लिनाग : (आत्मविश्वास की मुस्कान से) विश्वामित्र

पुरातनपंथी भावना संस्कृति के कार्यकर्ता थे। (उपहास के सुर में) वह प्रेम करते थे, प्रतिबद्धता का स्थापत्य रचते थे। मैं उत्तर भावना काल का नागरिक हूँ– मैं प्रेम नहीं करता; अन्तरंग लेकिन सीमित आत्मीयता का लेन-देन करता हूँ।"[85]

मल्लिनाग खुद को आनंद मार्ग का मुक्त पथिक कह कर खुद को संबोधित करता है और उसे यह पूरा भरोसा होता है कि वह कभी भी प्रेम प्रतिबद्धता जैसी भावनाओं में नहीं बंध सकता है। किन्तु श्रीवल्लरी के संपर्क में आने के बाद उसका भोगवादी दृष्टिकोण बदल जाता है। प्रेम और प्रतिबद्धता संबंधी उसकी धारणा बदल जाती है और वह यह कहता है कि उसकी प्रेम संबंधी धारणा बदल गई है। उसके ज्ञान-चक्षु खुल गये हैं। उसे भी प्रेम हो गया है, "मल्लिनाग : श्रीवल्लरी, तुम मेरी कामना कुंकुम और भावना बसंत हो। अब तुम्हारे दायीं ओर, मेरे जीवन का सत्य है। श्रीवल्लरी : (उपहास से) उत्तर भावना काल में रस सिद्धांत युग का लिजलिजा प्रणय-निवेदन ? विवाह संस्था पिछले संवत्सर में छूट चुकी। तुम भी वहीं लौट जाओ।"[86] इस प्रकार मल्लिनाग का जब आत्म परिवर्तन होता है और प्रेम के प्रति उसकी आस्था जन्म लेती है तो श्रीवल्लरी उसके प्रस्ताव को ठुकरा देती है। जिससे वह टूट जाता है और कभी भी स्त्री का मुँह नहीं देखूँगा कहकर अपने आवेश को प्रकट करता है। मल्लिनाग और श्रीवल्लरी आधुनिक युग के ऐसे प्रतिनिधि पात्र हैं, जिनकी प्रेम और विवाह जैसी परंपरा में कोई आस्था नहीं है। प्रतिबद्धता और समर्पण उनके लिए जीवन के भौतिक सुखों में अवरोधक तत्व हैं। इसीलिए प्रेम के प्रसंग में मल्लिनाग और श्रीवल्लरी द्वारा मानना और अवमानना का यह खेल स्वतः ही देखा जा सकता है जो कि आधुनिक मानव स्वभाव की विडंबना है।

नाट्य कथा में आगे मल्लिनाग जब शोध (पीएच.डी.) करने आचार्य लवंगलता से मिलता है तो वह उच्च शिक्षा में होने वाले शोषण तंत्र में फंस जाता है। परिणाम स्वरूप मल्लिनाग की शोध-निर्देशिका बनने के बाद लवंगलता मल्लिनाग का यौन शोषण करती है। आज तक के पुरुष प्रधान समाज में पुरुषों द्वारा ही स्त्रियों का यौन शोषण का चित्रण हमें साहित्य रचना संसार में पढ़ने को

मिलता रहा है, किन्तु यहाँ विपरीत स्थिति है कि एक पुरुष स्त्री द्वारा शोषित होता दिखता है। सुरेन्द्र वर्मा ने नाटक के इस अंश में न केवल उच्च शिक्षा में शोधार्थियों का शोषण दिखाया है, बल्कि आज के उत्तर-आधुनिक युग में इस शोषण में स्त्रियों की भागीदारी को भी रेखांकित किया है। नाटककार सुरेन्द्र वर्मा नाटक के इस अंश से यह बात रेखांकित करना चाहते हैं कि आज इस आधुनिक युग का एक और कटु सत्य और यथार्थ बनता जा रहा है कि यौन-शोषण तंत्र में स्त्रियाँ ही नहीं पुरुष भी फँसते जा रहे हैं। जहाँ शैक्षणिक जगत से लेकर नौकरियों तक में आप सिर्फ अपने अधिकारियों के हाथों की कटपुतली बन कर रह जाते हैं। किन्तु अब भी यह मुकम्मल यथार्थ नहीं कहा जा सकता है। नाटक के इस अंश में मल्लिनाग शोषण के इस तंत्र में ऐसा फँसता है कि अंततः उसे न डिग्री मिलती है न नौकरी। उच्च शिक्षा में मल्लिनाग शोषित और उपेक्षित होने के पश्चात् जीविकापार्जन हेतु लेखन कार्य प्रारंभ करता है। जहाँ वह परमहंस के सम्पादक 'संदीपन' नामक पात्र से मिलता है और संदीपन उसे कामशास्त्र लिखने का सुझाव देता है। वह कहता है कि इस तरह की कोई भी श्रेष्ठ रचना इस समय पाठक वर्ग के पास उपलब्ध नहीं है, "ऐसी पुस्तक की ठोस आवयश्कता है इस समय। सामान्य पाठकों को तो छोड़ो, यौन अध्ययन केन्द्र का पाठ्यक्रम भी कामचलाऊ माना जाता है।"[87] संदीपन के सुझाव पर मल्लिनाग स्त्री के साथ अपने सम्पूर्ण अनुराग, अनुभव और अपने ज्ञान के समावेश से कामसूत्र पर आधारित एक नवीन और बेहतरीन पुस्तक की रचना करता है, जिसकी पांडुलिपि वह प्रकाशन हेतु परमहंस के सम्पादक संदीपन को सौंप देता है। कालांतर में यह पुस्तक चारों दिशा में विक्रेताओं में काफी चर्चित हो जाती है और इसकी एक लाख प्रतिलिपियों के लिए संदीपन को एक बड़ी रकम मकरंद नामक एक विक्रेता देता है और कहता है कि जल्दी ही आपकी इस पुस्तक की इतनी बिक्री होगी कि आप कोटिपति बन जाएँगे। इसके पश्चात् संदीपन में लालच पनपता है और कामसूत्र पुस्तक के लेखक मल्लिनाग को अँधेरे में रखता है कि पुस्तक की बिक्री के सन्दर्भ में अभी तक निराशा ही हाथ लग रही है और वह एक सम्पादक के रूप में घाटे में ही है। मल्लिनाग को उसकी इस रचना के लिए संदीपन उचित लेखकीय मेहनताना शुल्क

भी नहीं देता है। इसके विपरीत संदीपन मल्लिनाग को अँधेरे में रखता है और कहता है कि, " संदीपन: परमहंस प्रकाशन पर ताला पड़ने की नौबत आ गयी। कौन-सी काली घड़ी में यह मनहूस काम हाथ में लिया था ? यह 'कामसूत्र' है यह मेरा वामसूत्र है ? तुम्हारा ग्रंथ मेरी लुटिया डुबाने को उतारू है। (भारी बोझ-तले दबकर चलने की मुद्रा में आते हुए) अभी पच्चीस सुलेखकों के भुगतान के बोझ से दबा हुआ चल रहा हूँ।"[88] इसके उपरान्त भी संदीपन मल्लिनाग पर कई अभियोग लगा कर उसे जेल भिजवा देता है।

नाटक का यह प्रसंग आज के समकालीन समाज में मनुष्य किस प्रकार झूठ, आडम्बर और धोखे से धन अर्जित करना चाहता है उसका यह जीवंत उदाहरण है। अतः सुरेन्द्र वर्मा यहाँ लेखक और प्रकाशक के माध्यम से हमे आज के उस सच से अवगत करवाते हैं जहाँ एक इंसान दूसरे की मेहनत की क़द्र तो दूर की बात है, उसके हिस्से की मेहनत का सुख भी खुद भोग लेना चाहता है। इस दृष्टि से यहाँ आधुनिक समाज और मानव का भौतिक सुखों के पीछे जड़ होते चिंतन और चरित्र का चित्रण बखूबी किया गया है।

नाट्य कथा में आगे मल्लिनाग इन जीवन के अनुभवों से संघर्ष करते, टूटते संभलते हुए मेघाम्बरा नामक युवती से सच्चा प्रेम करता है। मल्लिनाग के प्रेम को मेघाम्बरा स्वीकार करती है, किन्तु मल्लिनाग का संबंध मेघाम्बरा के साथ भी स्थायित्व नहीं पाता और अंततः मल्लिनाग सभी सांसारिक मोह-माया का परित्याग कर वैरागी-सन्यासी बन जाता है। इस प्रकार सुरेन्द्र वर्मा का यह नाटक भी आधुनिक मानवीय रिश्तों के बनने-बिगड़ने की गाथा है, ऐसा कहा जाए तो गलत नहीं होगा। इसके अतिरिक्त यह नाटक मल्लिनाग के माध्यम से आज के उस व्यक्ति विशेष को चित्रित करता है, जिसके जीवन का केंद्रीय लक्ष्य भौतिक मांसल सुखों को ही पाना है, साथ ही स्वार्थ लिप्त जीवन ही जीवन में सफलता का आधार है। अंततः मल्लिनाग एक आधुनिक मानव के लिए उदाहरण के समान है जिसमें यह संकेत किया गया है कि आधुनिक समाज में हम कितना भी स्वार्थ लिप्त होकर भौतिक सुखों के पीछे दौड़ें, किन्तु शांति और आत्मीय सुख वही प्राप्त करता है, जहाँ

हमारी जड़ है अर्थात् अपने परंपरागत मूल्य में जो मानवीय मूल्यों से बनी अवधारणा पर केन्द्रित हैं। जिसका मूल आधार लोकवादी रहा है।

निष्कर्ष स्वरूप यह कहा जा सकता है कि सुरेन्द्र वर्मा ने अपने नाटकों में ऐतिहासिक पात्रों एवं मिथकीय कथा के माध्यम से एक से एक उत्कृष्ट नाटक का लेखन किया है। जिसके माध्यम से निरर्थक जीवन मूल्यों को नकारा है। आज भारतीय समाज किस ओर जा रहा है, उस ओर इंगित किया है। इसके अलावा आज समाज पश्चिमी सभ्यता और परंपरा की ओर किस प्रकार अंधाधुंध बढ़ रहा है। किस प्रकार आज रिश्तों का महत्व खत्म होता जा रहा। कैसे आज इस तिजारते युग में मानव वस्तु बन बैठा है। कैसे रिश्तों का हो रहा धंधा है, इसे बखूबी अपने नाटकों में सुरेन्द्र वर्मा ने चित्रित किया है।

समग्र रूप में सुरेन्द्र वर्मा के नाटकों को एक बार देखें तो 'द्रौपदी' नाटक में समकालीन युग बोध का वर्णन किया गया है। जहाँ महानगरीय जीवन मूल्यों को बदलते दिखाया गया है। 'सेतुबंध' नाटक में आधुनिक मानव के द्वंद्व को दिखाया है तथा उनके अस्तित्व संकट की समस्या उजागर किया गया है। 'नायक-खलनायक विदूषक' नाटक में व्यवसाय के आगे मनुष्य की स्वतंत्रता के प्रश्न के महत्त्व को उठाया गया है, साथ ही रंगमंच की उपेक्षा और कलाकारों की निष्ठा पर भी प्रश्न चिन्ह लगाया गया है। 'सूर्य की अंतिम किरण से सूर्य की पहली किरण तक' में नियोग जैसी परंपरा और प्रथा से आगे व्यावहारिकता पर जोर दिया गया है। साथ ही पति-पत्नी के बीच कामभावना और रति संबंधी मुद्दों को भी महत्व देते हुए नाटक में स्थान दिया है। 'आठवां सर्ग' में कालिदास के माध्यम से साहित्य में श्लीलता और अश्लीलता के प्रश्न को उठाया गया है तथा अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता जैसे समकालीन ज्वलंत मुद्दों को बेबाकी से उठाया गया है। 'छोटे सैयद बड़े सैयद' में इतिहास के माध्यम से आधुनिक चेतना पृष्ठभूमि पर समकालीन राजनैतिक हालातों पर प्रकाश डाला गया है। जिसका प्रभाव परोक्ष रूप से समाज पर ही पड़ता है। 'एक दूनी एक' नाटक' में 'द्रौपदी' के समान स्त्री-पुरुष के बीच की काम भावना एवं विवाह जैसी परंपरा में अनास्था को चित्रित किया गया है। 'शकुन्तला

की अंगूठी' नाटक में काम भावना का चित्रण किया गया है। इसमें भी प्रेम एवं विवाह का अर्थ बस काम ही है। भावना का कोई स्थान नहीं है, आज के आधुनिक समाज में भी यह भावना प्रबल होती जा रही है। 'शकुन्तला की अंगूठी' में सुरेन्द्र वर्मा ने स्त्रियों को आधुनिक रूप में ही चित्रित किया है, जो किसी भी पुरानी परंपरा और मूल्यों में बंधकर नहीं रह सकती हैं। वे प्रेम से लेकर रति तक, जीवन शैली से लेकर जीवन साथी चुनने तक, सभी में स्वच्छंद विचरण करना चाहती हैं। अतः आज जिस आधुनिकता की परिभाषा गढ़ी जा चुकी है, वे उसमें ही ढलकर रच-बस जाना चाहती हैं। 'कैद-ए-हयात' में मिर्जा ग़ालिब को प्रतीक रूप में चित्रित कर साहित्यकारों के निजी, सामाजिक और राजनैतिक संघर्षों को आधुनिक संदर्भों में प्रस्तुत किया गया है। अन्ततः 'रति का कंगन' नाटक के माध्यम से आज के आधुनिक मानव का मांसल प्रेम और उच्च शिक्षा जगत में चल रहे शोषण तंत्र को दिखाया गया है।

नाटकों में पात्रों का विश्लेषण करते हुए निष्कर्ष स्वरूप यह कहा जा सकता है कि कोई पात्र परंपरा का वाहक है तो कोई आधुनिकता का। किंतु यह निर्भर करता है उस पात्र के मनोविज्ञान पर, उसकी परिस्थितियों तथा परिवेश आदि पर। 'द्रौपदी' नाटक की सुरेखा और 'सेतुबंध' की 'प्रभावती' तथा 'आठवां सर्ग' की प्रियंगुमंजरी में कमोवेश समानता असमानता है । प्रभावती, सुरेखा और प्रियंगुमंजरी परंपरागत स्त्री है। लेकिन सुरेखा जब अपनी पुत्री से खुल कर उसके जीवन के बारे में बात करती है तो वह आधुनिक दिखती है। इसी प्रकार प्रभावती परंपरागत नारी के रूप में जीवन व्यतीत करते रहती है, किंतु पुत्र के अपने अस्तित्व पर सवाल करने पर आधुनिक नारी की भांति तर्क देती है। अतः प्रभावती के भी इस स्थान पर आधुनिक रूप का पता चलता है। 'सूर्य की अंतिम किरण से सूर्य की पहली किरण तक' में शीलवती द्वारा नाटक के आरंभ में परंपरा का पालन कर एक परंपरागत स्त्री की छवि उभर कर सामने आती है, किंतु धर्मनटी बनने के पश्चात् मानो उसे जीवन के सही अर्थों का अनुभव हो जाता है और वह आमात्यपरिषद् से लेकर अपने पति ओक्काक तक से आधुनिक स्त्री की भांति अपनी आकांक्षाओं को खुलकर जग जाहिर करती है। शकुंतला की

अंगूठी में 'कनक' एक आधुनिक स्त्री की तरह स्वच्छंद जीवन यापन करती है और वर्तमान समय में सभी भौतिक सुखों का उपभोग करती है।

पुरुष पात्रों में 'सेतुबंध' का प्रवरसेन और 'सूर्य की अंतिम किरण से सूर्य की पहली किरण तक' का ओक्काक सामन्ती विचारों वाले शासक हैं। प्रवरसेन अपनी माता के प्रेम को स्वीकार नहीं कर पाता तो ओक्काक अपनी पत्नी का 'धर्मनटी ' से 'कामनटी' बनाना स्वीकार नहीं करता रहता है। ये दोनों ही स्त्री को पुरुषवादी मानसिकता से ही देखते हैं। द्रौपदी नाटक का पात्र मोहन खण्डित रूप का महानगरीय आधुनिक रूप है, जो सारे बुरे कर्मों में लिप्त है। जिसके कुल पाँच रूप हैं। 'शकुन्तला की अंगूठी' का 'कुमार' व्याभिचारी, यौनचारी तथा अकेला टूटा हुआ व्यक्तित्व का मनुष्य है।

अतः सुरेन्द्र वर्मा के नाटकों में यदि पात्रों के माध्यम से परंपरा और आधुनिकता की पड़ताल करें तो लगभग सभी मुख्य पात्र परंपरा या आधुनिकता से साम्य-वैषम्य रखते हैं। सभी पात्र आज के आधुनिक जीवन का चित्रण करने में काफी हद तक सफल हैं। साथ ही कई पात्र पुरानी परंपरा का खण्डन कर आधुनिकता को स्वीकार करते मिलते हैं, तो कोई उसका निर्वाह करते हैं। अतः इस संदर्भ में सुरेन्द्र वर्मा के नाटकों के पात्र परंपरा और आधुनिक विचारों और उनके लक्षणों का वहन करते दिख जाते हैं, ऐसा कहना गलत नहीं होगा।

संदर्भ-

1. वर्मा, सुरेन्द्र; हिंदी नाटक का आत्म संघर्ष; लोक भारती प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली; संस्करण, 2002; पृ 203.
2. पाल, विजय; सुरेन्द्र वर्मा के नाटकों में आधुनिकता बोध; नीरज बुक सेंटर, पटपड़गंज, दिल्ली; संस्करण, 2013; पृ 12.
3. बेदी, सुषमा; हिंदी नाट्य: प्रयोग के सन्दर्भ में; पराग प्रकाशन, महरौली, नई दिल्ली; संस्करण, 1984. पृ 111.
4. वर्मा, सुरेन्द्र; तीन नाटक; वाणी प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली; संस्करण, 2005; पृ 32.
5. वही; पृ 33.
6. वही; पृ 33, 34.
7. वही; पृ 35.
8. वही; पृ 31.
9. वही; पृ 38.
10. रस्तोगी, गिरीश; समकालीन हिंदी नाटककार; इन्द्रप्रस्थ प्रकाशन, कृष्णा नगर, नई दिल्ली; संस्करण, 1982; पृ 65.
11. वर्मा, सुरेन्द्र; द्रौपदी; तीन नाटक; वाणी प्रकाशन दरियागंज नई दिल्ली; संस्करण, 2005; पृ 31.
12. वही; पृ 35.
13. वही; पृ 36 .
14. वही; पृ 38.
15. वही; पृ 30, 35.
16. वही; पृ 34.
17. वही; पृ 63.
18. वही; पृ 32.
19. वही; पृ 32.
20. वही; पृ 33.

21. वही; पृ 34.

22. रस्तोगी, गिरीश; समकालीन हिंदी नाटककार; इन्द्रप्रस्थ प्रकाशन, कृष्णा नगर, नई दिल्ली; संस्करण, 1982; पृ 64.

23. चंद्रशेखर; समकालीन हिंदी नाटक: कथ्य चेतना; आत्मा राम एंड सन्स, कश्मीरी गेट, नई दिल्ली; संस्करण, 1982; पृ 292.

24. वर्मा, सुरेन्द्र; तीन नाटक; वाणी प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली; संस्करण, 2005; पृ 54.

25. वही; पृ 69.

26. चंद्रशेखर; समकालीन हिंदी नाटक: कथ्य चेतना; आत्मा राम एंड सन्स,कश्मीरी गेट नई दिल्ली; संस्करण, 1982; पृ 292.

27. वही; पृ 293.

28. वर्मा, सुरेन्द्र; तीन नाटक; वाणी प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली; संस्करण, 2005; पृ 41.

29. रस्तोगी, गिरीश; समकालीन हिंदी नाटककार; इन्द्रप्रस्थ प्रकाशन, कृष्णा नगर, नई दिल्ली; संस्करण, 1982; पृ 57.

30. चंद्रशेखर; समकालीन हिंदी नाटक: कथ्य चेतना; आत्मा राम एंड सन्स, कश्मीरी गेट नई दिल्ली; संस्करण, 1982; पृ 293.

31. रस्तोगी, गिरीश; समकालीन हिंदी नाटककार; इन्द्रप्रस्थ प्रकाशन, कृष्णा नगर, नई दिल्ली; संस्कर, 1982; पृ 62.

32. वर्मा, सुरेन्द्र; तीन नाटक; वाणी प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली; संस्करण, 2005; पृ 102.

33. वही; पृ 85.

34. वही; पृ 81, 82.

35. वर्मा, सुरेन्द्र; द्रौपदी; तीन नाटक; वाणी प्रकाशन दरियागंज नई दिल्ली; संस्करण, 2005; पृ 74.

36. वही; पृ 76.

37. वही; पृ 102.

38. वही; पृ 82, 83.

39. वही; पृ 75.

40. वही; पृ 130.

41. वर्मा, सुरेन्द्र; सूर्य की अंतिम किरण से सूर्य की प्रथम किरण तक; राधाकृष्ण प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली; संस्करण, 1976; पृ 19.

42. पाल, विजय; सुरेन्द्र वर्मा के नाटकों में आधुनिकता बोध; नीरज बुक सेंटर पटपड़गंज, दिल्ली; संस्करण, 2013; पृ 31.

43. वही; पृ 31.

44. वही; पृ 31, 32.

45. वही; पृ 32.

46. वर्मा, सुरेन्द्र; सूर्य की अंतिम किरण से सूर्य की प्रथम किरण तक; राधा कृष्णप्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली; संस्करण, 1976; पृ 23, 24.

47. वही पृ 37.

48. पाल, विजय; सुरेन्द्र वर्मा के नाटकों में आधुनिकता बोध; नीरज बुक सेंटर पटपड़गंज, दिल्ली; संस्करण, 2013; पृ, 76.

49. वर्मा, सुरेन्द्र; सूर्य की अंतिम किरण से सूर्य की प्रथम किरण तक; राधाकृष्ण प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली; संस्करण, 1976; पृ 19.

50. वही; पृ 52.

51. वही; पृ 54.

52. वही; पृ 43.

53. पाल, विजय; सुरेन्द्र वर्मा के नाटकों में आधुनिकता बोध; नीरज बुक सेंटर पटपड़गंज, दिल्ली; संस्करण, 2013; पृ 35.

54. वर्मा, सुरेन्द्र; सूर्य की अंतिम किरण से सूर्य की प्रथम किरण तक; राधाकृष्ण प्रकाशन, दरयागंज, नई दिल्ली; संस्करण, 1976; पृ 55, 56.

55. वही; पृ 54, 55.

56. वही; पृ 56.

57. वही; पृ 72.

58. वर्मा, सुरेन्द्र; सूर्य की अंतिम किरण से सूर्य की प्रथम किरण तक; राधाकृष्ण प्रकाशन, दरयागंज, नई दिल्ली; संस्करण, 1976; पृ 55, 56.

59. वही; पृ 58.

60. वही; पृ 72.

61. पाल, विजय; सुरेन्द्र वर्मा के नाटकों में आधुनिकता बोध; नीरज बुक सेंटर पटपड़गंज, दिल्ली; संस्करण,2013; पृ 40, 41 .

62. वही; पृ 43.

63. वर्मा, सुरेन्द्र; एक दूनी एक; राधाकृष्ण प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली; संस्करण, 1987; पृ 129 .

64. पाल, विजय; सुरेन्द्र वर्मा के नाटकों में आधुनिकता बोध; नीरज बुक सेंटर पटपड़गंज, दिल्ली; संस्करण, 2013; पृ 46 .

65. वर्मा, सुरेन्द्र; एक दूनी एक; राधाकृष्ण प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली; संस्करण, 1987; पृ 36 .

66. वर्मा, सुरेन्द्र; शकुन्तला की अंगूठी; नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दरियागंज, नई दिल्ली; पहला संस्करण, 1990, पृ 61.

67. वही; पृ 54, 55.

68. वही; पृ 75.

69. पाल, विजय; सुरेन्द्र वर्मा के नाटकों में आधुनिकता बोध; नीरज बुक सेंटर पटपड़गंज, दिल्ली; संस्करण, 2013; पृ 87, 88.

70. वही; पृ 88 .

71. वही; पृ 89 .

72. वही; पृ 89 .

73. वही; पृ 89 .

74. वर्मा, सुरेन्द्र; कैद-ए-हयात; राधाकृष्ण प्रकाशन, दरियागंज नई दिल्ली; पहला संस्करण, 1993; पृ. फ्लैप पृष्ठ.

75. वही; पृ 14.

76. वही; पृ 17.

77. वही; पृ 60.

78. पाल, विजय; सुरेन्द्र वर्मा के नाटकों में आधुनिकता बोध; नीरज बुक सेंटर पटपड़गंज, दिल्ली; संस्करण, 2013; पृ 90 .

79. वही; पृ 90 .

80. वही; पृ 90 .

81. वही; पृ 91 .

82. वर्मा, सुरेन्द्र; कैद-ए-हयात; राधाकृष्ण प्रकाशन, दरियागंज नई दिल्ली; पहला संस्करण, 1993; पृ 71 .

83. वर्मा, सुरेन्द्र; रति का कंगन; भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन; लोधी रोड नई दिल्ली; प्रथम संस्करण, 2011; पृ फ्लैप पृष्ठ.

84. वही; पृ 10.

85. वही; पृ 20.

86. वही; पृ 24.

87. वही; पृ 62.

88. वही; पृ 83.

पंचम अध्याय

मोहन राकेश और सुरेन्द्र वर्मा के नाटकों में परंपरा और आधुनिकता : तुलनात्मक अध्ययन

स्वतन्त्रतापूर्व जिन जीवन-मूल्यों और सिद्धांतों को समाज में एक विशेष स्थान प्राप्त था, स्वातंत्र्योत्तर भारत में धीरे-धीरे वे खंडित होते चले गए। विशेषतः परंपरागत जीवन-मूल्य स्वातंत्र्योत्तर और भी विघटित होते चले गए। आधुनिकता और यांत्रिक जीवन के पीछे भारत के लोगों ने अंधी दौड़ लगानी शुरू कर दी। आज समाज में बहुत से लोग भ्रामक स्थिति में हैं कि परंपरा से जुड़कर रहना उसका अनुशीलन करना गैर-आधुनिक होना है। जबकि इसके विपरीत एक स्वस्थ परंपरा ही आगे आधुनिकता का रूप ग्रहण करती है। इस अर्थ में कहा जा सकता है कि परंपरा को आधुनिकता से अलग नहीं देखा जा सकता है। अम्बादत्त पाण्डेय इस सन्दर्भ में लिखते हैं, "परंपरा आधुनिकता से विछिन्न कभी नहीं हो सकती। हर देश का उसके इतिहास के आधार पर एक जातीय विकास होता है। जीवन मूल्य परंपरा परिवर्द्धित-परिवर्तित होते रहते हैं। संस्कृति के सूक्ष्म तत्व उभरकर प्रबल रूप धारण करते हैं अर्थात् संकीर्णता का स्थूल वातावरण विदीर्ण होकर स्थानापन्न होता है, सार्वभौमिकता एवं उदार मानवीय गुणों से, पर मूल में जातीय छाप लगी रहती है।"[1]

हिंदी साहित्य और साहित्यकार ने भी हमेशा से ही अपनी रचनाओं में जहाँ अपनी परंपरा को स्थान दिया है वहीं अपने युग परिवेश का चित्रण-अंकन बखूबी किया है। किन्तु साहित्य की कोई भी विधा क्यों न हो उसका मूल्यांकन दो स्तरों पर किया जा सकता है। प्रथम स्तर यह है कि हमें यह देखना होगा कि उसमें कलात्मकता कितनी है। दूसरा यह कि उस विधा की रचनाओं से अर्थबोध क्या हो रहा है ? मूलतः इसमें कोई संदेह नहीं कि किसी भी विधा की रचना का उद्देश्य किसी बात को अपने ढंग से कह गुजरने का ही होता है, किन्तु किसी भी रचना का दीर्घजीवी होना उसकी कलात्मकता

के साथ-साथ इस बात पर निर्भर करता है कि वह अपने समकालीन और भविष्य के समाज को कितनी दूर तक अपने साहित्य के कैनवास पर सफलतापूर्वक चित्रित करता है। यह विशेषता ही किसी साहित्यिक रचना को अपने समय में प्रासंगिक बनाती है।

हिंदी नाटकों के सन्दर्भ में हम देखें तो 1950 और 1960 के दशक में स्वातंत्र्योत्तर हिंदी नाट्य रचनाओं में जो नई प्रवृत्ति देखने को मिली वह है इतिहास-पुराण से चरित्र और परवेश चयन की प्रवृत्ति। इस दशक के नाटककारों का इतिहास-पुराण से चरित्र और परवेश चयन का मुख्यतः उद्देश्य आधुनिक जीवन संघर्ष को उद्घाटित करना था। जगदीशचंद्र माथुर का 'कोणार्क', लक्ष्मीनारायण लाल का 'मादा कैक्टस', धर्मवीर भारती का 'अंधा-युग' आदि ऐसे आधुनिक प्रारंभिक हिंदी नाटक थे, जो हिंदी नाट्य जगत की पूरी नाट्य चेतना को एक नया आयाम देते हैं और समसामयिक संदर्भो में मानवीय अन्तर्द्वंद्व और उनके जटिल चरित्रों का एक नवीन रंग चेतना के माध्यम से प्रस्तुत करते हैं।

इसी कड़ी में प्रमुख रूप से जिस अगले नाटककार का नाम आता है वह मोहन राकेश और उनके नाटकों का है। मोहन राकेश की नाट्य-यात्रा उनके प्रथम नाटक 'आषाढ़ का एक दिन' से प्रारंभ होती है और तीसरे नाटक 'आधे-अधूरे' पर जाकर समाप्त हो जाती है। चौथे नाटक 'पैर तले की जमीन' की रचना पूर्ण होने से पूर्व ही असमय उनकी ज़िंदगी पर पूर्ण-विराम लग गया। किन्तु राकेश के यह तीन नाटक क्रमशः 'आषाढ़ का एक दिन', लहरों के राजहंस', और 'आधे-अधूरे' में आज के आधुनिक मानवीय अंतर्मन के द्वंद्व को और आज के मानव के जटिल जीवन को इतनी बारीकी से उकेरा गया है कि कई बार ऐसा प्रतीत होता है मानो वह अंतर्मन का द्वंद्व खुद के अन्दर का हो या जो नाट्य-चरित्र और परिस्थितियाँ चित्रित की गई हैं वह हमारे आस-पास की ही हों।

मोहन राकेश के नाटकों में जो भावनात्मकता, आंतरिक जटिलता, रूमानियत और संवेदनात्मक वातावरण देखने को मिलता है, वही 70 के दशक के नाटककार सुरेन्द्र वर्मा के नाटकों में भी देखने

को मिलता है। दोनों ही नाटककारों के नाटकों में मिथकीय ऐतिहासिक कथानक और पौराणिक चरित्रों की पृष्ठभूमि में आधुनिक मानव के व्यक्तित्व एवं सामाजिक जीवन की जटिलताओं और द्वंद्वों को देखा जा सकता है, "सुरेन्द्र वर्मा, के नाटकों में इतिहास तथा पौराणिक सन्दर्भ उसी रूप में आये हैं जिस रूप में मोहन राकेश के नाटकों- 'आषाढ़ का एक दिन' एवं 'लहरों के राजहंस' में। इस रूप में हिंदी नाट्य-परंपरा में सुरेन्द्र वर्मा मोहन राकेश की अगली कड़ी कहे जा सकते हैं।"[2] आधुनिक काल के इन दोनों नाटककारों के नाटकों का समग्र तुलनात्मक अध्ययन करके ही इनके नाटकों में निहित परंपरा और आधुनिकता संबंधी तत्त्वों को समझा जा सकता है।

मोहन राकेश और सुरेन्द्र वर्मा दोनों के नाटकों का तुलनात्मक अध्ययन करते हुए कथानक की बात करें तो आधुनिक जीवन-बोध के लिए मिथकीय पौराणिक कथा का प्रयोग किया है। जिसमें मोहन राकेश का पहला और दूसरा 'आषाढ़ का एक दिन'(1958 ई.) और 'लहरों के राजहंस'(1963 ई.) नाटक मिथकीय पौराणिक कथा पर आधारित हैं। जबकि सुरेन्द्र वर्मा के मिथकीय पौराणिक कथाओं पर आधारित जो नाटक हैं वे हैं-'सेतुबंध'(1972 ई.),'नायक खलनायक विदूषक'(1972 ई.),'सूर्य की अंतिम किरण से सूर्य की पहली किरण तक'(1975 ई.), 'आठवां सर्ग'(1976 ई.), 'छोटे सैयद बड़े सैयद'(1982 ई.), 'कैद-ए-हयात'(1993 ई.),'रति का कंगन'(2010 ई.)। जबकि 'द्रौपदी' (1972 ई.), 'एक दूनी एक' (1987 ई.), और 'शकुन्तला की अंगूठी' (1990 ई.) सुरेन्द्र वर्मा के ऐसे नाटक हैं जिनकी कथावस्तु और पात्र-चरित्र आधुनिककालीन हैं। इस दृष्टि से सुरेन्द्र वर्मा के तीन नाटकों को छोड़कर शेष नाटक मिथकीय पौराणिक कथा पर आधारित हैं। जिसका भाव-बोध आधुनिककालीन समाज और व्यक्ति के द्वंद्व, कुंठा और जीवन के भटकाव आदि को ही चित्रित करते हैं।

अतः इस अध्याय में तुलनात्मक शोध-प्रविधि के माध्यम से उन नाटकों के मध्य तुलना की गयी है जिन नाटकों के नाट्य कथानक, देशकाल और वातावरण तथा पात्रों की परिस्थितियों में कमोबेश समानता है। साथ ही नाट्य उद्देश्य कई अर्थो में एक समान हैं। दोनों ही नाटककारों के कई नाटकों

के पात्रों, परिवेश और विषयगत समस्याओं में समतुल्यता है जिसके कारण इन नाटकों को या इसके पात्रों को सापेक्ष रूप से देखना अनिवार्य था। इस कारणवश पंचम अध्याय की में मोहन राकेश और सुरेन्द्र वर्मा के कई नाटकों में बारम्बार तुलना की गयी है जिससे कि परम्परा और आधुनिकता से संबंधित समस्त आयामों का विवेचन-विश्लेष्ण सुनिश्चित किया जा सके।

5.1 'आषाढ़ का एक दिन' और 'आठवां सर्ग'

मोहन राकेश और सुरेन्द्र वर्मा दोनों ही नाटककारों के नाट्यलेखों में ऐतिहासिक पौराणिक परिवेश-चयन की वृत्ति देखी जा सकती है। जिसमें दोनों ही नाटककारों के यहाँ जो एक बात सामान्य है वह है कालिदास। वह कालिदास जो संस्कृत साहित्य में महाकवि के रूप में स्थापित हैं। जिनका व्यक्तित्व भारतीय लोकजनों के बीच सदियों से प्रचलित है। मोहन राकेश ने अपने नाटक 'आषाढ़ का एक दिन' और सुरेन्द्र वर्मा ने अपने नाटक 'आठवां सर्ग' की नाट्य-कथा के केंद्र में कालिदास के मिथकीय जीवन-संघर्ष और उससे उत्पन्न परिवेश को प्रस्तुत किया है। इसके अतिरिक्त 'सेतुबंध' नाटक में भी सुरेन्द्र वर्मा ने अप्रत्यक्ष रूप से कालिदास के जीवन को जोड़कर प्रस्तुत किया है। दोनों ही नाटककारों ने कालिदास से संबंधित पौराणिक मिथकीय कथा के माध्यम से एक आधुनिक जीवनबोध को ही प्रस्तुत किया है, ऐसा कहना गलत नहीं होगा। दोनों ही नाटकों के कथानक को देखें तो वह एक मिथकीय पौराणिक कथा है। पौराणिक कलेवर में यह आधुनिक मानव के जीवन को प्रतीकों के माध्यम से प्रस्तुत करते हैं। जिस प्रकार आधुनिक मानव के चारों ओर द्वंद्व, जटिल जीवन-शैली, भटकाव, द्वेष, कुटिलता, राजनीति और अस्तित्व की खोज जैसे सवाल खड़े हैं, उसी प्रकार दोनों ही नाटकों के कथानक में भी बाह्य और आंतरिक जटिलताओं से घिरे नाट्य-चरित्रों को देखा जा सकता है। 'आषाढ़ का एक दिन' का कालिदास आधुनिक मानव और एक रचनाकार का प्रतीकात्मक चरित्र है। जो अपनी अस्मिता निर्माण के लिए भटकता ही रहता है। द्वंद्व में फंसा जीवन में किसी एक पक्ष में निर्णय ही नहीं ले पाता है। अपनी जड़ अर्थात् अपनी भूमि अपने जनों से दूर होकर जिस प्रकार न जाने कितने आधुनिक मानव अपने जीवन में अपनी अस्मिता की खोज में

संघर्षरत हैं उसी प्रकार 'आषाढ़ का एक दिन' का कालिदास अपने परिवेश और अपनी परिस्थितियों में संघर्षरत है। नाट्य-कथानक मूलतः कालिदास और उसकी प्रेमिका मल्लिका के इर्द-गिर्द ही घूमता रहता है। बाह्य दृष्टि से नाटक को देखें तो ऐसा प्रतीत होता है जैसे यह नाट्य-कथा कालिदास और मल्लिका के प्रेम की कथा हो जिसमें मल्लिका को अपना सर्वस्व त्याग कर भी उसे उसका प्रेम नहीं मिलता और कालिदास जीवन में सभी सुखों को पाकर भी अंततः सुखी नहीं हो पाता। नाट्य-कथानक का समापन भी सुखांत नहीं है, किन्तु नाटक के इस पौराणिक परंपरागत कलेवर में भी कथानक आधुनिक मानव के जीवन संघर्ष को ही अप्रत्यक्ष रूप से चित्रित करता है। जैसे- कालिदास का नाटक के प्रारंभ से अंत तक, द्वंद्व में अपनी अस्मिता की तलाश में भटकते रहना। कालिदास का घर वापसी न होता देख निराश-हताश मल्लिका का विलोम से विवाह कर लेना आदि नाट्य-कथासूत्र आधुनिक जीवन के ही प्रतीत होते हैं। जिस प्रकार आज की तमाम आधुनिक स्त्रियाँ अपने टूटे संबंधों को ढोना नहीं, उसे छोड़कर आगे बढ़ जाना उचित समझती हैं, उसी प्रकार मल्लिका का आधुनिक चरित्र नाट्य-कथानक में देखा जा सकता है।

'आठवां सर्ग' के कथानक की बात करें तो यह नाटक भी अपने मिथकीय पौराणिक परम्परगत स्वरूप में आधुनिक जीवन की कथा को ही प्रस्तुत करता है। कथानक ऐतिहासिक पुरुष कवि कालिदास, उसकी रचना, रचना पर उठने वाले अश्लीलता तथा श्लीलता जैसे प्रश्न और उस पर लगाए गए प्रतिबंध जैसे कई प्रसंगों के इर्द-गिर्द घूमता है। नाट्य कथानक को पढ़ते हुए या इसका मंचन देखते हुए स्वतः ही पाठक या दर्शक को यह अनुभव होता है कि यह कथा सिर्फ एक कवि के रूप में कालिदास की नहीं कही जा रही है, बल्कि कथानक में वर्षों से आज आधुनिक युग तक संघर्षरत एक रचनाकर के संघर्ष की कथा कही जा रही है। संघर्ष उस सत्ता के विरुद्ध जिसे रचनाकर्म और उससे जुड़ी तमाम बातों का अल्पज्ञान होता है। जिसके परिणाम स्वरूप रचनाकर और उसकी रचना का सही मूल्यांकन किये बिना उस पर प्रतिबंध लगा देते हैं। ऐसे में या तो एक रचनाकार को अपने रचनाधर्म के प्रति आँख मूंदनी पड़ती हैं और सत्ता के अनुसार अपने रचनाकर्म को आगे

बढ़ाना पड़ता है या कालिदास के समान अपने रचनाकर्म के प्रति पूरी ईमानदारी और निष्ठा रखते हुए रचना पर प्रतिबंध तो स्वीकार करता है, लेकिन रचना में किसी भी प्रकार का दोष नहीं आने देता है। इतिहास इस बात का साक्षी है कि सत्ता के विरुद्ध लिखी गई रचनाओं पर प्रतिबन्ध लगते रहे हैं और कई बार तो एक रचनाकार को सत्ता के विरुद्ध जाकर रचना करने की कीमत उन्हें अपनी जान देकर भी चुकानी पड़ी है। ऐसे में सुरेन्द्र वर्मा का 'आठवां सर्ग' नाटक का कथानक भी मिथकीय पौराणिक परंपरागत कथा शैली में होते हुए भी आधुनिक मानव और एक रचनाकर के संघर्ष को प्रस्तुत करने में सफल है।

लेकिन दोनों ही नाटककारों के नाटकों के संबंध में जो एक विशेष बात कही जा सकती है वह यह है कि इनके नाटकों में कथानक से अधिक महत्त्वपूर्ण इनके पात्र-चरित्र हैं। जो सम्पूर्ण नाटक को अपने लक्ष्य तक पहुँचाने में एक अहम् भूमिका निभाते हैं। आशीष त्रिपाठी द्वारा संपादित पुस्तक 'कृति मूल्यांकन : आषाढ़ का एक दिन' में सुकृति मिश्रा अपने लेख में लिखती हैं, "मोहन राकेश के नाटकों की एक प्रमुख विशेषता यह है कि उनके नाटक घटना प्रधान न होकर चरित्र प्रधान होते हैं। आषाढ़ का एक दिन भी ऐसा ही नाटक है, जिसमें घटना या कथानक बहुत विशेष नहीं है। यह नाटक अपने चरित्रों और उनके संवादों के कारण उत्कृष्टता को प्राप्त करता है।"[3]

सुरेन्द्र वर्मा मोहन राकेश की नाट्य-परिपाटी को आगे बढ़ाने वाले नाटककार के रूप में भी जाने जाते हैं क्योंकि मोहन राकेश के नाटकों में परंपरा और आधुनिकता का जो आग्रह देखा जा सकता है, वही नाट्य-स्वरूप सुरेन्द्र वर्मा के नाटकों में भी देखा जा सकता है। इस क्रम में ऐतिहासिक पौराणिक परंपरागत आख्यान के माध्यम से आधुनिक जीवन की जटिलताओं को अपने नाटकों के माध्यम से प्रस्तुत करना ही दोनों नाटककारों का ध्येय है। इस बात की पुष्टि रमेश गौतम अपनी पुस्तक 'रंगानुभव के बहुरंग' में लिखते हुए कहते हैं, "समकालीन रचनाधर्मी मोहन राकेश और सुरेन्द्र वर्मा तो एक ही रचनाभूमि पर खड़े हैं, क्योंकि दोनों के द्वारा इतिहास मिथकीय पृष्ठभूमि में समकालीन जीवन की वैयक्तिक एवं सामाजिक उलझनों को द्वंद्व और तनावग्रस्तता के साथ अन्वेषित करने का प्रयास हुआ

है। दोनों ही रचनाधर्मी आधुनिक जीवन-संघर्षों एवं संदर्भों को मिथकीय इतिहास के आश्रय द्वारा उकेरने का प्रयास करते लगते हैं। सुरेन्द्र वर्मा के नाटकों में इतिहास तथा पौराणिक सन्दर्भ उसी रूप में आये हैं जिस रूप में मोहन राकेश के नाटकों 'आषाढ़ का एक दिन' तथा 'लहरों के राजहंस' में। इस रूप में हिंदी नाट्य-परंपरा में सुरेन्द्र वर्मा, मोहन राकेश की अगली कड़ी कहे जा सकते हैं। जो उनकी परंपरा के संवाहक हैं।"[4]

मोहन राकेश का नाटक 'आषाढ़ का एक दिन' और सुरेन्द्र वर्मा का नाटक 'आठवां सर्ग' का मुख्य पुरुष पात्र कालिदास है। एक ऐसा ऐतिहासिक भारतीय परंपरा से जुड़ा हुआ पात्र जिसकी शिक्षा-दीक्षा के सन्दर्भ में, परवर्ती जीवन के सन्दर्भ में तमाम किंवदंतियां प्रचलित हैं। इसके बाद भी जिसकी प्रतिष्ठा एक संस्कृत के महाकवि के रूप में स्थापित है। मोहन राकेश और सुरेन्द्र वर्मा के कालिदास की बात करें तो दोनों ने यूँ तो आधुनिक मानव और एक संघर्षरत रचनाकार के रूप में कालिदास को चित्रित किया है। 'आषाढ़ का एक दिन' के कालिदास को मोहन राकेश ने एक श्रेष्ठ कवि के रूप में तो चित्रित किया है, किन्तु द्वंद्वों में घिरा हुआ एक दुर्बल इंसान के रूप में भी प्रस्तुत किया है। जिसके लिए कई विद्वानों ने मोहन राकेश के यह कहने के बाद कि उनके लिए कालिदास एक व्यक्ति नहीं बल्कि हमारी सृजनात्मक शक्तियों का प्रतीक है, उनके इस कालिदास के चरित्र की आलोचना की है, "सबसे बड़ा आक्षेप कालिदास के संशययुक्त, आत्मकेंद्रित, दुर्बल व्यक्तित्व को लेकर किया जाता है। यह सही है कि कालिदास के संबंध में प्रामाणिक तथ्य बहुत कम उपलब्ध हैं। ऐसी स्थिति में विशाल एंव विराट साहित्य की रचना करने वाले महाकवि को मन से इतना दुर्बल और रीढविहीन दिखलाने की क्या आवश्यकता थी ?"[5] लेकिन मोहन राकेश कालिदास के चरित्र को संभवतः दो अर्थो में चित्रित करते हैं। प्रथम तो वह एक बनते हुए कवि के संघर्ष और सफलता के शिखर पर पहुँच जाने के पश्चात् द्वंद्व में घिरा एक कवि के खोने और पाने की नाट्य-रूप प्रस्तुति करते हैं। दूसरा आधुनिक मानव के अंतर्द्वंद्व, जटिलता और विवशता को प्रस्तुत करते हैं। गिरीश रस्तोगी ने भी अपनी पुस्तक 'हिंदी नाटक का आत्मसंघर्ष' में इस बात के सन्दर्भ में लिखती हैं, " 'आषाढ़ का एक

दिन' कवि कालिदास के जीवन से संबंधित नाटक है, लेकिन नाटक कालिदास के कवि रूप में प्रसिद्ध होने के बाद उतना नहीं है जितना एक बनते हुए कवि और प्रसिद्धि के चरम शिखर पर पहुँचने वाले कवि का है। लेकिन वस्तुतः यह आधुनिक मानव की विवशता, उसके अंतर्द्वंद्व का, उसकी जटिलता का नाटक है।"[6]

सुरेन्द्र वर्मा का नाटक 'आठवां सर्ग' के कालिदास की बात करें तो वह एक दृढ़ निश्चय रखने वाला एक साहित्यकार एक कवि है। जिसकी जीवन-दृष्टि स्पष्ट है। जो एक साहित्यकार के रूप में सत्ता से समझौता नहीं करता है। वह अपने कवि-कर्म से अंततः भटकता नहीं है। सुरेन्द्र वर्मा का कालिदास प्रतीक है, सदियों से उस रचनाकार का जो वचनबद्ध है अपने सच्चे रचनाकर्म के प्रति, जो सत्ताधारियों के अनुरूप रचना नहीं करता, जिससे उसको झूठी प्रतिष्ठा और जीवन के विभिन्न वैभव प्राप्त हो जाएँ। बल्कि साहित्य सृजन के माध्यम से समाज के प्रति अपने कर्तव्य को पूरी निष्ठा से पूरा करता है। जिससे भले सत्ता से वह सम्मान न प्राप्त हो, किन्तु समाज उसे उसकी श्रेष्ठ रचना के लिए जरूर एक दिन समाज में प्रतिष्ठित करता है। 'आठवां सर्ग' का कालिदास भी सत्ता के विरुद्ध ही अपने साहित्यिक व्यक्तित्व को स्थापित करता है। जिसके लिए उसे बहुत ही संघर्षरत रहना पड़ता है, "महाकवि कालिदास के 'कुमार संभव' के आठवें सर्ग को आधार बनाकर सुरेन्द्र वर्मा ने लेखकीय अभिव्यक्ति की मूल समस्या को उठाया है और इसलिए शासन, सत्ता और राज्याश्रय की महत्त्वपूर्ण समस्याओं को लेकर लेखकीय अभिव्यक्ति स्वातंत्र्य और शासन की टकराहट को प्रस्तुत किया है।"[7] मोहन राकेश का कालिदास सुरेन्द्र वर्मा के कालिदास के समान दृढ़ संकल्पित नहीं होता है। वह निर्णायक समय में एक कमजोर पात्र प्रतीत होता है। वह अपनी प्रेरणा स्वरूप जमीन और न अपनी प्रेमिका मल्लिका से ही जुड़कर रह पाया और पूरे नाटक में द्वंद्व में ही भटकता हुआ एक कमजोर पात्र साबित होता है। मोहन राकेश का कालिदास एक आधुनिक युगीन मानव है जो अपने व्यक्तित्व निर्माण में भटक रहा है। द्वंद्व में घिरा वह निर्णय लेने में असमर्थ है। दूसरी ओर वह ऐसा साहित्यकार भी है जो न व्यवस्था से जुड़कर रह पा रहा है, न उस सत्ता से समझौता करके आगे बढ़

पा रहा है। 'आषाढ़ का एक दिन' के कालिदास का यह द्वंद्व ही उसे एक कमजोर चरित्र के रूप में प्रस्तुत करता है। इस प्रकार देखें तो दोनों ही नाटककारों ने कालिदास के माध्यम से एक रचनाकार और उसके संघर्ष को प्रस्तुत किया है। गिरीश रस्तोगी ने 'आषाढ़ का एक दिन' और 'आठवां सर्ग' को एक रचनाकर के अस्मिता और व्यापक संघर्ष चेतना का काव्य नाटक कहकर संबोधित किया है। दोनों ही कालिदास पात्रों के चारों ओर राजकीय शासकीय कूटनीति है, पाखण्ड है, व्यंग्य है। जिसमें दोनों अपनी अस्मिता निर्माण के लिए संघर्षरत हैं। लेकिन उस संघर्ष में दोनों ही कालिदास को एक-दूसरे से भिन्न करते हैं, वह है उनका व्यक्तित्व और निर्णय लेने की क्षमता। दोनों के नाटकों के कुछ अंशों से भी इस बात को समझा जा सकता है। 'आषाढ़ का एक दिन' का कालिदास एक रचनाकार के रूप में अपनी अस्मिता निर्माण के दिनों में प्रारंभ से ही ठोस निर्णय लेने में अक्षम दिखता है। वह द्वंद्व में घिरा हुआ एक आधुनिक मानव का बोध करवाता है। नाटक के तीसरे अंक में जब वह अंततः लौटकर अपने प्रांत वापस आता है और मल्लिका के घर पहुँचता है, जहाँ वह मल्लिका के समक्ष अपना आत्मचिंतन करता है। नाटक के इस स्थल पर बोध होता है कि द्वंद्व में घिरा हुआ कालिदास किस प्रकार निर्णय लेने में एक कमजोर व्यक्तित्व का इंसान है। कालिदास मल्लिका से कहता है, "कालिदास: मैंने बहुत बार अपने संबंध में सोचा है मल्लिका और हर बार इस निष्कर्ष पर पहुँचा हूँ कि अम्बिका ठीक कहती थी। मैं यहाँ से क्यों नहीं जाना चाहता था ? एक कारण यह भी था कि मुझे अपने पर विश्वास नहीं था। मैं नहीं जानता था कि अभाव और भर्त्सना का जीवन व्यतीत करने के बाद प्रतिष्ठा और सम्मान के वातावरण में जाकर में कैसा अनुभव करूँगा। मन में कहीं यह आशंका थी कि वह वातावरण मुझे छा लेगा और मेरे जीवन की दिशा बदल देगा और यह आशंका निराधार नहीं थी। मैं अपने को आश्वासन देता कि आज नहीं तो कल मैं परिस्थितियों पर वश पा लूँगा और समान रूप से दोनों क्षेत्रों में अपने को बाँट दूंगा। परंतु मैं स्वयं ही परिस्थितियों के हाथों बनता और चालित होता रहा। जिस कल की मुझे प्रतीक्षा थी, वह कल कभी नहीं आया और मैं धीरे-धीरे खंडित होता गया और एक दिन मैंने पाया कि मैं सर्वथा टूट गया हूं।"[8]

वहीं 'आठवां सर्ग' के कालिदास की बात करें तो वह नाटक के प्रारम्भ से ही एक ऐसा व्यक्तित्व का इंसान है जिसने सत्ता के गलत नीति- निर्देशों के आगे झुकने से इनकार कर दिया। एक ऐसा रचनाकार जो अपने रचनाकर्म के प्रति पूर्ण निष्ठावान है। 'आठवां सर्ग' पर अश्लीलता का आरोप लगाकर जब उस पर प्रतिबंध लगा देने की बात कही जाती है, तब चन्द्रगुप्त कालिदास को यह सलाह देता है कि वह आठवें सर्ग के कथा में परिवर्तन कर दे, जिससे उसकी रचना पर प्रतिबंध हटा दिया जाए। किन्तु कालिदास यह दृढ़ निश्चय कर लेता है कि किसी भी परिस्थिति में वह अपनी रचना में परिवर्तन नहीं करेगा। कालिदास कहता है कि एक साहित्यकार होने के नाते उसका यह धर्म है कि वह अपनी रचना में किसी भी प्रकार का दोष न आने दे। अतः उसे अपनी रचना पर प्रतिबंध स्वीकार है, किन्तु दोषपूर्ण परिवर्तन नहीं। कालिदास नाटक के दूसरे अंक में एक स्थान पर चन्द्रगुप्त से इस संबंध में तर्क करते हुए कहता है, "कालिदास: यह कलंक भी छोटा नहीं, बहुत बड़ा होगा। रचनात्मक शैथिल्य का कलंक नहीं, अपमानित समझौते का कलंक और मुझे दुःख इस बात का है कि आप स्वयं ऐसा रास्ता सुझा सकते हैं, जिन्होंने कलाकारों को हर तरह की सुविधाएँ दी हैं, उनके अभिव्यक्ति-स्वातंत्र्य का समर्थन किया है। कुमारसम्भव को मैं अधूरा ही छोड़ दूंगा, आठवें सर्ग पर.. आगे नहीं लिखूंगा। इस रचना को एक प्रकार से भुला ही दूंगा। यह कभी मेरे घर से बाहर नहीं निकलेगी। किसी गोष्ठी में इसका पाठ नहीं होगा। किसी तक इसकी प्रतिलिपि नहीं पहुँचेगी। इतने से लोग संतुष्ट हो जाएंगे ? फिर तो किसी को आपत्ति नहीं होगी ? कई बार श्रम व्यर्थ भी तो हो जाता है। समझ लूँगा कि कुमार का जन्म संभव नहीं हुआ, गर्भ में ही उसकी हत्या हो गयी। तारक जीवित है, तो रहे। मुझे क्या ?"[9] इस प्रकार 'आठवां सर्ग' के कालिदास की दृष्टि रचनाकार के रूप में स्पष्ट है। चन्द्रगुप्त के कहने पर भी कालिदास अपनी रचना में परिवर्तन के सुझाव को स्वीकार नहीं करता है। इसके बावजूद कि सत्ता से जुड़कर रहने पर उसे लाभ और सत्ता से विपरीत कार्य करने पर हानि उठाने पड़ सकते हैं। इस रूप में 'आठवां सर्ग' का कालिदास दृढ़ चरित्र का है जो अपने साहित्यिक कर्त्तव्य के प्रति वचनबद्ध है। 'आषाढ़ का एक दिन' के कालिदास और 'आठवां सर्ग' का कालिदास

दोनों ही एक आधुनिक रचनाकार का ही प्रतीक हैं। दोनों के चरित्र में अंतर बस इतना है कि एक कालिदास रचनाकार के रूप में अस्मिता निर्माण और संघर्ष में आधुनिक मानव के भांति द्वंद्वों में घिरा हुआ। सत्ता से जुड़कर जीवन के सारे भौतिक सुखों को प्राप्तकर अपनी पहचान भी एक सफल रचनाकार के रूप में स्थापित कर लेता है। किन्तु आंतरिक रूप से उसका व्यक्तित्व अंत तक कहीं ठहराव नहीं प्राप्त करता है। आधुनिक मानव की भांति वह अपने व्यक्तित्व के निर्माण में यहाँ से वहाँ भटकता ही रहता है। दूसरी ओर सुरेन्द्र वर्मा के नाटक 'आठवां सर्ग' का कालिदास एक रचनाकार की अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता की रक्षा करता है। सत्ता द्वारा अपनी रचना पर प्रतिबंध स्वीकार करता है, किन्तु वह अपनी रचना को सत्ता के हाथों की कठपुतली नहीं बनने देता है। उसे पूर्ण विश्वास होता है कि एक न एक दिन उसकी रचना लोकजन में अपना सही स्थान और महत्त्व स्थापित कर लेगी। कालिदास कहता भी है, "कालिदास : जीवन के एक मोड़ पर सत्ता की सहायता की आवश्यकता थी... अब नहीं है। .. अब ? अगर शासन मेरी रचना पर यहाँ रोक लगायेगा, तो वह दूसरे राज्य में सप्तम सुर में सुनी जायेगी।"[10]

इस प्रकार दोनों ही नाटकों के कालिदास के सन्दर्भ में यह कहा जा सकता है कि दोनों ही आधुनिक मानव के प्रतीकात्मक चरित्र हैं। दोनों में अन्तर यह है कि 'आषाढ़ का एक दिन' का कालिदास आधुनिककाल के उस मानव या रचनाकार का प्रतीकात्मक चरित्र है, जो द्वंद्वों में घिरा अपनी अस्मिता निर्माण हेतु भटका हुआ है। जीवन के उन पलों में निर्णय लेने में एक कमजोर पात्र-चरित्र है, जो पल उसके जीवन दिशा को बदल कर रख देता है। अतः कहें तो नाटक में कालिदास के व्यक्तित्व का यह कमजोर पक्ष है। जो प्रतीक है उस आधुनिक मनुष्यों का जिसका बाह्य जीवन तो सुखी संपन्न प्रतीत होता है, किन्तु अक्सर द्वंद्वों में घिरा वह व्यक्ति खुद में निर्बल असहाय महसूस करता है। टूटा हुआ थका हुआ 'आषाढ़ का एक दिन' के कालिदास के समान प्रतीत होता है। वहीं 'आठवां सर्ग' का कालिदास आधुनिक समकालीन समय का वह प्रतीकात्मक रचनाकार है, जो एक रचनाकार के अभिव्यक्ति की आज़ादी की रक्षा करता है। सत्ताधारियों के विरुद्ध अपने रचनाधर्म

को पूरी निष्ठा और ईमानदारी से निभाता है। इस उम्मीद से कि सत्ता द्वारा एक समय में उसे और उसकी रचना को वह सम्मान और प्रतिष्ठा भले न मिल पाये, किन्तु समाज एक दिन उसकी रचना का सही मूल्यांकन कर उसे वह सम्मान और प्रतिष्ठा अवश्य देगा, जिसका वह हकदार है। अतः 'आठवां सर्ग' का कालिदास एक दृढ़ संकल्पि चरित्र का रचनाकार है जो रचना और अभिव्यक्ति की आज़ादी की रक्षा हर कीमत पर करने को संकल्पित है। इस प्रकार दोनों ही नाटकों का कालिदास आधुनिक युग का प्रतीकात्मक चरित्र है जो आधुनिक मनुष्य के दो अलग-अलग पक्षों और व्यक्तित्व को चित्रित करता है।

5.2 'आषाढ़ का एक दिन' और 'सेतुबंध'

कालिदास के जीवन से संबंधित सुरेन्द्र वर्मा की जो एक और रचना है वह है 'सेतुबंध'। किन्तु सुरेन्द्र वर्मा के इस नाटक में कालिदास प्रत्यक्ष रूप से कहीं भी उपस्थित नहीं रहे हैं। कालिदास चन्द्रगुप्त की पुत्री प्रभावती का प्रेमी था, लेकिन चन्द्रगुप्त अपनी राजनैतिक आकांक्षाओं के आगे अपनी पुत्री प्रभावती और कालिदास के प्रेम की बलि चढ़ा देता है और प्रभावती का विवाह वाकाटक राजकुमार रुद्रसेन के साथ कर देता है। कालिदास इस नाटक में अप्रत्यक्ष रूप से कहानी के विकास में सहायक बनकर रह जाता है। सुरेन्द्र वर्मा का कालिदास जैसे लोकप्रसिद्ध महाकवि का नाटक में प्रत्यक्ष रूप से चरित्र प्रस्तुत न करना एक बार मन में प्रश्न उत्पन्न करता है किन्तु नाटककार का उद्देश्य यहाँ कालिदास की कथा प्रस्तुत करना नहीं है, बल्कि प्रभावती और रुद्रसेन के पुत्र प्रवरसेन की पीड़ादायक मनःस्थिति और उससे अपने मन में उठने वाले अपनी अस्मिता से संबंधित प्रश्नों का उत्तर ढूंढना है, "प्रस्तुत नाटक में अस्मिता के संकटबोध को व्यापक फलक पर कथा की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि के माध्यम से व्यक्त किया गया है। रुद्रसेन और प्रभावती के विवशतावश बने संबंधों से उत्पन्न प्रवरसेन की मनःस्थिति बहुत ही त्रासद और पीड़ादायक है।"[11] दरअसल यह नाटक भी प्रवरसेन के माध्यम से आधुनिक मानव के द्वंद्व, पीड़ा और अपनी अस्मिता पर उठने वाले अपने ही मन के प्रश्नों को ढूंढने से जुड़ा हुआ है। समकालीन समाज में हर एक व्यक्ति अपने स्वतंत्र अस्तित्व

और अस्मिता का निर्माण करना चाहता है। किन्तु जब किसी को यह बोध हो कि उसकी पहचान उसकी न होकर किसी और के कारण हो तो उसके व्यक्तित्व को ठेस अवश्य ही पहुँचती है। आज का आधुनिक मनुष्य अपनी ज़िंदगी को अपनी दृष्टि से देखता है, उसका मूल्यांकन करता है और अपने लिए राह खुद ढूँढना चाहता है। मिथकीय पौराणिक कथा के माध्यम से आधुनिक मनुष्य की इस अकुलाहट को चित्रित करना ही इस नाटक का मुख्य उद्देश्य है।

कालिदास से संबंधित मोहन राकेश का नाटक 'आषाढ़ का एक दिन' और सुरेन्द्र वर्मा कृत 'सेतुबंध' और 'आठवां सर्ग' नाटक में अन्य कई ऐसे पुरुष और स्त्री पात्र हैं, जिनमें आधुनिक मानव का चरित्र दिखता है। साथ ही उनके चरित्र में परंपरा के तत्व भी दिखते हैं। सर्वप्रथम दोनों ही नाटकों के अन्य पुरुष पात्रों के चरित्रों का मूल्यांकन और तुलना करें तो 'आषाढ़ का एक दिन' का 'विलोम' जिसका चरित्र-चित्रण एक खल यानी नकारात्मक छवि वाले एक व्यक्ति के रूप में हुआ है। जो कालिदास और मल्लिका की ज़िंदगी में बिन बुलाए हर बार आ जाता है। जिससे उनकी दुःख या समस्याओं का निवारण नहीं होता, बल्कि वह और भी उन्हें अपने शब्दों से विचलित कर देता है। 'विलोम' आधुनिक मनुष्य का वह प्रतीक पात्र-चरित्र है जो अक्सर बिन बुलाए लोगों के बीच आ जाता है और अपने हाव-भाव और वाक्-पटुता से अपना प्रभाव लोगों के बीच स्थापित करना चाहता है। वह अपने उद्देश्य को लेकर काफी हद तक स्पष्ट होता है। वह अपने जीवन में संवेदना को अधिक महत्त्व नहीं देता है और आज के आधुनिक मानव के समान बहुत ही व्यावहारिक होता है, "विलोम की दृष्टि अधिक व्यावहारिक है, भावनाएँ उसे प्रभावित नहीं करतीं, लेकिन व्यावहारिक जीवन में वह बड़ा चतुर है और बड़ा संयमित भी है। कालिदास से बराबर टकराने वाला और अपने 'अनाधिकार प्रवेश को हमेशा सही सिद्ध करने वाला है। कालिदास अन्तर्मुखी है, अपने ही द्वंद्व से पीड़ित और भावनाओं से उद्वेलित। विलोम समय की रग को पकड़कर बड़ी कुशलता से अपने अस्तित्व को बनाये रखने वाला व्यक्ति है। कालिदास, मल्लिका, अम्बिका जब-जब भावना और द्वंद्व की चरम सीमा पर हैं तब वह उन्हें छेड़ता है, अपनी उपस्थिति का पूरा एहसास कराता है और

अवसर का पूरा फायदा उठाता है- यही आज की व्यावहारिक और यथार्थ दृष्टि है।"[12] सुरेन्द्र वर्मा के नाटक 'सेतुबंध' का चन्द्रगुप्त और 'आठवां सर्ग' का पात्र 'चन्द्रगुप्त' का चरित्र भी विलोम के समान व्यावहारिक है। भावनाओं को ये दोनों भी विशेष महत्त्व नहीं देते हैं। 'सेतुबंध' के चन्द्रगुप्त की बात करें तो वह अपने सत्ता विस्तार और सत्तामद में कालिदास और प्रभावती के प्रेम की बलि चढ़ा देता है और वाकाटक राजकुमार रुद्रसेन से प्रभावती का विवाह उसकी इच्छा के विरुद्ध करवा देता है, "ब्याह से दोहरे उद्देश्य पूरे होंगे-वाकाटक गुप्त सम्राट के प्रभाव क्षेत्र में आ जाएँगे और शक उनके अधिकार क्षेत्र में ..मालवा, गुजरात और सौराष्ट्र की बहुत उपजाऊ भूमि के हाथ में आ जाने से एक ओर तो शासन की समृद्धि बढ़ेंगी और दूसरी ओर साम्राज्य की सीमाएँ बंगाल की खाड़ी से अरब सागर तक निषेध फैल जाएगी।"[13] इस प्रकार देखें तो चन्द्रगुप्त आधुनिक शासक का ही प्रतिनिधि पात्र चरित्र है, जो अपने राजनैति फायदे के लिए अपनी पुत्री प्रभावती की ख़ुशी की बलि भी चढ़ा देता है। आज जिस प्रकार जनता सत्ता के हाथों की कठपुतली बन चुकी है, जिस प्रकार जनता के सुख-दुख से सत्ता पक्ष को विशेष लगाव नहीं होता है, वैसे ही चन्द्रगुप्त भी अपनी पुत्री की ख़ुशी से अधिक अपनी राजनैतिक आकांक्षाओं को ही महत्त्व देता है। अतः यहाँ यह कहा जा सकता है कि 'सेतुबंध' का चन्द्रगुप्त आधुनिक सत्ताधारियों का ही प्रतीक पात्र है। जिसको अपनी जनता से अधिक अपनी सत्ता और सत्ता-विस्तार की पड़ी होती है। दूसरी ओर 'आठवां सर्ग' के 'चन्द्रगुप्त' की बात करें तो उसका चरित्र 'आषाढ़ का एक दिन' के 'विलोम' और 'सेतुबंध' के 'चन्द्रगुप्त के समान ही प्रतीक है, उस आधुनिक मानव का या उस शासक का जिसके पास पद तो जरूर होता है या उसे सही गलत का बोध तो जरूर होता है, लेकिन वह एक निर्णायक के किरदार में न होकर मात्र न्यायधीश के पात्र में होता है, जिसे बस आदेश सुना देना है। सत्ता की दशा और दिशा कोई और तय करता है। वह एक शासक के रूप में अपने राज्य के लेखकों और कलाकारों को प्रोत्साहित करता है, लेकिन जब बात आती है उस शासकीय व्यवस्था की तब वह राज्य की धार्मिक व्यवस्था के आगे लाचार हो जाता है और कालिदास से 'आठवां सर्ग' में परिवर्तन करने

को कहता है जिसके बाद ही रचना पर लगा हुआ प्रतिबंध हटाया जा सकता है। चन्द्रगुप्त कालिदास से कहता है, "पर आज जो स्थिति है, उसमें मैं कुछ नहीं कर सकता। मैं बिल्कुल असहाय हूँ, मेरे हाथ बंधे हुए हैं, क्योंकि आरोप लगाने वालों के शरीर पर धर्म का अभेद कवच है।"[14] इस प्रकार आठवां सर्ग' का 'चन्द्रगुप्त' एक शासक या आधुनिक मनुष्य का वह प्रतीक पात्र चरित्र है, जो रूढ़िगत परंपरा के हाथों एक कठपुतली बनकर रह जाता है। सत्ता,परिवार या किसी संस्थान के शीर्ष पद पर आसीन रहते हुए भी वह एक ठोस निर्णय लेने में लाचार होता है।

'आषाढ़ का एक दिन' का पात्र 'मातुल' कालिदास का मामा है। वह भी आज के आधुनिक मनुष्य का ऐसा प्रतीकात्मक चरित्र है, जिसके लिए रिश्ते से बढ़कर सांसारिक भौतिक सुख या लाभ हैं। प्रारंभ में वह कालिदास के राजकवि के पद प्रस्ताव को न स्वीकार करने पर नाराज़ होता है। वह खीजता है। वह कालिदास के काव्य कर्म को बिना राज्याश्रय के अधूरा मूल्यहीन मानता है। तभी तो मातुल कहता है, "सम्मान मिलता है, ग्रहण करो। नहीं तो कविता का मूल्य ही क्या है ?"[15] मातुल का चरित्र 'सेतुबंध' के चन्द्रगुप्त से भी समानता रखता है, क्योंकि मातुल के समान चन्द्रगुप्त अपनी पुत्री प्रभावती के प्रति निष्ठुर है। चन्द्रगुप्त प्रभावती से कालिदास को त्याग देने को कहता है, क्योंकि वह अपनी राजनैतिक आकांक्षाओं के आगे प्रभावती और कालिदास के प्रेम को बहुत अधिक महत्त्व नहीं देता है। किन्तु जब वह अपने निर्णय के प्रति दृढ़ रहती है तब चन्द्रगुप्त अपनी पुत्री से भी राजनीतिक भाषा में ही संवाद करता है। वह कहता है, "क्या प्रभावती यह चाहेगी कि एक नवोदित कवि, जिसमें विलक्षण प्रतिभा है, जिसका यश और जिसकी कीर्ति दिगदिगंतर में गूंज सकती है, कारागार की किसी अंधेरी कोठरी में एड़ियाँ रगड़-रगड़कर मरे ?"[16] जिसके बाद प्रभावती टूट जाती है और अपने प्रेम की रक्षा हेतु रुद्रसेन से विवाह करना स्वीकार कर लेती है। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि 'आषाढ़ का एक दिन' का मातुल और 'सेतुबंध' का 'चन्द्रगुप्त' दोनों ही आधुनिक परिवार के वह ऐसे प्रतीकात्मक पात्र चरित्र हैं, जिनके लिए रिश्तों का महत्त्व किसी रिश्ते में होने वाले प्राप्त लाभ तक सीमित है।

मोहन राकेश और सुरेन्द्र वर्मा के नाटकों में कालिदास के जीवन से जुड़े नाटक 'आषाढ़ का एक दिन', 'सेतुबंध' और 'आठवां सर्ग' में स्त्री पात्रों की बात करें तो इनके चरित्रों में भी परंपरागत और आधुनिक लक्षण दोनों ही दिखते हैं। जैसे मल्लिका के चरित्र की तुलना 'सेतुबंध' नाटक की प्रभावती से करें तो हम देखते हैं कि दोनों ही पात्रों के चरित्र में परंपरागत और आधुनिक तत्व विद्यमान हैं। जैसे मल्लिका अपने प्रेमी कालिदास को स्वयं राजकवि बनने भेज देती है। जिससे उसके चरित्र में एक त्याग करने वाली परंपरागत नारी का स्वरूप दिखता है। कालिदास को राजकवि के लिए भेजकर खुद की खुशियों की तिलांजलि देना मल्लिका के चरित्र को और भी श्रेष्ठ बनाता है, "भावना में जीने वाली मल्लिका कालिदास के साथ अपने प्रेम-संबंध को सब संबंधों से बड़ा मानती है। इसीलिए जब उसे राजकवि का सम्मान मिलता है तो वह उसे उज्जयिनी जाने के लिए प्रेरित करती है- रेखा की तरह घेरने की बजाय वह उसे विस्तृत क्षितिज के द्वारा उन्मुक्त कर देती है। वह अभाव झेलती है- वीरांगना जैसे अस्तित्व भोगती है, किन्तु उसका आस्था-भाव बना रहता है।"[17] इस प्रकार मल्लिका के चरित्र में एक भारतीय परंपरागत नारी की छवि देखी जा सकती है। जिसके लिए प्रेम निजी सुखों को पाना नहीं है, बल्कि अपनों के लिए खुद के सुखों का त्याग करना है। भारत में स्त्रियाँ त्याग और समर्पण के लिए सदा से जानी गई हैं। मल्लिका भी प्रतीक है उस भारतीय नारी की जो प्रेम में त्याग करती है। आज के आधुनिक काल में जहाँ प्रेम का अर्थ बदलता जा रहा है। ऐसे में मल्लिका के चरित्र का यह एक पक्ष जिसमें अपने सुखों का त्याग कर देती है वह आधुनिक मनुष्यों के लिए आदर्श स्थापित करती है। मल्लिका के चरित्र की तुलना प्रभावती से करें तो प्रभावती के चरित्र में भी एक परंपरावादी और आधुनिक स्त्री की छवि देखी जा सकती है। प्रभावती भी अपने प्रेमी कालिदास के जीवन और रचनाकार के रूप में उसके अस्तित्व की रक्षा हेतु पिता चन्द्रगुप्त की धमकी के आगे अपने प्रेम का त्याग कर देती है। जिसके पश्चात् वाकाटक राजकुमार रुद्रसेन से विवाह के प्रस्ताव को स्वीकार कर लेती है, "प्रभावती: क्योंकि उसके अलावा और कोई चारा नहीं था। जब हामी भरी थी, तभी अपने भावी जीवन की रूपरेखा जैसे मानचित्र की तरह सामने खिंच

गयी थी। मन को तरह-तरह से समझा लिया था कि यह एक राजनैतिक ब्याह है, इसका भावात्मक मूल्यांकन कभी नहीं करना। क्योंकि संबंध किसका होना था ? सम्राट की पुत्री का। मैं, प्रभावती उसमें कहीं नहीं थी। सजल नैनों पर दुकूल रखे प्रभावती उज्जयिनी के राजप्रासाद में ही छूट गयी।"[18] इस प्रकार यहाँ कहा जा सकता है कि मल्लिका और प्रभावती दोनों ही के चरित्र में परंपरावादी स्त्री की छवि देखी जा सकती है। दोनों का प्रेमी नायक कालिदास है और अपने प्रेम के सुनहरे भविष्य के लिए दोनों ही अपनी-अपनी खुशियों का त्याग करती हैं। मल्लिका एवं प्रभावती के अतिरिक्त सुरेन्द्र वर्मा के नाटक 'आठवां सर्ग' की एक और स्त्री पात्र है जिसके चरित्र में परंपरावादी भारतीय स्त्री की छवि देखी जा सकती है। वह है 'आठवां सर्ग' के 'कालिदास' की पत्नी 'प्रियंगुमंजरी'। किन्तु प्रियंगुमंजरी के चरित्र में जो परंपरावादी स्त्री की छवि दिखती है वह मल्लिका और प्रभावती से भिन्न मायने में है। प्रियंगु का चरित्र पूर्णतः एक भारतीय परंपरागत स्त्री का है। जिसमें एक लोक-लाज है। वह कालिदास के साथ अपने वैवाहिक जीवन को एक परंपरागत भारतीय दाम्पत्य के समान बिल्कुल शयनागार के अन्दर ही रखना चाहती है। जबकि कालिदास एक रचनाकर के रूप में अपने वैवाहिक जीवन के निजी अनुभवों को भी अपनी रचना 'कुमारसंभव' के 'आठवां सर्ग' में शिव-पार्वती के प्रणय वर्णन में करते हैं। इन वर्णनों से प्रियंगु पूर्णतः लजाती रहती है और सभा में 'आठवां सर्ग' के पाठ के अवसर में सम्मिलित नहीं होना चाहती है। सभा में पाठ न सुनने जाने के पीछे प्रियंगुमंजरी जो तर्क देती है, उससे ज्ञात होता है कि प्रियंगुमंजरी में एक परंपरावादी भारतीय स्त्री का रूप है। वह कालिदास को तर्क देते हुए कहती है, "तुम सर्ग-पाठ प्रारंभ करोगे और लोगों के सामने नवदंपत्ति के अन्तरंग जीवन की परते खुलने लगेंगी। मैं वहीं बैठी रहूंगी, चुपचाप, सर झुकाए..पलक उठाकर किसी की ओर देख नहीं सकूंगी और हर पल, हर क्षण कचोटती रहेंगी यह बात कि तमाम आँखें मेरे ही ऊपर लगी हुई हैं। मुझको ही देखते हुए अनेक अधरों पर सूक्ष्म मुस्कान आ गई है और मुझे ही लेकर अनेक दृष्टियों में गोपनीय संकेतों का आदान-प्रदान हुआ है। हर श्लोक के बाद मैं अपने आप में ही सिमटती जाऊँगी, हर श्लोक के बाद मेरे माथे पर स्वेद-बिंदु उभरते नजर आएँगे, हर श्लोक के

बाद मेरा हृदय- स्पंदन बढ़ता जाएगा... और जब तुम 'इति उमासूरतवर्णन नामाष्टमः सर्ग:' कहकर अंतिम पृष्ठ नीचे रखोगे, तो मेरी यह दशा होगी कि बस, धरती फटे और मैं उसमें समा जाऊँ"[19] इस प्रकार प्रियंगुमंजरी की बातों से यह अर्थ बोध होता है कि उसमें एक परंपरागत भारतीय स्त्री है जो अपने निजी वैवाहिक जीवन के अनुभवों को शयनागार तक ही रखना चाहती है। इस तरह की परंपरागत वैवाहिक जीवन दृष्टि आज भी आधुनिक भारतीय स्त्रियाँ रखती हैं ऐसा कहना गलत नहीं होगा। अतः यह कहा जा सकता है कि 'आठवां सर्ग' में कालिदास की पत्नी प्रियंगुमंजरी एक परंपरावादी स्त्री है।

'आषाढ़ का एक दिन' में मल्लिका के चरित्र में परंपरावादी स्त्री होने के साथ-साथ एक आधुनिक नारी का रूप भी देखने को मिलता है। मोहन राकेश के इस नाटक में मल्लिका के अतिरिक्त मल्लिका की माता अम्बिका के चरित्र में भी आधुनिक स्त्री की छवि देखने को मिलती है। नाटक में वर्षों मल्लिका कालिदास की प्रतीक्षा करने के बाद वह अपनी जड़तों हालातों से आधुनिक स्त्री के समान समझौता कर लेती है और नाटक के खल पात्र विलोम जिसकी वह कभी भी अपने भावी पति के रूप में कल्पना नहीं करती है, उससे अंततःविवाह कर लेती है। कालिदास के प्रति त्याग और प्रेम भावना रखते हुए भी मल्लिका कालिदास के इंतज़ार में खुद को होम नहीं कर लेती है, बल्कि जिस प्रकार आज की आधुनिक स्त्रियाँ प्रेम के असफल हो जाने पर उस रिश्ते को लेकर जड़ नहीं होती, बल्कि एक नया रिश्ता, अपने जीने की नई उम्मीद तलाश लेती हैं। उसी प्रकार मल्लिका अंततः कालिदास से निराश होकर अपनी आगे की ज़िंदगी की डोर विलोम के साथ जोड़ लेती है। इस सन्दर्भ में आभा गुप्ता ठाकुर अपने एक लेख 'स्त्री परिप्रेक्ष्य में' जो आशीष त्रिपाठी द्वारा संपादित पुस्तक 'कृति मूल्यांकन: आषाढ़ का एक दिन' में लिखती हैं, "तुम जीवन से तटस्थ हो सकते हो, परंतु मैं तो अब तटस्थ नहीं हो सकती। जो भाव तुम थे, वह दूसरा नहीं हो सका, परंतु अभाव के कोष्ठ में किसी दूसरे की जाने कितनी-कितनी आकृतियाँ हैं। जानते हो मैंने अपना नाम खोकर एक विशेषण अर्जित किया है और मैं अपनी दृष्टि में नाम नहीं, केवल विशेषण हूँ.....अपना सर्वस्व समर्पण

करने वाली मल्लिका का उपर्युक्त वक्तव्य उसके अस्मिताबोध की भावना को पूरी तरह उजागर कर देता है। अपना सब कुछ खो चुकने एवं अत्यंत दारिद्रय स्थिति में जीते हुए भी वह सत्ता के बोध से वंचित होना नहीं चाहती है। यही वह बिंदु है जहाँ मल्लिका परंपरागत भारतीय नारी के समर्पणमूलक स्वरूप को प्रस्तुत करते हुए भी अस्मिताबोध की प्रखर चेतना के कारण आधुनिकता के रंग में भी सराबोर हो उठती है।"[20] मल्लिका के इस आधुनिक चरित्र की तुलना 'सेतुबंध' नाटक की प्रभावती से करें तो प्रभावती के चरित्र में भी मल्लिका के समान परंपरागत संस्कार और आधुनिकताबोध का सामंजस्य देखने को मिलता है। जिस प्रकार वह अपने प्रेमी कालिदास के जीवन की रक्षा हेतु रुद्रसेन से विवाह तो कर लेती है, लेकिन वर्षों रुद्रसेन की पत्नी और प्रवरसेन की माँ बनकर भी खुद की भावना को कुँवारी बताती है। इससे प्रभावती के परंपरागत संस्कार झलकते हैं। लेकिन प्रभावती से पुत्र प्रवरसेन द्वारा कालिदास और उसके विवाहपूर्व प्रेम सन्दर्भ में सवाल पूछने पर प्रभावती का बिना किसी संकोच के उत्तर देना, उसके चरित्र में आधुनिकता को दर्शाता है। प्रभावती प्रवरसेन से कहती है, "प्रभावती 'सेतुबंध' नाटक की आधुनिक स्त्री है। वह सच्चाई का वरन करती है, प्रभावती की सोच उस बिंदु पर सर्वथा आधुनिक हो जाती है जहाँ वह अपने पुत्र के समक्ष न केवल अपना आत्मवरण ही स्वीकार करती है, प्रत्युत उसकी प्रतिक्रियाओं पर प्रश्न करती है,

"माँ हूँ, लेकिन स्त्री भी तो हूँ। क्योंकि मां हूँ, इसलिए स्त्री होने का अधिकार.. नहीं ...कौन समझेगा कि मेरी भावना आज तक कुमारी है... मैं मां बनी हूँ, लेकिन पत्नी नहीं। परंपरागत शब्दों को छोड़ दो। क्या कोई स्थिति ऐसी नहीं हो सकती, जिसमें परपुरुष पति बन जाए और पति परपुरुष। प्रभावती का ये कथन परंपरागत भारतीय नारी की दृष्टि से मान्य नहीं हो सकता, लेकिन परिवर्तित नैतिकता के दृष्टिकोण से आधुनिकता-बोध के धरातल पर एक कड़वा सत्य है और इसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता है।"[21] इस प्रकार दोनों ही पात्र मल्लिका और प्रभावती के चरित्र में परंपरागत संस्कार भी मिलते हैं और आधुनिकता-बोध भी। दोनों ही अपने प्रेमी कालिदास के सुनहरे भविष्य के लिए अपनी खुशियों की तिलांजलि दे देती हैं। लेकिन फिर भी अपने अन्दर प्रेम के उस दीप को बुझने

नहीं देती हैं। दोनों के चरित्र का यह पक्ष ही उन्हें परंपरागत छवि में प्रस्तुत करता है और जीवन में प्रेमपथ पर निराशा मिलने पर भी जीवन को एक नई दृष्टि से देखना, जिसमें चाहे मल्लिका का विलोम से शादी कर घर बसाना हो या प्रभावती का अपने पुत्र द्वारा पूछे गए सवालों का बेहिचक जवाब देना। ये विभिन्न पक्ष ही दोनों के चरित्र में परंपरा और आधुनिकता को चित्रित करते हैं।

'आषाढ़ का एक दिन' की अम्बिका भी प्रतीक है उन तमाम आधुनिक स्त्रियों की जो जीवन को कल्पना या भावना के स्तर पर नहीं जीती हैं, बल्कि वास्तविकता के धरातल पर रहते हुए जीवन जीती हैं। वह एक ऐसी स्त्री है जो व्यावहारिक है जो भावना के स्थान पर कर्म को महत्त्व देती है। अपनी पुत्री मल्लिका के भविष्य को लेकर चिंतित है। वह अपनी पुत्री मल्लिका और कालिदास के संबंध को लेकर भावनात्मक होकर नहीं सोचती है, बल्कि एक आधुनिक स्त्री के समान व्यावहारिक धरातल पर रहकर सोचती है कि कालिदास के साथ उसकी पुत्री का भविष्य कितना सुरक्षित है। कालिदास अपने जीवन में कवि कर्म के समानांतर क्या अपने प्रेम संबंध को वह अधिकार और स्थान दे पाएगा ? ऐसे तमाम सवाल वह अक्सर मल्लिका के आगे रखती है। और उन सवालों के प्रति जब कालिदास के द्वंद्व और संशयग्रस्त जीवन को देखती है तो वह उग्र हो जाती है और नाटक में अक्सर मल्लिका से इस संबंध में तीखे सवाल करती है, "इसलिए वह समझ पाती है कि मल्लिका कालिदास के लिए सिर्फ एक उपादान है, जिसके माध्यम से कालिदास स्वयं से प्रेम करता है। मान-मर्यादा, लोक-अपवाद, लोक-नीति जैसे सामाजिक व्यवहार अम्बिका की जीवनदृष्टि को बनाने में महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा करते हैं। अम्बिका जीवनपर्यंत मल्लिका को कालिदास के प्रभाव से बचाने की चेष्टा करती है। इस प्रयत्न में कई बार उसने तीखे व्यंग्य, अशोभनीय व्यवहार एवं आरोप-प्रत्यारोपों का भी सहारा लिया।"[22] इस प्रकार अम्बिका का चरित्र प्रतीक है, एक आधुनिक स्त्री का जो भावना के स्तर पर जीवन का निर्णय न लेकर व्यवहारिक स्तर पर निर्णय लेती है। अम्बिका के चरित्र की तुलना 'सेतुबंध' की स्त्री पात्र प्रभावती से भी की जा सकती है। अम्बिका के समान प्रभावती के चरित्र में भी आधुनिक स्त्री का रूप देखा जा सकता है। 'आषाढ़ का एक दिन' की

'अम्बिका' के समान वह भी सत्य से मुख नहीं मोड़ती है। प्रभावती जिस प्रकार विवाह से पूर्व कालिदास से अपने प्रेम संबंध को पुत्र प्रवरसेन के आगे दृढ़ता से स्वीकार करती है उसे अपने जीवन का पूरा वृत्तांत पूरी ईमानदारी से सुना देती है। वह एक आधुनिक स्त्री के समान ही अपने जीवन की कड़वी सच्चाई से मुख नहीं मोड़ती है। पुत्र प्रवरसेन को कह सुनाती है और उम्मीद करती है कि पुत्र होने के नाते वह भी अपनी माता को समझेगा। प्रभावती कहती है, "एक औसत पुत्र की तरह व्यवहार मत करो। मुझसे मेरा स्वप्न मत छीनो।...मुझे विश्वास था कि तुम मुझे समझोगे।"[23] इस प्रकार अम्बिका और प्रभावती का चरित्र प्रतीक है एक आधुनिक स्त्री का, जो आज व्यावहारिक धरातल पर अपने जीवन को जीना पसंद करती है। आज संबंधों को लेकर उनकी सोच भावनात्मक स्तर पर नहीं होती है, बल्कि किसी भी संबंध के विभिन्न पक्षों को देखती है। अम्बिका और प्रभावती दोनों के जीवन की परिस्थितियाँ अलग-अलग हैं, किन्तु दोनों जीवन के सत्य को कहने में झिझकती नहीं हैं। उसे कह देती हैं। जो कटु अवश्य होता है, लेकिन जीवन का वह व्यावहारिक सच होता है।

'आषाढ़ का एक दिन' के कालिदास की पत्नी 'प्रियंगुमंजरी' और आठवां सर्ग' के कालिदास की पत्नी 'प्रियंगुमंजरी' की तुलना करें तो दोनों के चरित्र में भिन्नता है। 'आषाढ़ का एक दिन' की प्रियंगु आधुनिक पात्र चरित्र है और 'आठवां सर्ग' की प्रियंगु परंपरावादी है। मोहन राकेश के यहाँ प्रियंगु आधुनिक मानव की तरह भौतिकतावादी है, सत्ता और धन के बल पर खुशियों को हासिल करना चाहती है। वह अपने पति कालिदास के लिए खुशियाँ खरीदना चाहती है। तभी वह कालिदास के ग्राम प्रांत के वातावरण को उज्जयिनी ले जाना चाहती है। वह मल्लिका के घर का परिसंस्कार कर कालिदास को खुश करना और उसे उज्जयिनी में ही मल्लिका के प्रति आश्वस्त कर देना चाहती है। अतः यह कहा जा सकता है कि प्रियंगु एक आधुनिक मनुष्य का प्रतीकात्मक पात्र है, जो अपनी धन-संपदा से जीवन की खुशियों को खरीद लेना चाहती है। आभा गुप्ता ठाकुर 'आषाढ़ का एक दिन' नाटक के ऊपर अपने एक लेख 'स्त्री परिपेक्ष्य में' लिखती हैं, "मल्लिका के सौंदर्य को लेकर स्पर्धा भाव और ग्राम्य प्रांतर के वातावरण को अपने साथ उज्जयिनी ले जाने की हठ, उसके वैवाहिक

जीवन के रहस्यों को उद्घाटित करता है। वह ऐसा समझती है कि शायद यहाँ का वातावरण ले जाने से कालिदास की उदासीनता और बेचैनी कम हो जायेगी। मल्लिका के घर का परिसंस्कार वह अपने 'घर' को बचाने के लिए करना चाहती है। कालिदास के ऊपर अपने अधिकार को बनाये रखने के लिए ही वह मल्लिका से उज्जयिनी के किसी राजकर्मचारी से विवाह कर लेने की हठ करती है।"[24] इस दृष्टि से 'आषाढ़ का एक दिन'की 'प्रियंगु' एक आधुनिक नारी पात्र-चरित्र है, जो प्रेम को पैसे और धन से तौलती है और प्रेम भावना का मूल्य भौतिक वस्तु से चुकाना चाहती है। वहीं 'आठवां सर्ग' की 'प्रियंगु' एक परम्परवादी भारतीय स्त्री है, जो अपने पति कालिदास के प्रति समर्पित है। जो कालिदास के सुख में सम्मलित है और उसके दुःख में दुखी होती है। एक मध्यकालीन नारी के समान वह लज्जाशील पत्नी है। राजसभा में 'आठवाँ सर्ग' के पाठ होने के अवसर पर वह लज्जावश सभा नहीं जाती है, क्योंकि 'आठवां सर्ग' में शिव-पार्वती के मिलन का वर्णन होता है। इसके अतिरिक्त सम्मान समारोह स्थगित होने पर वह कालिदास के समान दुखी होती है। कालिदास के भवन नहीं लौटने पर चिंतित होती है। प्रियंगु के सन्दर्भ में गिरीश रस्तोगी लिखती हैं, "उनकी प्रियंगु भी सहृदय, संवेदनशील, भारतीय सौंदर्य, संस्कृति-शील, धैर्य, सहनशीलता, प्रेम, वेदना से भरपूर है। अस्तित्व-संकट और अस्तित्व-प्रतिष्ठा, प्रणय-श्रृंगार, आनंद-रस के साथ-साथ सघन-अंतर्द्वंद, जटिल वेदना में भी वह कालिदास के साथ है। विदुषी है इसीलिए कालिदास को, समाज, धर्म, राजनीति के गठबंधन को समझती है, उसके माध्यम से ही सुरेन्द्र वर्मा ने मानो अश्लीलता के स्थूल, असत्य प्रश्न का रचनात्मक अर्थ स्वयं संप्रेषित कर दिया है।"[25] इस प्रकार दोनों ही नाटकों में कालिदास की पत्नी का नाम प्रियंगुमंजरी होता है, लेकिन दोनों का चरित्र अपने-अपने परिवेश में भिन्न है। एक आधुनिक नारी का प्रतीकात्मक पात्र है, जो भावना और त्याग का मूल्यांकन पैसों से करती है और उन पैसों से ही अपने सुखों को चिर-स्थाई बनाने के लिए प्रयासरत रहती है। वहीं दूसरी ओर 'आठवां सर्ग' की प्रियंगु एक भारतीय परम्परवादी स्त्री पात्र है। भारतीय नारी जो लज्जाशील है। पति के सुख दुःख की साथी है तथा एक ऐसी परम्परवादी नारी है जो समाज में

स्थापित अन्धविश्वासी भी है। जीवन और स्वप्न के बीच के संबंधों को मानती है। स्वप्न में देखी गई घटनाओं को किसी भविष्य सूचक के रूप में देखती है। जैसा कि भारत ही नहीं दुनिया के तमाम लोक जीवन से जुड़ी मान्यताओं में देखा जाता है। अतः 'आठवां सर्ग' की प्रियंगु को परंपरावादी स्त्री कहें तो गलत नहीं होगा।

5.3 'लहरों के राजहंस' और 'सूर्य की अंतिम किरण से सूर्य की पहली किरण तक'

ऐतिहासिक, मिथकीय पौराणिक कथानक के माध्यम से आधुनिक संदर्भो को मोहन राकेश का एक और नाटक प्रस्तुत करता है और वह है, 'लहरों के राजहंस' इसी प्रकार सुरेन्द्र वर्मा का नाटक है, 'सूर्य की अंतिम किरण से सूर्य की पहली किरण तक'। दोनों ही नाटकों के कथानकों पर दृष्टि डालें तो हम देखते हैं कि ये दोनों नाटक भी अपने मिथकीय ऐतिहासिक कलेवर में परंपरा और आधुनिकता के संवाहक हैं। सर्वप्रथम दोनों ही नाटकों की कथा के केंद्र में एक राज परिवार है। दोनों ही नाटकों की समस्या दाम्पत्य जीवन से जुड़ी हुई है। साथ ही दोनों ही नाटकों वैवाहिक जीवन में तनाव, कटुता और दोषारोपण पर आधारित हैं। 'लहरों के राजहंस' में नन्द अपनी अस्मिता की तलाश में द्वंद्वों में घिरा हुआ उलझा एवं टूटता-बिखरता रहता है। यह एक दुविधाग्रस्त इंसान की कथा है। एक दम्पति जिसमें एक-दूसरे को अपनी बात समझा नहीं पाने की असमर्थता है। एक अहं, जो रिश्ते से बढ़कर है। जिसकी रक्षा करने के लिए सुन्दरी हर एक प्रयास करती है। उसके पश्चात् भी विफल हो जाती है। 'लहरों के राजहंस' में नन्द और सुंदरी का संघर्ष आंतरिक हैं। नन्द अपने जीवन के लिए सही मार्ग का चुनाव करने हेतु द्वंद्व में फंसा होता है। उसका दुविधाग्रस्त मन यह तय करने में असमर्थ रहता है कि वह अपने भाई बुद्ध के समान बौद्ध भिक्षु बनना चाहता है या सुंदरी की सुन्दरता के मोह-पाश में बंध कर भौतिक सुखों को ही भोगना चाहता है। नन्द की दशा देख कर नन्द के अन्दर के चल रहे द्वंद्व को समझा जा सकता है, "दूसरी ओर नेपथ्य से 'धम्मं शरणं गच्छामि' का समवेत स्वर नन्द के हाथ में हिलते हुए और फिर गिरकर टूटते हुए दर्पण द्वारा नन्द के सारे अंतर्द्वंद्व को बड़ी सफलता से मूर्त कर देता है तीसरे अंक में नन्द लौटता तो है लेकिन क्षत-विक्षत, केश कटाए हुए।

सुंदरी का समस्त विश्वास और प्रयत्न यहाँ बिखर जाता है। विश्वास दोनों का खंडित होता है। नन्द स्तब्ध और आहत भाव से जाता है तो सुंदरी सिसकती रह जाती है अपने खंडित विश्वास और भाव के साथ।"[26] इस प्रकार न गौतम बुद्ध द्वारा दिखाए गए मार्ग के प्रति नन्द खुद को आश्वस्त कर पाता है और सुंदरी के रूप-सौंदर्य में बंधकर खुद को रख पाता है। इधर सुंदरी भी अपने डर और अहं को जीत नहीं पाती है। नन्द को सुंदरी अपने तमाम प्रयास के बाद भी अंततः एक भिक्षु के रूप में खड़ी पाती है। जो डर उसके मन को बार-बार सताता रहता है वह आखिर सत्य हो जाता है। अतः नन्द और सुंदरी दोनों ही अपने-अपने स्तर पर आंतरिक रूप से संघर्षरत रहते हैं। इस प्रकार एक ऐतिहासिक चरित्र और पौराणिक आख्यान के माध्यम से ऐसा प्रतीत होता जैसे मोहन राकेश आधुनिक मुनष्य की कथा ही प्रतीकात्मक ढंग से कह रहे हों। नन्द प्रतीक है उस आधुनिक मानव का जो आज द्वंद्व में घिरा हुआ है। इस आधुनिक यांत्रिक और भौतिकवादी दुनिया में जीवन के सारे सुखों को भोगना भी चाहता है और उससे निकलकर शान्ति या मुक्ति का मार्ग भी तलाशता रहता है। लेकिन सवाल उठता है कि कितने लोग अपने जीवन में अपने द्वंद्वों से निकलकर अपने लिए सही मार्ग तलाश कर पाते हैं ? या वे भी नन्द के समान सुंदरी और बुद्ध के बीच फंसकर द्वंद्वात्मक हालातों में ही घिरे रह जाते हैं। अतः ऐतिहासिक चरित्र और पौराणिक आख्यान के माध्यम से आधुनिक जटिल मानवीय जीवन और उसके आंतरिक संघर्ष को चित्रित करने में मोहन राकेश का यह एक सफल नाटक है। ऐसा कहना गलत नहीं होगा।

वहीं सुरेन्द्र वर्मा का नाटक 'सूर्य की अंतिम किरण से सूर्य की पहली किरण तक' में 'ओक्काक' और 'शीलवती' का दांपत्य-संघर्ष आंतरिक न होकर बाह्य है। उनकी जरूरत भौतिक है। 'ओक्काक' अपनी अस्मिता अपना पुरुषार्थ प्राप्त करने के लिए शीलवती से विवाह करता है, ताकि उसकी नपुंसकता खत्म हो जाए। शीलवती को एक औषधि के समान प्रयोग करता है। ओक्काक और शीलवती के बीच आरोप-प्रतिरोप में ओक्काक के मनोभाव को समझा जा सकता है। जिसमें

शीलवती अपनी परंपरावादी आदर्श भारतीय स्त्री की छवि से निकलकर एक आधुनिक स्त्री के समान अपनी इच्छाओं, अपनी आवश्यकताओं को प्रकट करती है। दोनों के बीच का संवाद द्रष्टव्य है,

"ओक्काक : तुम यहाँ तक जा सकती हो ? अपने स्वार्थ के लिए।

शीलवती : और तुम कितने परमार्थी हो, जो बिना सामर्थ्य के ब्याह के जैसा जघन्य पाप कर सकते हो ? राजवैध ने कहा था कि जब कामना की पूरी ऊष्मा के साथ पत्नी तुम्हारी आह्वान करेगी, तो उस मनोवैज्ञानिक क्षण में अपने आप यानी मैं तुम्हारे लिए केवल जड़ी-बूटी थी ? केवल एक उपचार? तुमने ये नहीं सोचा कि अगर यह चिकित्सा बेकार गयी, तो इस जीवंत औषधि पर क्या बीतेगी ?"[27] इस प्रकार एक तरफ ओक्काक को अस्मिता के लिए संघर्ष करते देखा जा सकता है। जहाँ एक स्त्री उसके लिए एक औषधि, एक दवा के समान होती है। शीलवती का वरन वह एक पत्नी नहीं, बल्कि एक औषधि के समान करता है। दोनों का तनावपूर्ण दाम्पत्य जीवन आज के आधुनिक दंपतियों का प्रतीक है। जिसमें नाटक की शीलवती के समान आज की स्त्री अपने भौतिक सुखों की तलाश में अपने वैवाहिक बन्धनों से बंधकर नहीं रहना चाहती है। वह भी अपनी स्त्री-अस्मिता और अधिकार के प्रति सचेत है। इस प्रकार आज के आधुनिक वैवाहिक जीवन को और उनके द्वंद्वों, तनावों और बिखरावों को चित्रित करने में 'लहरों के राजहंस' की तरह यह भी एक सफल नाटक है। दोनों के द्वंद्वों में मूलभूत अन्तर इतना है कि 'लहरों के राजहंस' में नन्द और सुंदरी का द्वंद्व, तनाव, मानसिक और मनोवैज्ञानिक पार्थिव और अपार्थिव संदर्भों में है। वहीं ओक्काक और शीलवती का द्वंद्व और टकराहट उनके मनोविज्ञान को उद्घाटित तो अवश्य करता है, किन्तु पार्थिव जरूरतों के संदर्भों में है। गिरीश रस्तोगी इस सन्दर्भ में अपनी पुस्तक 'हिंदी नाटकों का आत्मसंघर्ष' में लिखती हैं, "ओक्काक का द्वंद्व-यात्रा से गुजरते जाना उसके बड़े-बड़े संवादों से वैसे ही उच्छ्वसित होता जाता है जैसे 'लहरों के राजहंस' के नन्द का सारा अंतर्द्वंद्व और अस्तित्व सम्बन्धी जटिल मानसिकता।"[28]

'लहरों के राजहंस' और 'सूर्य की अंतिम किरण से सूर्य की पहली किरण तक' के पात्रों और उनके चरित्रों का अध्ययन करने पर उनमें परंपरागत चरित्र और आधुनिक मनुष्य के चरित्र दोनों ही देखे जा सकते हैं। सर्वप्रथम दोनों ही नाटकों के पुरुष पात्रों को देखें तो दोनों ही नाटकों के मुख्य पुरुष पात्र एक राजवंश से संबंध रखते हैं। एक ओर देखें तो 'लहरों के राजहंस' का नन्द है, तो दूसरी ओर 'सूर्य की अंतिम किरण से सूर्य की पहली किरण तक' में मल्ल देश का राजा ओक्काक। सर्वप्रथम नन्द की बात करें तो नाटक में नन्द एक ऐसा पात्र है जिसका संघर्ष किसी बाह्य शत्रु से न होकर खुद के द्वंद्व से है। नन्द अपने जीवन में पार्थिव और अपार्थिव मूल्यों को तय करने में द्वंद्वों से घिरा रहता है। जहाँ एक ओर पार्थिव सुंदरी के रूप-सौंदर्य और उसके आकर्षण से वह बंधा रहता है। वहीं बुद्ध का अपार्थिव जीवन मूल्य और निर्वाण-मार्ग भी बार-बार उसे आकर्षित करता है। नन्द आधुनिक मनुष्य का प्रतीक है। जैसे आज का आधुनिक मानव पार्थिव और अपार्थिव जीवन-मूल्यों के बीच उलझा हुआ है। वैसे ही नन्द भी उलझा हुआ है, "'लहरों के राजहंस' में नन्द के माध्यम से, आधुनिक मनुष्य के भीतर उठने वाले पार्थिव और अपार्थिव मूल्यों के संघर्ष को रूपायित किया गया है। नन्द सांसारिक सुखों को सम्पूर्ण मन से भोग नहीं पाता एवं उसके चरित्र का सर्वदुखांत पक्ष यह है कि आध्यात्मिकता के प्रति उसका विश्वास स्फूर्त नहीं है।"[29] नन्द के चरित्र की तुलना ओक्काक के चरित्र से करें तो ओक्काक भी नन्द के समान मनोवैज्ञानिक धरातल पर भी संघर्षरत तो है ही, साथ ही वह बाह्य रूप से भी संघर्षरत है। सर्वप्रथम अपनी पुरुषत्वहीनता से वह संघर्ष करता हुआ शीलवती से विवाह करता है, इस आशा से कि शायद पत्नी विवाह के पश्चात् एक औषधि के समान कार्य करेगी, किन्तु यह प्रयोग असफल होता और वह पुरुषत्वहीन ही रह जाता है। शीलवती से विवाह का उसका उद्देश्य अपनी नपुंसकता दूर करना मात्र होता है। अपनी पत्नी का वरण एक औषधि के समान करना, उसे एक रूढ़ि परंपरावादी पुरुष मानसिकता का साबित करता है, "पत्नी से अच्छा उपचार मेरे लिए दूसरा नहीं हो सकता...वह संगनी बनकर अकेलापन दूर करेगी, मित्र बनकर कामकाज में सम्मलित होगी...माँ की ममता, बहन का स्नेह, प्रेयसी का प्रेम हर कमी दूर

होगी, सारे अभाव पूरे होंगे...खोया हुआ आत्मविश्वास मिलेगा..और जब शैया पर पहुँचेंगे, वह घड़ी आयेगी, जब कामना की पूरी ऊष्मा के साथ नारीत्व पुरुषत्व का आह्वान करेगा, तो उस मनोवैज्ञानिक क्षण में अपने आप ही.."[30] इसके पश्चात् भी राज का उत्तराधिकारी न दे पाने पर राज का अमात्य परिषद् शीलवती को धर्मनटी बनने को कहता है। जिसका अर्थ होता है कि शीलवती अपनी इच्छा से किसी भी एक पर-पुरुष का वरण करेगी और गर्भसिद्धि के लिए उसे तीन मौके दिए जाएँगे। अमात्य-परिषद् के इस फैसले से ओक्काक प्रथमतः तो अपनी स्वीकृति नहीं देता, लेकिन अमात्य-परिषद् राज्य के तमाम नियमों और तर्कों से उसे विवश कर देता है कि वह शीलवती को धर्मनटी बनने की स्वीकृति दे देता है,

"महामात्य : (राजपुरोहित से) आर्य बोलिये !

राजपुरोहित : (ओक्काक से) कहिये..मैं (शीलवती की ओर संकेत-सहित) आपको आज की रात के लिए-सूर्य की अंतिम किरण से लेकर पहली किरण तक, उपपति चुनने का अधिकार देता हूँ।"[31] इस रूप में ओक्काक एक विवश और लाचार शासक साबित होता है। जो दो धर्मों के बीच द्वंद्व में फंसकर रह जाता है। एक उसका राज्य के प्रति धर्म कि वह उसे उत्तराधिकारी दे। दूसरा उसका पतिधर्म जिसके तहत वह अपनी पत्नी के सम्मान और स्त्रीत्व की रक्षा करे। किन्तु इस संदर्भों में ओक्काक, नन्द और 'आषाढ़ का एक दिन' के कालिदास के समान ही एक कामजोर चरित्र साबित होता है। जो द्वंद्वों से घिरा हुआ निर्णय लेने में असमर्थ पात्र चरित्र साबित होता है। जो अपने ही हालात और परिस्थितयों में उलझकर अपनी अस्मिता की तलाश करते हुए संघर्षरत रहता है। साथ ही एक ऐसे शासक का भी प्रतीक है, जिसकी खुद की सत्ता पर पकड़ नहीं है। उसके नौकरशाह उसकी ही जिन्दगी को नियमों और क़ानून में उलझाकर उसकी ज़िंदगी की मुसीबतों को और बढ़ा देते हैं।

दोनों ही नाटकों के स्त्री पात्रों को देखें तो 'लहरों के राजहंस' की मुख्य स्त्री पात्र है 'सुंदरी' और 'सूर्य की अंतिम किरण से सूर्य की पहली किरण तक' की मुख्य स्त्री पात्र है 'शीलवती'। सर्वप्रथम सुंदरी की बात करें तो सुंदरी एक अत्यंत रूपवान राजकन्या है। जिसे अपनी सुंदरता का अभिमान है और उसका यह तर्क है कि नारी का आकर्षण ही किसी पुरुष को पुरुष बनाता है अर्थात् किसी स्त्री की सुंदरता का महत्त्व इसमें है कि वह पुरुष को अपने सौंदर्य-पाश में बांधकर रखे और पुरुष की सार्थकता इसी में है कि वह स्त्री के रूप सौंदर्य में ही बंधकर रहे। अन्यथा वह बुद्ध के समान यशोधरा के अपकर्षण से भिक्षु ही बन जाता है। सुंदरी यहाँ प्रतीक है, आज के तमाम उन आधुनिक मानवों का जो शरीर के माध्यम से जीते हैं। जीवन में बुद्ध के निर्वाण जैसे अपार्थिव जीवन मूल्यों की तुलना में इस भौतिक पार्थिव शरीर को अधिक महत्त्व देते हैं, "स्वाभिमान उसके हाव-भाव, गतियों में ही नहीं उसके कथनों में भी है। वह सोच ही नहीं पाती कि 'भरा पूरा यौवन और हृदय में धूल भरा आकाश' इनमें मेल ही क्या है ? वह यह भी समझ नहीं पाती कि कामनाओं को जीता कैसे जा सकता है ? और यह कामना किसी के मन में जागती ही क्यों है ? राजहंसों के जोड़ों की किलोल के आगे उसे गौतम बुद्ध का निर्वाण और अमरत्व सारहीन, निरर्थक लगता है।"[32] दूसरी ओर 'सुंदरी' की तुलना 'शीलवती से करें तो नाटक के प्रथम अंक तक शीलवती एक परम्परवादी स्त्री दिखती है। जो ओक्काक की अर्धांगिनी होने का पूरा धर्म निभाती है। यह जानते हुए भी कि उसका पति पुरुषत्वहीन है तब भी उसे अपनी ज़िंदगी से बहुत निराशा नहीं होती है। अमात्य-परिषद् और पति ओक्काक द्वारा धर्मनटी बनने को कहने पर वह अपनी पत्नी और स्त्री की मर्यादा जैसे तमाम आधारों को सामने रखकर ओक्काक से तर्क करती है। किन्तु अंततः वह धर्मनटी बनना स्वीकार कर लेती है। लेकिन लज्जावश वह ओक्काक के समक्ष कई दिनों तक नहीं आती है क्योंकि शीलवती के संस्कार-चरित्र में एक भारतीय परम्परवादी स्त्री होती है। जिसके लिए पर-पुरुष को शारीरिक रूप से खुद को सौंपना एक बहुत बड़ी बात होती है,

"ओक्काक : हाँ... तभी एक सप्ताह से तुम्हारे दर्शन भी नहीं हुए। जिस दिन से घोषणा प्रारंभ हुई थी, ठीक उसी दिन से! शीलवती: (करुण स्वर में) मैं तुम्हारे सामने कैसे आ सकती थी ? मुझे अपने आप को तैयार करना था... सारे संस्कारों के जाल छिन्न-भिन्न करके, मूल्यों और मर्यादाओं को तोड़कर, अपना पूरा मनोबल इकट्ठा करके मुझे आज की इस घड़ी तक पहुँचना था, उसके लिए दूरी आवश्यक थी, अनिवार्य थी।"[33]

इस प्रकार नाटक के प्रथम अंक में शीलवती एक परंपरावादी नारी ही प्रतीत हुई है जो अपनी स्त्री और पत्नी मर्यादा का पूरी निष्ठा से पालन करती है। किन्तु नाटक के दूसरे और तीसरे अंक में मानो शीलवती जो प्रथम अंक तक अपने जीवन का आखरी लक्ष्य पत्नीधर्म का पालन करने को मानती है और अपने व्यक्तिगत सुखों को मानो वह पूर्णतः विस्मृत कर चुकी रहती है। किन्तु आर्य प्रतोष के साथ रात की एक बेला में मिले उन क्षणों का सुख शीलवती के चरित्र को परिवर्तित कर देता है। वह आधुनिक स्त्री के समान अपने अधिकार के प्रति सजग ही नहीं हो जाती है, बल्कि बेझिझक अपने निजी जीवन की शारीरिक जरूरतों के सन्दर्भ में अपने पति ओक्काक से तर्क करती है और कहती है कि शरीर के माध्यम से जीती है तो शरीर की आवश्यकताओं को कैसे नकारा सकती है। अतः आर्य प्रतोष के साथ एक रात व्यतीत करने के बाद अमात्य परिषद् द्वारा दिए तीनों अवसरों को लेकर तर्क करती है। वह आर्य प्रतोष के साथ जीवन के उन्हीं पलों को सूर्य की अंतिम किरण से सूर्य की पहली किरण तक पुनः दोहराना चाहती है। डॉ. नीलम राठी इस सन्दर्भ में अपनी पुस्तक 'साठोत्तर हिंदी नाटक (मिथकीय तत्त्वों के सन्दर्भ में)' लिखती हैं, "शीलवती का यह चिंतन वास्तव में मानसिक असंतुलन का ही परिणाम है। क्योंकि भौतिक जीवन की आवश्यकताएँ बढ़ने के कारण एक स्थान पर रुककर स्थायित्व पाना मानव जीवन में असंभव सा रह गया है। इन समस्त सुखों की आकांक्षा उसके लिए मृगमरीचिका बन चुकी है।"[34]

निष्कर्षतः सुंदरी और शीलवती के पात्र-चरित्र के सन्दर्भ में यह कहा जा सकता है कि सुंदरी जहाँ अपने रूप-सौंदर्य के अहं को अपनी प्रतिष्ठा और अस्मिता का प्रश्न बना लेती है वहीं अपने दुखों का

कारण वह खुद ही साबित होती है। वह अप्रत्यक्ष रूप से अपने अंदर के व्यक्तित्व से ही लड़ती रहती है। नन्द को अपने रूप सौंदर्य में बांधे रखना और उसे भिक्षु न बनने देना, उसके आंतरिक व्यक्तित्व की ही जीत हो सकती थी। इस रूप में सुंदरी का यह व्यक्तित्व एक आधुनिक स्त्री का चरित्र प्रतीत होता है। जिस प्रकार आज का मनुष्य जीवन के उलझे अनगिनत प्रश्नों के साथ जी रहा है। जहाँ सुख-शान्ति नहीं होती है। मनुष्य अपने अस्तित्व और अपने अहं को खुद पर लादे सुंदरी के समान बेचैनी में जी रहा है। अतः नाटक में सुंदरी अपने ही अहं से उत्पन्न प्रश्नों में घिरी आधुनिक मानव चरित्र को संबोधित करती है। वहीं शीलवती के चरित्र में प्रथम अंक तक में एक परंपरावादी स्त्री की ही छवि उभरकर सामने आती है। किन्तु दूसरे और तीसरे अंक में उसका चरित्र पूर्णतः आधुनिक प्रतीत होने लगता है। परंपरा और आधुनिकता दोनों ही उसके चरित्र में देखे जा सकते हैं, "नारीत्व की सार्थकता मातृत्व में नहीं है, इस प्रकार की प्रतिक्रिया उसमें उत्पन्न होती है। मातृत्व केवल गौण उत्पादन-क्रिया है, यह शाकुंतल मन की जिज्ञासा है अर्थात् परंपरा और आधुनिकता एक-दूसरे के सम्मुख प्रतिस्पर्धा रूप में उपस्थित है। राजमहिषी शीलवती की अपनी अपूर्णता की पूरकता की प्राप्ति के लिए जिस मार्ग का अनुसरण करती है, वह भी एक दुखांत स्थिति है। अतः यह प्रश्न केवल ओक्काक और शीलवती के प्रश्न न होकर सर्वकालिक जीवन-बोध से संपृक्त जटिल प्रश्न हैं। राजकीय परंपरा के सन्दर्भ में उत्तराधिकार के प्रश्न को नाटक के कथ्य का आधार बनाया है और इस कृति की रचना-प्रक्रिया को आधुनिकता के साथ जोड़ा है।"[35]

आधुनिकता ने अधूरेपन की धारणा को वक्त के साथ जन्म दिया है। एक ऐसा काल था जब विज्ञान और धर्म पर आस्था रखने वाले अलग-अलग लोग मनुष्य की पूर्णता के प्रति बहुत अधिक संदेहास्पद स्थिति में नहीं होते थे। मनुष्य की पूर्णता की संभावनाओं के प्रति एक हद तक आश्वस्त होते थे। लेकिन उस वक्त महामानव की धारणा थी, जैसे प्राचीनकाल में अवतारी पुरुष या आधुनिक काल में कहलाने वाले युग पुरुष होते थे। इनको ही आदर्श मानकर समाज उनके चरित्र का अनुसरण करने का प्रयत्न करता था। किन्तु दो महायुद्धों के पश्चात् ये आदर्श चरित्र समाज से धुंधले होते चले

गए। आशावादी स्वर मंद होते चले गए। महामानव की कल्पना अब करना दूर की बात होती चली गई । लोग धीरे-धीरे लघु और अपूर्णता की ओर बढ़ने लगे। इसका मुख्य कारण था यांत्रिकता का दुनिया में तेजी से बढ़ना तथा पूंजीवादी-व्यवस्था केन्द्रित समाज का निर्माण। इस पूंजीवादी व्यवस्था ने धीरे-धीरे आधुनिक परिवारों को यांत्रिक बना दिया, ख़ासकर बड़े शहरों में रहने वाले परिवारों के लोगों को, वे आज लाभ और हानि की दृष्टि से अपने रिश्ते का मूल्यांकन और महत्त्व तय करते हैं। धीरे-धीरे ही यह व्यवस्था समाज और परिवार में एक प्रकार से लोगों को असहाय, अधूरा, लाचार आदि बनाने लगी। जिससे उसकी ज़िंदगी में एक अधूरापन आने लगा। वे खुद को टूटा हुआ और खंडित महसूस करने लगे हैं। अतः धीरे-धीरे आधुनिक काल का अधूरापन आज के आधुनिक मानव का सच बन चुका है।

मोहन राकेश और सुरेन्द्र वर्मा, स्वातंत्र्योत्तर ऐसे नाटककार हैं जिन्होंने अपने नाटकों में आधुनिक मानव के इस अधूरेपन को कुछेक नाटकों में पौराणिक मिथकीय कथा और ऐतिहासिक पात्रों के माध्यम से चित्रित किया है, तो कुछेक नाटकों में सीधे आधुनिक चरित्रों के माध्यम से खंडित आधुनिक मानव के व्यक्तित्व को व्याख्यायित कर दिया है।

'आधे-अधूरे' मोहन राकेश का तीसरा नाटक है। आधुनिक जीवन के द्वंद्वों, अधूरेपन और जीवन की आंतरिक व्याकुलता आदि को चित्रित करने के लिए यह नाटक पूर्व के दो नाटकों के समान ऐतिहासिक चरित्र और मिथकीय पौराणिक कथानक का आश्रय नहीं लेता है। 'आधे-अधूरे' सीधे-सीधे आज के आधुनिक मानव के कठोर यथार्थ को प्रस्तुत करता है। जिसमें भाषा भी बिल्कुल आम-बोलचाल की है। लेकिन इसके पश्चात भी इस नाटक के रचना सौंदर्य की अपनी ही विशिष्टता है। मोहन राकेश के परिपाटी की ही नाटककार के रूप में जैसा कि सुरेन्द्र वर्मा को भी जाना जाता है, इस सन्दर्भ में सुरेन्द्र वर्मा का 'द्रौपदी', 'एक दूनी एक' और 'शकुन्तला की अंगूठी' नाटक भी 'आधे-अधूरे' के ही समान आधुनिक मानव-जीवन की भोगवादी जीवन-दृष्टि को प्रस्तुत करता है। जिसमें बनते-बिखरते रिश्ते हैं। उन रिश्तों से निकलने न निकलने का ऊहापोह और द्वंद्वों में उलझा

हुआ यांत्रिक जीवन है। जिसे सुरेन्द्र वर्मा ने भी मोहन राकेश के समान, बड़ी बेबाकी से प्रस्तुत किया है। आधुनिक जीवन के इस कटु सत्य को नाटक के माध्यम से हम लोगों तक पहुँचाया है।

मोहन राकेश के नाटक 'आधे-अधूरे' की तुलना सुरेन्द्र वर्मा के इन तीन नाटकों से करें तो ऐसा प्रतीत होता है कि मध्यवर्गीय परिवार के त्रासद भरे जीवन की जिस कथा को कहने की परंपरा मोहन राकेश ने किया था, उसी कथा-परंपरा को ही सुरेन्द्र वर्मा ने अपने नाटकों में भिन्न कथानक और भिन्न परिस्थितियों के माध्यम से, किन्तु उसी समान भाव से प्रस्तुत किया है। 'आधे-अधूरे' में महेन्द्रनाथ और सावित्री के मध्यवर्गीय परिवार को केंद्र में रखकर आज के मध्यवर्गीय पारिवारिक विघटन को चित्रित किया गया है। वहीं 'द्रौपदी' में 'सुरेखा' और 'मनमोहन', 'एक दूनी एक' में 'आदमी' और 'औरत', और 'शकुन्तला की अंगूठी' में 'कुमार' और 'कनक' जो उच्च-मध्यवर्गीय परिवार से संबंध रखते हैं, उनके बीच के संबंधों का विघटन प्रस्तुत किया गया है। किन्तु जिस पारिवारिक विघटन से वे गुजर रहे हैं वे आज के उत्तर-आधुनिक हालात हैं, ऐसा कहना गलत नहीं होगा। जहाँ अधूरे रिश्त पहले से अधिक बिखरते जा रहे हैं, वे एक-दूसरे से अलग होते जा रहे हैं। सारी विकट परिस्थितियाँ और भी गहरा गई हैं। मोहन राकेश के 'आधे-अधूरे' और सुरेन्द्र वर्मा के 'द्रौपदी' नाटक में जो मुख्य केंद्रीय विषय है, वह है एक घर की खोज। 'आधे-अधूरे' में घर की खोज में ही सावित्री और महेन्द्रनाथ अपना घर बसाते हैं। ठीक उसी प्रकार एक घर के ही स्वप्न को लेकर 'द्रौपदी' में सुरेखा और मनमोहन अपना घर बसाते हैं। किन्तु वक्त के साथ न सावित्री-महेन्द्रनाथ का घर, घर के मूल अर्थ को चरितार्थ कर पाता है और न सुरेखा-मनमोहन का घर ही। घर-परिवार की नींव जिस पर टिके रहते हैं जैसे- प्रेम, विश्वास, लगाव, स्नेह, आदि वह दोनों ही घर से लगभग नदारत ही रहते हैं। 'आधे-अधूरे' के सन्दर्भ में कुसुम खेमानी अपनी पुस्तक 'हिंदी नाटक के पाँच दशक में लिखती हैं, " महेन्द्रनाथ और सावित्री की कथा के माध्यम से हम देखते हैं कि अधूरेपन को भरने के लिए मनुष्य अपना घर बसाता है, किन्तु 'अधूरेपन' की छाया का विस्तार ही इस परिवार की नियति बन जाती है। सावित्री परिवार के अधूरेपन को भरने के लिए भटकती है, इसी प्रक्रिया में

वह सिंघानिया, जुनेजा, मनोज, जगमोहन, इन सबके प्रति आसक्त होती है। परंतु 'अधूरापन' उसे हर जगह मिलता है। चेहरा एक है, मुखौटा अलग-अलग। इस प्रकार समकालीन जीवन के कुछ सघन बिन्दुओं को यह नाटक रेखांकित करता है।"[36] नाटक के कथानक में आधुनिक मध्यवर्गीय जीवन का संत्रास हर ओर बिखरा हुआ प्रतीत होता है। सभी पात्रों के लिए संत्रास मानो अनिवार्य नियति ही बन जाता है। जीवन की जरूरतें अर्थ से पूरी होती हैं। यदि घर के आर्थिक हालात कमजोर हों तो आर्थिक कमजोरी उस परिवार को तोड़कर रख देती है। नाटक में महेन्द्रनाथ का घर भी इसी विपन्नता से गुजरता रहता है। घर में बेरोजगार बैठा महेन्द्रनाथ घर की जरूरतों को पूरा नहीं करता और सावित्री किसी तरह इस दायित्व का निर्वाह करती है। जिसके कारण घर की जरूरतें अधूरी हैं। यह अधूरेपन का भाव बिखराव की स्थिति पैदा करता है। अंततः यह बिखराव परिवार को एक संगठन के रूप में नहीं बनने देता है। महेन्द्रनाथ घर का मुखिया होने पर भी घर को इस विपरीत स्थिति से नहीं निकाल पाता है। स्वयं भी घर में औरों के लिए अजनबी के समान रहता है। इसी अजनबीपन और अधूरेपन से बाहर निकलने के लिए वह बार-बार घर छोड़ता है और कहीं ठिकाना नहीं मिलने पर घर वापस आ जाता है। सावित्री को निठल्ला और दायित्वविहीन पति अधूरा लगता है। इसीलिए रिश्ते के इस अधूरेपन से गुजरते हुए वह कई पुरुषों के संपर्क में आती है, किन्तु पूर्णता किसी भी पुरुष में नहीं पाती है। घर की बड़ी बेटी बिन्नी इससे ऊबकर अपने घर को छोड़ अपनी माँ के पूर्व प्रेमी मनोज से विवाह कर लेती है। किन्तु इसके पश्चात् भी यह अधूरापन और संबधों का बिखराव समाप्त नहीं होता है। मनोज के साथ अधूरापन महसूस करती हुई वह इस रिश्ते को निभा पाने में स्वयं को असमर्थ पाती है। अपनी असमर्थता और अपनी इस अजनबियत को बिन्नी इन शब्दों में प्रकट करती है, "मैं इस घर से ही अपने अन्दर कुछ ऐसी चीज लेकर गई हूँ जो कि किसी भी स्थिति में मुझे स्वाभाविक नहीं रहने देती। दो आदमी जितना साथ रहें, एक हवा में सांस लें, उतना ही ज्यादा एक-दूसरे से अजनबी महसूस करें।"[37] बिन्नी का यह मनोज के साथ रिश्ते में अधूरापन उसे पुनः अपने माता-पिता के यहाँ घर वापस आने पर मजबूर कर देता है। घर का बेटा

अशोक अपने बेकार पिता के प्रति सहानुभूति रखता है तो अपनी माँ सावित्री के प्रति क्रोध। छोटी बेटी किन्नी को घर की यह परिस्थितियाँ संवेदनहीन और अशिष्ट बना देती है। उसे अपने घर में किसी से भी विशेष लगाव नहीं है। आर्थिक रूप से बिखराव परिवार के लोगों के अन्दर की संवेदना को तोड़ देता है और सभी एक-दूसरे से खीझते हैं और एक घर में रहते हुए भी एक-दूसरे से अलग-थलग रहते हैं। ऐसा प्रतीत होता है जैसे सभी शरणार्थी हों। सावित्री अपने पति महेन्द्रनाथ के अस्तित्व को स्वीकार नहीं करती है और महेन्द्रनाथ अपनी पत्नी सावित्री के आचरण से त्रस्त है। घर के बच्चे घर के इस हालात से एक-दूसरे से अजनबी के समान ही बरताव रखते हैं, साथ ही एक-दूसरे में विशेष रुचि नहीं रखते हैं।

अतः इस नाटक के सन्दर्भ में यह कहा जा सकता है कि इस नाटक का मुख्य उद्देश्य आधुनिक मध्यवर्गीय परिवार के माध्यम से आज के परिवारों में संबंधहीनता, अजनबीपन, अधूरापन, आंतरिक संघर्ष आदि को विविध स्तरों पर चित्रित करना है।

सम्पूर्ण नाटक एक कमरे में ही घटित दिखाया गया है। जिसे एक प्रतीक के रूप में देखा जा सकता है। आज के आधुनिक मानव की ज़िंदगी दोहरे स्तर पर संकुचित होती जा रही है। पहले स्थान के सन्दर्भ में, जिसमें शहर की मध्यवर्गीय ज़िंदगी सिकुड़ती जा रही है। दूसरा मानसिक स्तर पर, जहाँ सबंध का महत्त्व अर्थवत्ता पर तय किया जाने लगा है। अर्थात् आज अर्थ के आधार पर संबंध का महत्त्व तय किया जा रहा है। प्रतीक रूप में एक पात्र के माध्यम से पांच पुरुष के चरित्र को प्रस्तुत करना, नाटककार का आज के आधुनिक मानव के चरित्र की ओर संकेत करना है। जिसमें एक व्यक्ति के अन्दर कई चरित्र हो सकते हैं। जैसे महेन्द्रनाथ, जुनेजा, सिंघानिया, जगमोहन ये सभी एक ही आधुनिक व्यक्ति के भिन्न रूप-चरित्र हो सकते हैं। यह एक व्यक्ति ही अलग-अलग परिस्थितियों में बाहर निकलकर भिन्न प्रकार से व्यवहार करता है।

5.4 'आधे-अधूरे' और 'द्रौपदी'

'आधे-अधूरे' की तुलना यदि हम 'द्रौपदी' नाटक से करें तो यह नाटक भी हमें सीधे-सीधे आज के समकालीन यथार्थ से साक्षात्कार करवाता है। जिस खंडित आधुनिक मनुष्य के व्यक्तित्व की पहचान को मोहन राकेश ने 'आधे-अधूरे' में प्रारंभ किया था, उसे आगे बढ़ाने का कार्य सुरेन्द्र वर्मा ने 'द्रौपदी नाटक से किया है। सम्पूर्ण नाटक का भाव 'आधे-अधूरे' के ही समान समकालीन मानवीय संबंधों के टूटे-बिखरे, बदले हुए नैतिक मूल्यों तथा अनैतिक काम-संबंधों पर आधारित जीवन को प्रस्तुत करना है। आज के आधुनिक जीवन में व्यक्ति किस प्रकार हालातों के चक्र में फंसकर एक साथ न जाने कितनी ज़िंदगी जीता रहता है। 'द्रौपदी' नाटक आधुनिक जीवन की इन्हीं तमाम विसंगतियों को प्रस्तुत करता है।

जिस प्रकार 'आधे-अधूरे' में एक ही पात्र कई चरित्रों को अभिनीत करता है और वह प्रतीक होता है एक ही व्यक्ति के कई अलग-अलग व्यक्तित्वों का। जैसा कि नाटक के प्रारंभ में ही काले सूट वाला आदमी कहता है, " बात इतनी ही है कि विभाजित होकर किसी-न-किसी अंश में आप में से हर-एक व्यक्ति हूँ और यही कारण है कि नाटक के बाहर हो या अन्दर, मेरी कोई भी एक निश्चित भूमिका नहीं है।"[38] ठीक वैसे ही इस नाटक में भी मनमोहन के कई रूपों का जिक्र सुरेखा करती है। मनमोहन के अन्दर जो काला, सफ़ेद, लाल, पीला नकाबधारी होता है, वह भी आधुनिक मानव के आंतरिक व्यक्तित्व को ही संबोधित करता है। यहाँ मनमोहन पांच खंडित रूपों का पर्याय है। नाटक में वह इन पाँचों रूपों में दिखता है। ये पांचों रूप मिलकर आज के आधुनिक मानव के आंतरिक चरित्र को ही प्रस्तुत करते हैं। आज एक ही व्यक्ति के कई व्यक्तित्व हो गए हैं। एक व्यक्तित्व के अन्दर कई व्यक्तित्व ही आधुनिक इंसान को भोगवादी बना देतें हैं। इसीलिए आज के आधुनिक मानव के बाह्य और आन्तरिक चरित्र में एकरूपता नहीं है। वह मनमोहन की भांति कई खंडित चरित्रों को जीता है, "मनमोहन- काला, सफ़ेद, लाल, पीला नकाब पहने व्यक्तियों के रूप में प्रस्तुत है। काला मनुष्य- अनैतिक जीवन भोगकर नया जीवन जीने की प्रेरणा प्राप्त करने का प्रयत्न करता है।

सफेदपोश व्यक्ति- विगत जीवन की घुटन और विषमता को झेलता है। लाल-सेक्स और कुंठा को झेलता है। पीले के सम्मुख पदोन्नति का प्रश्न है। नकाबवाला पुरुष-नौकरी और अपने परिवार के लिए जीता है और इस कारण वह घर और बाहर विभक्त है।"[39]

'आधे-अधूरे' में जिस प्रकार सावित्री और महेन्द्रनाथ एक घर की खोज में भटकते रहते हैं, लेकिन इस प्रयास में असफल ही रहते हैं। ठीक उसी प्रकार 'द्रौपदी' में मनमोहन और सुरेखा भी घर की तलाश में भटकते रहते हैं, लेकिन इनका भी प्रयास असफल ही प्रतीत होता है। दोनों ही नाटकों के दम्पति और उनका परिवार एक मकान और चारदीवारी के भीतर रहते हैं, लेकिन उसे घर की संज्ञा नहीं दी जा सकती है, क्योंकि जिन तत्त्वों से घर निर्मित्त होता है, वह है अपनापन, भरोसा, खुशियाँ आदि जो दोनों ही नाटकों में चित्रित घरों में नहीं दिखती हैं। जिस प्रकार 'आधे-अधूरे' नाटक में घर के सभी पात्र एक अजनबियत से गुजरते रहते हैं। एक ही छत के नीचे रहते हुए भी किसी रिश्ते में अपनत्व की भावना नहीं है, ठीक उसी प्रकार 'द्रौपदी' नाटक में भी घर के किसी भी सदस्य में एक-दूसरे के प्रति प्रेम या अपनत्व नहीं है। सभी एक-दूसरे से कटे और बिखरे हुए हैं। किसी का किसी से सामंजस्य नहीं है,

"मनमोहन: क्यों झूठमूठ अपने को बहलाती हो ? वे दोनों जाएँगे हमारे साथ ? कोई न कोई जरूरी काम निकल आएगा उन्हें। एक के दोस्त की सालगिराह ! दूसरे की एक्स्ट्रा क्लास !"[40]

'द्रौपदी' नाटक के कथानक पर दृष्टि डालें तो बोध होता है कि यह आज के आधुनिक उच्च मध्यवर्गीय परिवारों में उत्पन्न एक नई प्रवृत्ति को उजागर करता है। यह प्रवृत्ति है काम के प्रति आसक्ति। जीवन में बाह्य भौतिक सुखों को प्राप्त करने हेतु काम को सेतु की भांति प्रयोग में लाना। जैसे मनमोहन विवाह के पश्चात् भी अंजना, रंजना और वंदना से संबंध बनाता है और ये तीनों स्त्रियाँ भी इस अनैतिक संबंध में समान रूप से रुचि लेती हैं। इस आधुनिक समय में परंपरागत जीवन-मूल्य नष्ट होते जा रहे हैं। पारिवारिक संरचना में जिन संबंधों की अपनी एक गरिमा हुआ करती थी, जिन

परंपरागत पारिवारिक मूल्यों का एक महत्त्व था, वे इस आधुनिक काल में परिवर्तित होते चले गए। 'द्रौपदी' नाटक में सुरेखा और मनमोहन के बच्चे अनिल और अलका दोनों को यह पसंद नहीं कि कोई भी उनकी निजी ज़िन्दगी में दखल दे, चाहे उससे पारिवारिक व्यवस्था को कितनी भी ठेस क्यों नहीं पहुँचती हो। नाटक में अनिल और अलका दोनों एक-दूसरे के अनैतिक संबंध के बारे में जानते हैं और यह चाहते हैं कि किसी भी रूप में उनके मामले में कोई बेदखली न करे। इस सन्दर्भ में अनिल और अलका के बीच होने वाली बहस से आज के बदलते हुए पारिवारिक मूल्य और विघटन का अंदाजा लगाया जा सकता है। अनिल अपने बहन अलका से शनिवार को होने वाले क्लास के सन्दर्भ में व्यंग्य करते हुए पूछता है,

"अनिल: कहाँ होती है ? लालकिले के किसी सुनसान कोने में ? क़ुतुब के किसी झाड़ के पीछे ? या अकेले में किसी पेड़ के नीचे।

अलका: मेरी तरफ से तू भाड़ में जा। बस, मुझसे कोई मतलब न रख। मैं तुझसे पूछती हूँ कभी कि सैलर में किसके साथ बैठता है ? इंडिया गेट पे किसको लिए घूमता रहता है। समझता है, मुझे कुछ पता नहीं?

अनिल: जरा इसका पर्स खोलकर देखो। रिट्ज के बॉक्स की दो टिकटें हैं, दोपहर के शो की। वहीं है इसकी क्लास- सोशियोलांजी नहीं, सैक्सोलांजी.. इतना और पूछ लो कि आज थ्योरी होगी या प्रैक्टिकल।"[41]

इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि अनिल और अलका पाश्चात्य जीवन-शैली में इतने ढल चुके हैं कि अपने रिश्ते के मर्यादा को और परंपरागत पारिवारिक-मूल्यों को विस्मृत कर चुके हैं और शायद इसका कारण इनके माता-पिता ही हैं। जिन्होंने जाने-अनजाने इन्हें इस अनैतिक जीवन-मूल्यों का वातावरण निर्मित करके दिया है।

एक ओर सुरेखा जहाँ खुद एक माता होते हुए भी अपनी पुत्री से यह कहकर कि बात कहाँ तक पहुँची? उसके अनैतिक संबंधों के सन्दर्भ में पूछती है, साथ ही यह कहकर कि उसे जज्बाती बनाकर राजी-ख़ुशी देती जा जो उसे चाहिए। दूसरी ओर पिता मनमोहन अपनी पुत्री के संबंध में ही ऐसी बात कहता है जो अशोभनीय है। जो पिता के रिश्ते को ही कठघरे में लाकर खड़ा कर देता है। मनमोहन अलका के संबंध में टिप्पणी करता हुआ कहता है, "लड़का निहायत ही बेवकूफ है। छह महीनें में सिर्फ ब्लाउज के बटनों तक ही पहुंचा है।"[42] आज पारिवारिक मूल्य कितना विघटित होता जा रहा है यह मनमोहन के इस वक्तव्य से ही ज्ञात हो जाता है।

इस प्रकार 'द्रौपदी' नाटक के कथानक के सन्दर्भ में यह कहा जा सकता है कि यह नाटक भी 'आधे-अधूरे' के समान ही आधुनिक मध्यवर्गीय और उच्च-मध्यवर्गीय परिवारों के विघटन को बड़ी सूक्ष्मता से चित्रित करता है। दोनों के कथानक में एक मूल अन्तर यह है कि 'आधे-अधूरे' में पारिवारिक विघटन उस स्तर तक नहीं दिखता है जितना कि 'द्रौपदी' में देखा जा सकता है। 'आधे-अधूरे' में सावित्री और महेन्द्रनाथ के परिवार में जैसे पुत्र की पिता के प्रति सहानुभूति दिखती है और कमोबेश बड़ी बेटी बिन्नी का लगाव अपनी माता सावित्री से भी दिखता है। इस रूप में यह कहा जा सकता है कि 'आधे-अधूरे' में कहीं न कहीं पारिवारिक मूल्यों का कुछ अंश उनके रिश्तों में बचा हुआ देखा जा सकता है। किन्तु 'द्रौपदी' नाटक में पारिवारिक विघटन पूर्णतः अपने चरम पर देखा जा सकता है। जिसमें न कोई मर्यादा है न परंपरागत पारिवारिक-मूल्यों के प्रति आस्था। बस जीवन की केंद्रीय धुरी काम केन्द्रित हो चुकी दिखती है। जो कि आज के उत्तर-आधुनिक समय की एक बड़ी विसंगति है। ऐसा कहना गलत नहीं होगा ।

'आधे-अधूरे' और 'द्रौपदी' नाटक के पात्रों की तुलना करें तो पाते हैं कि दोनों ही नाटकों के पात्र एक ऐसे परिवार से संबंधित हैं, जिनमें किसी भी सदस्य के बीच किसी भी प्रकार का आपसी तालमेल नहीं है। 'आधे-अधूरे' नाटक में मुख्य पात्र हैं- सावित्री और महेन्द्रनाथ, जो पति-पत्नी हैं। इनके तीन बच्चे बिन्नी, किन्नी, और अशोक हैं। इसके अतिरिक्त अन्य पात्रों में जगमोहन, सिंघानिया

और जुनेजा हैं, जो सहायक पात्र के रूप में हैं। कथा के विकास में इन पात्रों का अपना ही महत्त्व है। 'द्रौपदी' नाटक के पात्रों की बात करें तो मुख्य पात्रों में मनमोहन और सुरेखा हैं। इनके दो बच्चे हैं, अलका और अनिल। इसके अतिरिक्त मनमोहन के ही और चार रूप हैं- सफेद, काला, पीला, और लाल नकाबवाला। मनमोहन के ये चार व्यक्तित्व आधुनिक मानव के भिन्न-भिन्न चरित्र हैं। इन पात्रों की भी नाटक के मूल अर्थ को व्यंजित करने में विशेष भूमिका है। इसके अतिरिक्त नाटक में कई ऐसे पात्र है जो कथा को विस्तार देने में तथा आधुनिक जीवन के रूपों को चित्रित करने में सहायक हैं। जैसे अंजना, रंजना, वंदना, मंदा आदि। 'आधे-अधूरे' की तुलना में 'द्रौपदी' नाटक में पात्र-चरित्र अधिक हैं।

सर्वप्रथम दोनों ही नाटकों के स्त्री पात्रों को देखें तो 'आधे-अधूरे' में मुख्य स्त्री पात्र सावित्री है और 'द्रौपदी' में मुख्य स्त्री पात्र सुरेखा है। दोनों के चरित्र की तुलना परंपरा और आधुनिकता की दृष्टि से करें तो सावित्री और सुरेखा दोनों के ही चरित्र में परंपरा और आधुनिकता देखी जा सकती हैं। किन्तु सावित्री के चरित्र में परंपरागत तत्व आधुनिकता के साथ समाहित होकर आते है, पृथक रूप में नहीं। सावित्री के चरित्र पर दृष्टि डालें तो वह एक आधुनिक नारी प्रतीत होती है जो अपनी जिम्मेदारी का निर्वाहन करने के साथ-साथ अपनी आकांक्षाओं को भी जीना चाहती है। इस सन्दर्भ में आभा गुप्ता ठाकुर लिखती हैं, "सावित्री के विषय में राकेश ने लिखा है कि उसकी उम्र चालीस के लगभग है, पर चेहरे पर यौवन की चमक और चाह फिर भी शेष है। इससे स्पष्ट है कि समकालीन जीवन के दबावों से संघर्ष करती हुई इस स्त्री ने अभी तक जीवन से हार नहीं मानी है। एक ओर अस्मिता के प्रति सचेत है तो दूसरी ओर अपने परिवार के प्रति दायित्व का भी पूरा निर्वाह करती है।"[43] सावत्री के चरित्र में आधुनिकता इस तरह देखी जा सकती है कि वह स्वयं को किसी वस्तु के समान परिभाषित नहीं होने देती है, बल्कि इस्तेमाल होने की मानसिकता के विरुद्ध संघर्ष करती है। सावित्री न तो अपने पति महेन्द्रनाथ के साथ खुश रह पाती है और न ही उससे मुक्त हो पाती है। सावत्री अपने स्तर से अपने घर के अभाव को दूर करना चाहती है, जिसके लिए वह सिंघानिया को घर भी बुलाती

है ताकि उसके बेटे अशोक को नौकरी मिल जाए। किन्तु इसके पश्चात् भी उसे घर में पति महेन्द्रनाथ और बेटे अशोक से सराहना नहीं मिल पाती है। घर के बाकी लोगों में किसी भी बातों को लेकर एकता या समान भाव नहीं है। ऐसे में सावित्री बार-बार अपनी ज़िंदगी से तंग आकर इस घर को छोड़ देना चाहती है किन्तु छोड़ नहीं पाती है। कुल मिलाकर सावित्री के घर में घर वाली कोई भी बात नहीं होती है। हर एक चरित्र और हर एक रिश्ता अपने में अलग खंडित है, "इतनी गर्द भरी रहती है हर वक्त इस घर में !"[44] इस वाक्यांश से बोध होता है कि सावित्री के घर का परिवेश कैसा है। ऐसे में सावित्री जहाँ एक स्त्री होने के नाते अपने दायित्व का निर्वाह करती है। घर की पूरी जिम्मेदारी उठाती है, तब वह एक परंपरावादी दिखती है। माता होने के नाते या पत्नी होने के नाते अपने दायित्व का पूर्णतः निर्वाह करती है, किन्तु इस निर्वहन में किसी दायरे में बंधकर नहीं रहती है, बल्कि अपने घर की परिस्थितियों को बेहतर बनाने के लिए हर एक संभव प्रयास करती है। चाहे घर पर अपने बॉस सिंघानिया को ही बुलाना क्यों न पड़े। वह आधुनिक नारी की भांति व्यवहार करती है। तभी वह अपनी निजी ज़िंदगी के बारे में भी सोचती है। सावित्री महेन्द्रनाथ से विवाह जिन इच्छाओं से करती है, घर बसाती है उसे वह अधूरा पाती है। इन कारणों से वह बार-बार घर से बाहर निकलने का प्रयास करती है। अलग-अलग लोगों से जुड़ती है, लेकिन असफल रहती है। कहते हैं जब एक पुरुष अपने परम्परवादी रूपों को त्यागकर आधुनिक तत्वों को ग्रहण करता है तो वह कोई विशेष विवाद का मुद्दा नहीं बनता है। लेकिन एक स्त्री जब परंपरा को त्याग कर आधुनिक बनती है तो कई सवाल कई विवाद खड़े हो जाते हैं। इसीलिए सदा से समाज को यह उम्मीद रहती है कि स्त्री परंपरा का वाहक बने। स्त्रियों को परंपरागत रूप से जो जिम्मेदारियाँ सौंपी गई थीं, जैसे घर और बच्चों की देखभाल, गृहस्थी संभालना आदि, वह उनके हिस्से आज भी हैं। जिसका पालन वह आज भी कर रही है। नाटक में सावित्री भी अपने घर के प्रति एक समय तक चिंतित दिखती है और घर के हालात को ठीक करने के लिए प्रयासरत रहती है, किन्तु इसके पश्चात् भी जब घर के लोगों का सहयोग नहीं प्राप्त होता है, तब वह उनसब से बाहर निकलना चाहती है। अपनी ज़िंदगी

को अपनी शर्तों पर जीना चाहती है। लेकिन बार-बार उसकी घर वापसी इस बात को इंगित करती है कि कहीं न कहीं उसके अन्दर दाम्पत्य जीवन के संस्कार जीवित बचे हुए हैं। शायद इस रूप में सावित्री को देखें तो वह एक परंपरावादी स्त्री दिखती है। लेकिन वक्त के साथ जैसा कि स्त्री के हिस्से आधुनिक जीवन शैली में अतिरिक्त जिम्मेदारियाँ बढ़ गई हैं। ऐसे में वह सावित्री की भांति घर से बाहर निकली है और तमाम उलझनों का सामना करती है। हर रोज एक नई चुनौती सामने होती है, उन्हीं में वो घिसती-पिसती है। वह भी इस आधुनिक यांत्रिक दुनिया का हिस्सा बन चुकी है। वह भी अपनी जरूरतों को पूरा करने के लिए या जीवन लक्ष्य को पाने के लिए व्यावहारिक हो जाती है। आधुनिकता के नकारात्मक और सकारात्मक दोनों पक्षों को ग्रहण कर लेती है, "परंपरा और आधुनिकता जैसे प्रश्न सावित्री के सामने प्रश्नचिन्ह बनकर खड़े रहते हैं और वह निर्णय लेने से कतराती है। स्त्रियों से यह अपेक्षा सदा रहती है कि वह परंपरा की वाहक बनेंगी। परंपरा में स्त्रियों को जो जिम्मेदारियाँ सौंपी गई थीं, कमोबेश आज भी उनके हिस्से में वे सब जिम्मेदारियाँ हैं। उनकी पारंपरिक भूमिका में कोई काट-छाँट नहीं हुई है, लेकिन आधुनिक जीवनशैली ने उन पर कुछ और जिम्मेदारियाँ भी लाद दी हैं। सावित्री भी अपनी पारंपरिक एवं आधुनिक दोनों भूमिकाओं के पाटों में पिसती और घिसती नज़र आती है। परंपरागत नारी से आधुनिक नारी के इस संक्रमण का ऐसा दृश्यांकन दुर्लभ है।" [45] सावित्री भी नाटक में प्रतीक है आज की उनआधुनिक स्त्रियों की, जो इस आधुनिक समय की नब्ज़ को पहचान चुकी हैं, वह उसी के मुताबिक व्यवहार करती है। अतः सावित्री कहीं परंपरागत चरित्र में दिखती है तो कहीं उसका चरित्र आधुनिक प्रतीत होता है।

'द्रौपदी' नाटक की मुख्य स्त्री पात्र सुरेखा के चरित्र की तुलना यदि हम 'आधे-अधूरे' के सावित्री से करें तो सुरेखा एक ऐसी पात्र है जो खुद को परंपरावादी स्वरूप से आधुनिक चरित्र तक ढालकर ले जाती है। ऐसे में सुरेखा को भी सावित्री की भांति परंपरावादी और आधुनिक चरित्रों में देखा जा सकता है। इस नाटक में सुरेखा महाभारत की द्रौपदी के समान आभासित होती है। जैसे महाभारत की द्रौपदी के पांच पति होते हैं, उसी प्रकार इस नाटक में भी सुरेखा के पति मनमोहन के चार अतिरिक्त

चरित्र हैं, जिसका आभास कई मौकों पर होता है, "वह अपनी सहेली मंदा के साथ बातचीत में पूर्णतः स्पष्ट करती है कि विवाह के पश्चात् उसका आदमी एक नहीं एक से ज्यादा है। जैसे उनके हिस्से हो गए हैं, अलग-अलग और कभी एक से उसका सामना होता है और कभी दूसरे से।"[46] इस प्रकार सुरेखा महाभारत की द्रौपदी के समान प्रतीत होती है, जो आधुनिक युगीन एक ऐसी उच्चमध्यवर्गीय नारी है, जिसका सामना अपने पति मनमोहन के भिन्न-भिन्न व्यक्तित्वों से ही होता है। सुरेखा सावित्री के समान अपनी आकांक्षाओं को जीने का प्रयत्न करती नहीं दिखती है। सावित्री के समान सुरेखा सशक्त नहीं है। एक भारतीय परंपरावादी स्त्री के समान पति के सन्दर्भ में चुप ही रहती है। मनमोहन के अलग-अलग स्त्रियों से संबंध के बारे में जानते हुए भी वह चुप रहती है। सुरेखा में किसी भी प्रकार का कोई प्रतिरोध दिखता ही नहीं है। वह अपनी उपेक्षा चुपचाप सह लेती है। जैसे कि उसकी ज़िंदगी की यही नियति हो। सुरेखा का यह स्वभाव और चरित्र उसे एक भारतीय परम्परवादी नारी के रूप में प्रस्तुत करता है, जो अपना अस्तित्व पति से पृथक करके देखती ही नहीं है और इस प्रकार की उपेक्षा या प्रताड़ना को अपनी किस्मत के साथ जोड़कर देखने लगती है, "सुरेखा: जैसे उसके हिस्से हो गए हैं अलग-अलग और कभी एक से तुम्हारा सामना होता है और कभी दूसरे से..जैसे कभी वो दफ्तर में डूबा रहता है, कभी घर में, कभी ऊपर-ऊपर से मुझे छू के ही उसका मन भर जाता है और कभी वो एक-एक बोटी नोंच डालता है मेरी।

मंदा: ऐसा तो मुझे भी लगता है अक्सर।

सुरेखा: और कभी उसके बदन से दूसरी औरत की बू आती है।

यह सब सहना जैसे सुरेखा की नियति है। मानो पति के साथ निर्वाह का तरीका परंपरा से उसने यही ग्रहण किया है।"[47] इस रूप में देखें तो सुरेखा सावित्री के समान अपनी आकांक्षाओं को जीने के लिए प्रयास नहीं करती है, उसमें एक निराशा का भाव है। सुरेखा के इस पूरे प्रकरण की समीक्षा करें तो एक-दूसरी दृष्टि से सुरेखा आधुनिक भी प्रतीत होगी, क्योंकि आज उच्चमध्यवर्गीय परिवारों की

स्त्रियाँ अपने पति के पर स्त्रियों के साथ संबंध के बारे में जानते हुए भी किसी भी प्रकार की प्रतिक्रिया नहीं करती हैं। अतः बाह्य रूप से ये स्त्रियां दिखती तो सुखी और प्रसन्न हैं, किन्तु उनकी पूरी आंतरिक दुनिया खंडित और अधूरी ही होती है। इस प्रकार आज सुरेखा की ज़िंदगी प्रतीकात्मक रूप से बड़े शहरों और उच्च-मध्यवर्गीय परिवार की स्त्रियों की कटु सच्चाई बन चुकी है। नाटक में देखें तो सुरेखा भी अपने अकेलेपन की नियति को स्वीकार कर चुकी होती है। पति मनमोहन का अस्तित्व उसके अस्तित्व पर अविलंबित होता है।

सुरेखा और सावित्री के चरित्र में एक जो समानता है, वह है अपने घर के प्रति उत्तरदायित्व। सावित्री अपने बेटे अशोक को नौकरी दिलाने के लिए अपने स्तर से कोशिश करती है। जिसके लिए वह अपने बॉस सिंघानियां से नजदीकियाँ बनाकर रखती है, उसे घर भी बुलाती है। जिसमें उसकी घर के प्रति चिंता दिखती है। वहीं सुरेखा का चित्रण एक उच्चमध्यवर्गीय स्त्री के रूप में है। इसके बावजूद वह नाटक के प्रथम अंक में घर के सभी लोगों को जिस प्रकार नाश्ते के लिए बुलाती है, उससे उसके अन्दर एक ऐसे परंपरावादी स्त्री की छवि दिखती है, जो माँ होने के नाते अपना उत्तरदायित्व निभाती हुई दिखती है, "सुरेखा: (मेज़ पर इधर-उधर करने लगती है। एक ओर देखती हुए, पुकारकर) अलका (दूसरी तरफ देखते हुए) नील नाश्ता लग गया।

मनमोहन: अच्छा।

सुरेखा: पहले क्या लोगे ? टोस्ट, या आमलेट या हलवा ?

मनमोहन: कुछ भी।

सुरेखा: चाय, काफी या दूध ?

मनमोहन: कुछ भी। ये दोनों नहीं आये ?

सुरेखा: लकी नहाने गयी है नीचे, और वो लाटसाहब अभी-अभी सो के उठे हैं।"[48]

अतः यह कहा जा सकता है कि सुरेखा उच्चमध्यवर्गीय परिवार की होते हुए भी उसके चरित्र का एक पक्ष यह है कि वह भारतीय परिवार की परंपरा का निर्वाह करती हुई दिखती है जिसमें माता की अपने बच्चों के प्रति चिंता और उत्तरदायित्व होता है।

सुरेखा अपने समकालीन समाज के चरित्र और स्वभाव को जानती है। तभी आगे सुरेखा परंपरा के साथ-साथ आधुनिकता के मानदंडो पर भी खरी उतरती है। सुरेखा अपनी बेटी अलका से उसके यौन- संबंध के सन्दर्भ में पूछती है। यहाँ पूछना उस सन्दर्भ में नहीं है, जहाँ माँ को पुत्री के ऐसे संबंधों की जानकारी होने पर बड़े कड़े शब्दों में प्रश्न किये जाते थे, बल्कि यहाँ सुरेखा का प्रश्न जिज्ञासावस है। जिसका अर्थ निकलता है कि सुरेखा को अपनी बेटी अलका के यौन सबंध की जानकारी पूर्व ही होती है और वह इस सन्दर्भ में कुछ नया जानने की इच्छा से पूछती है,

"सुरेखा: (कुछ रुककर) बात कहाँ तक पहुँची ?

अलका: क्या मतलब ?

सुरेखा: कुछ शादी-वादी की बात की उसने ?

अलका: नहीं।

सुरेखा: क्यों ?

अलका: अब ये मैं कैसे जान सकती हूँ ? उसके भीतर जा घुसने का तो कोई रास्ता है नहीं !

सुरेखा: देख, मोटी सी बात समझ ले। वो तुझे चाहता है ?

अलका: हाँ।

सुरेखा: बहुत न ?

अलका: कहता तो है।

सुरेखा: बस तो फिर .. ढंग से ज़रा मामले को आगे बढ़ाने की जरूरत है। थोड़ी देर चाँद-सितारों की बातें करके, उसे जज्बाती बनाकर..

अलका: तो क्या करूँ ? जबरदस्ती बंध जाऊं उसके गले ?

सुरेखा: जबरदस्ती क्यों, राजी-ख़ुशी देती जा उसे जो कुछ वो चाहता है ! कहाँ तक ?

अलका: मम्मी !

सुरेखा: क्यों ? जब इतनी छूट देती हूँ तुझे तो जानने का हक़ नहीं रखती मैं ? कहाँ तक ?"[49]

सुरेखा सावित्री के समान ही आधुनिक युग के बदले हुए मूल्य को समझती है। वह जानती है कि आज की इस आधुनिक दुनिया में रिश्तों का आधार आत्मीय प्रेम नहीं रह गया है, बल्कि मांसल हो चुका है। ऐसे में सुरेखा अपनी बेटी अलका को आज के उन आधुनिक उपायों का सुझाव देती है जिनसे उसे आने वाली ज़िंदगी में सब कुछ मिल जाएगा। एक घर, एक पति और वह सभी भौतिक सुख जिसकी कल्पना हर एक व्यक्ति इस आधुनिक काल में करता है।

इस प्रकार 'आधे-अधूरे' की सावित्री और 'द्रौपदी' की सुरेखा एक आधुनिक युगीन ऐसी स्त्रियाँ हैं जिनके चरित्र का एक पक्ष यह है कि वे अपने मध्यवर्गीय पारिवारिक जीवन में मातृत्व और अपना व्यक्तिगत दोनों दायित्व निभाती है। इस रूप में उनके चरित्र की परंपरागत छवि उभरकर सामने आती है। किन्तु यही स्त्रियाँ जब अपनी आकांक्षाओं और व्यक्तिगत जीवन सुखों की कल्पना करती हैं, तो वह पुरानी सभी परंपराओं को त्याज्य अपने लिए नवीन मार्ग तलाशती हैं। वे स्त्रियों के लिए बनाई गई मर्यादाओं को मानने से इनकार कर देती हैं। 'द्रौपदी' नाटक में यदि मनमोहन कई स्त्रियों से यौन-संबंध बना सकता है, तो 'आधे-अधूरे' में सावित्री कई पुरुषों के साथ संबंध स्थापित करती है। इस विघटित समाज, परिवार का यह एक कड़वा सच बनता जा रहा है कि व्यक्ति स्वयं में पूर्ण नहीं है। अतः अपने आस-पास भी दूसरे में अपूर्णता ही पाता है। अतः एक पूर्ण रिश्ते की तलाश में भटकता है, जिसके माध्यम से एक सुखी ज़िंदगी की कल्पना की जाए। आज के आधुनिक जीवन के बदले

हुए मूल्यों का बोध सावित्री और सुरेखा जैसी स्त्रियों में भी खूब है। ऐसे में परिवार और परिवार के सदस्यों का जीवन में मार्गदर्शन भी बदले हुए आधुनिक जीवन मूल्यों के आधार पर ही करती हैं। जिसमें स्त्री और पुरुष का संबंध उसके आत्मीय प्रेम के आधार पर तय करने की प्रेरणा नहीं देती हैं, बल्कि यौन संबंधों के माध्यम से उन रिश्तों को पाने के सुझाव और तरीके सुझाती हैं। इस प्रकार 'आधे-अधूरे' की सावित्री और 'द्रौपदी' की सुरेखा के चरित्रों के सन्दर्भ में यह कहा जा सकता है कि दोनों के चरित्र में कहीं परंपरा तो कहीं आधुनिकता का बोध है।

सावित्री और सुरेखा के अलावा इन दोनों नाटकों में कुछ अन्य स्त्री पात्र भी हैं, जिनका नाट्य-कथा में विशेष महत्त्व है। 'आधे-अधूरे' में सावित्री की बड़ी बेटी बिन्नी और छोटी बेटी किन्नी तथा 'द्रौपदी' नाटक में सुरेखा की बेटी अलका। बिन्नी और किन्नी की तुलना यदि अलका से करें तो बिन्नी, किन्नी और अलका पूर्णतः आधुनिक स्त्री चरित्र हैं। इसके बावजूद इन दो नाटकों के इन स्त्री चरित्रों में हम देखें तो कुछ भिन्नताएँ देखी जा सकती हैं। इनकी पारिवारिक परिस्थितियों के माध्यम से इनके चरित्रों को समझा जा सकता है। बिन्नी और किन्नी दोनों जिस परिवार से संबंधित हैं वह परिवार एक आधुनिक युगीन मध्यवर्गीय विघटित परिवार है। जहाँ किसी भी पारिवारिक सदस्य में किसी भी प्रकार का समांजस्य नहीं है। हर एक व्यक्ति घर में एक-दूसरे से कटा हुआ है। सबने अपने आस-पास एक अलग ही दुनिया निर्मित कर ली है। जैसे बड़ी बेटी इस घर से ऊबकर अपने लिए एक नए घर की तलाश में अपनी माँ के पूर्व प्रेमी मनोज के साथ भागकर विवाह कर लेती है, लेकिन मनोज के साथ भी खुश नहीं रह पाती है और पुनः घर लौटकर आ जाती है। अशोक अपने पिता के समान बेकारी झेलता है और अपना वक्त अभिनेत्रियों की तस्वीरें काटकर दीवारों पर चिपकाने में बिताता है। छोटी बेटी घर के इस माहौल से अशिष्ट और जिद्दी हो चुकी है। घर से उसे बहुत लगाव नहीं है और अपनी इस छोटी-सी उम्र में ही अश्लील यौन किस्सों, पुस्तकों और तस्वीरों में रुचि लेती है।

बिन्नी और किन्नी के सन्दर्भ में यह कहा जाता है कि ये दोनों अपनी माँ सावित्री की प्रतिछाया हैं। दोनों का चरित्र अपनी माता के समान ही है, "'आधे-अधूरे' नाटक में दूसरी स्त्री चरित्र है- बिन्नी, सावित्री की बेटी। बिन्नी एक तरह से अपनी माँ का एक्सटेंसन ही है।"[50] दरसल जिस प्रकार सावित्री को चिंता अपने घर की होती है ठीक उसी प्रकार बिन्नी को भी मनोज के साथ बसाए अपने घर की होती है। वह सोचती है कि यदि यह घर बच जाएगा तो उसका भी घर बच जाएगा। दरसल बिन्नी भी सावित्री के समान अपने दाम्पत्य जीवन में खुश नहीं है। जिस प्रकार सावित्री महेन्द्रनाथ को पूर्ण नहीं मानती और कई बार उससे अलग हो जाना चाहती है। बिन्नी भी अपने पति मनोज में अधूरापन ही देखती है। जिस घर की तलाश में वह मनोज के साथ विवाह करती है, वह घर की तलाश उसकी अपूर्ण रह जाती है। अतः अपने पति को छोड़ वह पुनः लौटकर अपने माता-पिता के घर आ जाती है। दरअसल बिन्नी और किन्नी के इस चरित्र निर्माण में इनके घर और परिवार की विघटित परिस्थितियों की अहम् भूमिका है। लेकिन इसके लिए प्रत्यक्ष रूप से माता-पिता अर्थात् सावित्री या महेन्द्रनाथ किसी भी प्रकार से इन दोनों को प्रेरित नहीं करते हैं। दूसरी ओर देखें तो 'द्रौपदी' नाटक में सुरेखा अपनी बेटी अलका को यौन-संबंधों के लिए छूट देती है। उसे स्वयं तरीके बताती है जिससे वह अपने प्रेमी से अपना उद्देश्य पूरा कर सके। ऐसे में देखें तो अलका का चरित्र बिन्नी और किन्नी से अधिक विघटित है। जिसमें उसकी माँ सुरेखा का प्रत्यक्ष रूप से सहयोग है। बिन्नी और किन्नी एक मध्यवर्गीय परिवार की लड़कियाँ हैं जिनके चरित्र का यह निर्माण पारिवारिक परिस्थितिजन्य निर्मित होता है। किन्तु अलका उच्च मध्यवर्गीय परिवार की लड़की है, जिसे कहें तो इस उत्तर-आधुनिक युग के वातावरण में स्वयं उसकी माँ सुरेखा एक तरह से प्रशिक्षित करती है। आज के इस उत्तर-आधुनिक काल में कैसे अपनी जरूरतों को पूरा करते हैं, उसे स्वयं बताती है।

निष्कर्षतः दोनों ही नाटकों के ये अन्य स्त्री पात्र बिन्नी, किन्नी और अलका के चरित्रों के संदर्भों में यह कहा जा सकता है कि आधुनिक परिवार के ये अपूर्ण पात्र चरित्र हैं। ये तीनों भी मुख्य स्त्री पात्र के समान सम्पूर्णता की खोज में भटकते रहते हैं। खुद इनका व्यक्तित्व खंडित है, जिससे ये अपने ही

परिवार के लोगों के साथ सामंजस्य नहीं रखते हैं और घर में एक-दूसरे के प्रति कटु व्यवहार रखते हैं। अंततः यह कहा जा सकता है कि बिन्नी और किन्नी आधुनिक युग में खंडित और भटक गए युवाओं का प्रतीक हैं। भटकाव का आरंभिक रूप हम बिन्नी और किन्नी के चरित्र में देख सकते हैं और इस भटकाव का परिपक्व रूप अलका के चरित्र में देख सकते हैं। बिन्नी और किन्नी की तुलना में अलका का चरित्र अधिक विघटित, खंडित और भटका हुआ है।

मोहन राकेश कृत नाटक 'आधे-अधूरे' के महेन्द्रनाथ और सुरेन्द्र वर्मा कृत नाटक 'द्रौपदी' के मनमोहन के चरित्र का तुलनात्मक अध्ययन करें तो दोनों ही आधुनिक युगीन समाज के खंडित पात्र-चरित्र हैं। सर्वप्रथम महेन्द्रनाथ के चरित्र को देखें तो वह एक ऐसा आधुनिक इंसान है, जो अपनी ज़िंदगी की लड़ाई हार चुका है। जिसमें इससे बाहर निकलने की एक छटपटाहट है। एक ओर आर्थिक पराजय ने उसे तोड़ दिया है तो दूसरी ओर से पत्नी की कमाई पर जीवन यापन करना उसे अन्दर से पूर्णतः ही तोड़ देता है। इस प्रकार महेन्द्रनाथ तीन स्तरों से पराजित है। पहला आर्थिक रूप से, दूसरा अपनी निजी चिंताओं तथा अपने अहं से और तीसरा अपने पारिवारिक संबंधों में वैमनस्य से वह खुद को पराजित महसूस करता है। महेन्द्रनाथ एक मध्यवर्गीय परिवार के उस मुखिया का प्रतीक है जो खुद में पराजित है। जो अपने घर, अपने परिवार और परिवार के सदस्यों के लिए कुछ नहीं कर सका। इसीलिए अपने ही घर में वह परायेपन और अकेलेपन को झेलने के लिए विवश है। महेन्द्रनाथ आंतरिक और बाह्य दोनों ही रूपों में अलग-अलग धरातल पर जीता है। ऐसी स्थिति आज कमोबेश लगभाग अधिकांश महानगरीय लोगों की है। आज महेन्द्रनाथ के समान ही आधुनिक व्यक्ति कई चरित्रों को जीता रहता है। नाटक के प्रारंभ में काले सूटवाले जिसको महेन्द्रनाथ का ही एक रूप माना गया है। या यूं कह लें कि काले सूटवाला प्रतीक है, आज उस हर एक व्यक्ति का जो सड़क पर चल रहा है या कहीं भी मौजूद है। जो अपनी ज़िंदगी में कई चरित्रों के माध्यम से जीता रहता है। नाटक में काले सूटवाले के संवाद से इस बात की पुष्टि होती है, "जो मैं इस मंच पर हूँ, वह यहाँ से बाहर नहीं हूँ, और जो बाहर हूँ-शायद अपने बारे में इतना ही कह देना काफी है कि सड़क

पर, फुटपाथ पर चलते हुए, आप अचानक जिस आदमी से टकरा जातें हैं, वह मैं हूँ। बात इतनी ही है कि विभाजित होकर भी किसी-न-किसी अंश में आप में से हर एक व्यक्ति हूँ। यही कारण है कि नाटक के बाहर हो या अन्दर मेरी कोई निश्चित भूमिका नहीं है।"[51]

'द्रौपदी' नाटक के मनमोहन की तुलना महेन्द्रनाथ से करें तो मनमोहन उच्च मध्यवर्गीय परिवार का एक मुखिया है। मनमोहन महेन्द्रनाथ की भांति आर्थिक रूप से पराजित नहीं है, किन्तु वह एक ऐसे आधुनिक समाज का चरित्र है जो महानगरीय जीवन में खंडित है, तनावग्रस्त जीवन जीता है। 'आधे-अधूरे' का महेन्द्रनाथ जहाँ आर्थिक रूप से टूटा हुआ है। जिसका परिवार के सदस्यों के मध्य कोई विशेष महत्त्व नहीं है। व्यक्तिगत रूप से वह किसी भी प्रकार से अपने परिवार से जुड़ नहीं पाता है। वहीं मनमोहन घर से बाहर अपने भौतक और काम-सुखों के पीछे बेतहासा भागता ही रहता है। उसे अब अपनी पत्नी सुरेखा में विशेष रुचि नहीं है। जिस प्रकार 'आधे-अधूरे' में पुरुष एक, पुरुष दो, पुरुष तीन कहकर प्रतीक रूप में अन्य पात्रों को प्रस्तुत किया गया है और यह माना गया है कि ये किसी न किसी रूप में महेन्द्रनाथ की ही प्रतिछाया हैं, "महेंद्र, जगमोहन, सिंघानियां, जुनेजा सभी मिलकर आज के आधुनिक मनुष्य के संश्लिष्ट रूप हैं। वे एक-दूसरे के पूरक हैं। महेंद्र के स्थान पर जगमोहन या जुनेजा को रखने से स्थिति में कोई परिवर्तन नहीं हो सकता। इन सभी पात्रों के गुणों को एक में समन्वित करने से ही एक पूर्ण आधुनिक व्यक्ति की सहज प्रतीति हो जाती है।"[52]

उसी प्रकार मनमोहन के व्यक्तित्व के पांच रूप हैं और जब मनमोहन को अपनी पत्नी सुरेखा में ताजगी नहीं मिलती तब उसके व्यक्तित्व का लाल नकाबधारी उस पर हावी होता है, "लाल नकाबधारी इस रूप को अब सुरेखा में ताजगी नहीं मिलती है। अब सुरेखा में वह नएपन का अहसास, जो उसे पहले मिलता था, नहीं रहा। इसीलिए वह ताजगी और नयापन पाने के लिए सप्ताह में तीन-चार दिन ऑफिस के काम के बहाने घर से बाहर रहता है। इतना ही नहीं वह स्थाई रूप से हर सप्ताह शनिवार को महीने की चार रातें घर के बाहर रंजना, अंजना, वंदना के साथ बिताता है। इस प्रकार वह अपनी पत्नी सुरेखा के साथ विश्वासघात करता है।"[53]

इस तरह मनमोहन के व्यक्तित्व के कई और भी रूप हैं। जैसे-सफेद नकाबपोश जो प्रतीक है, मनमोहन की अंतरात्मा का, जो उसे हमेशा गलत कार्य करने से पूर्व आगाह करता है। साथ ही सत्यमार्ग पर चलने के लिए प्रेरित करता है। मनमोहन के अन्दर का यह सफेद नकाबपोश कहीं-न-कहीं हर एक इन्सान के अन्दर होता है जो उसे सही और गलत कार्यो में फर्क बताता है। किन्तु आज आधुनिकता और यांत्रिकता के पीछे भागते मनुष्य ने इस चरित्र को बहुत अधिक महत्त्व नहीं दिया है। पीला नकाबधारी प्रतीक है, आज के आधुनिक भौतिक सुखों के पीछे दौड़ते-भागते व्यक्ति का। उस व्यक्ति का जो हर पल दूसरे से आगे निकलने की फिक्र में रहता है और निरंतर भौतिक सुखों की प्राप्ति हेतु भागता ही रहता है। इसके बाद मनमोहन का लाल नकाबधारी, जो प्रतीक है अनैतिक-काम संबंधों में लिप्त, स्त्रियों की विवशता का फायदा उठाकर यौन शोषण करने वाले आधुनिक व्यक्ति का और मनमोहन का चौथा चरित्र है काले नकाबधारी का, जो भ्रष्ट और क्रूर है। काला नकाबधारी बहुत ही महत्त्वाकांक्षी है। यह अच्छाइयों को मार देना चाहता है। इसीलिए वह सफेद नकाबधारी पर तरह-तरह के ज़ुल्म करता है। मूलतः काला नकाबधारी आज के उन बुरे अत्याचारी, व्याभिचारी लोगों का प्रतीक है, जो समाज में बुराइयों को बढ़ावा देते हैं। समाज में व्याप्त सभी कार्यों को गलत रास्ते के माध्यम से ही करते हैं, जो नियम क़ानून को विशेष महत्त्व नहीं देते हैं। अतः यह कहा जा सकता है कि मनमोहन इस नाटक में प्रतीक है आज के उस आधुनिक महानगरीय जीवन में उस वर्ग का जो अत्यंत भोगवादी है। जो बाह्य रूप से दिखता तो एक है, किन्तु उसके कई और भी चरित्र मनमोहन के समान हैं। जो एक साथ कई चरित्रों को जीता रहता है। अतः इस वर्ग के लोग कई रूपों में खंडित हैं। जो अलग-अलग समय में अलग-अलग चरित्रों के माध्यम से जीते हैं।

महेन्द्रनाथ और मनमोहन दोनों के चरित्र का एक और पक्ष यह है कि महेन्द्रनाथ अपनी ज़िंदगी में हारा हुआ व्यक्ति है। वह अपनी इस ज़िंदगी से ऊब चुका है और कई बार वह घर से बाहर निकलता है एक नई ज़िंदगी की तलाश में, लेकिन हर बार वह छड़ी टेकते हुए घर वापस आ जाता है। कहने का अर्थ है कि वह अपने लिए एक सही मायने में घर की तलाश में घर को छोड़कर निकल जाता है,

लेकिन किसी भी रूप में वह सफल नहीं हो पाता है। वह हर बार वापस आकर अपने उसी घर में उस घुटनभरी ज़िंदगी जीने के लिए विवश होता है। कह सकते है कि मोहन राकेश ने महेन्द्रनाथ के माध्यम से आधुनिक मनुष्य के खंडित होते चरित्र को इस नाटक में चित्रित किया है। वहीं सुरेन्द्र वर्मा ने 'द्रौपदी' नाटक में जिस मनमोहन की कल्पना की है, उसका चरित्र कई रूपों में खंडित तो है, लेकिन उसके सभी खंडित व्यक्तित्व महेन्द्रनाथ के चरित्र से अधिक विघटित हो चुके हैं। ऐसा प्रतीत होता है जिस खंडित-विघटित जीवन को महेन्द्रनाथ जीता रहता है, उस जीवन का और भी विकृत रूप मनमोहन जीता है। ऐसा जान पड़ता है जैसे यहाँ सिर्फ पात्र का नाम बदल गया हो और महेन्द्रनाथ मनमोहन बन गया हो एवं महानगरीय आधुनिक जीवन में उसका चरित्र और भी भ्रष्ट हो गया हो। महेंद्रनाथ अपने घर में कितना भी उपेक्षित क्यों न हो, कई बार हिंसात्मक क्यों न हो गया हो, लेकिन उसके बाद भी महेन्द्रनाथ वर्षों सावित्री के साथ ही अपना दाम्पत्य जीवन बिताता है, "नाटक के अंत में सावित्री के लम्बे कथनों से लगता है कि दोस्तों के हाथ की 'चीज' बनकर महेंद्र का अपना कोई व्यक्तित्व नहीं रह गया। वह दोस्तों के बीच रहने वाला महेंद्र ही बना रहना चाहता है, और इसके लिए महेंद्र घर के अन्दर रात-दिन छटपटाता है। दीवारों से सिर पटकता है। बच्चों को पीटता है और घर आकर बीवी पर हुक्म चलाता है। बीवी को जबरदस्ती अपनी इच्छानुसार चलाना चाहता है। सावित्री को पीटकर कहेगा कि 'बोल, चलेगी उस तरह कि नहीं, जैसे मैं चाहता हूँ ? बिना हाड़-मांस के पुतले जैसे इस आदमी से उसे चिढ़ होती जाती है, लेकिन सारी कटुता के साथ बाईस साल ज़िंदगी की काटती है उसके साथ।"[54] बाईस साल एक साथ किसी भी दाम्पत्य का तमाम मतभेदों के बाद भी साथ गुजार देना दोनों के अन्दर के प्रेम को दिखाता है, जो उनके अंदर बचा हुआ है। कहने का अर्थ यह है कि महेन्द्रनाथ के जीवन में आधुनिक जीवन की तमाम विसंगतियों, विघटन, टूटन बिखरन, अकेलापन, अधूरेपन के पश्चात् भी परंपरागत जीवन मूल्य का कुछ-एक अंश ही शायद उसे उस घर में बांधे रखता है। साथ ही घर के पारिवारिक वातावरण में कितनी भी घुटन क्यों न हो, उसके बाद भी मनमोहन के समान रिश्तों की गरिमा को तार-तार नहीं करता है। मनमोहन के संवादों को

सुनकर उसके चरित्र के संबंध में तो यह कहा जा सकता है कि उसके लिए पारिवारिक संबंध, उसकी गरिमा उसके लिए विशेष महत्त्व नहीं रखते हैं। सदियों से चली आ रही भारतीय परंपरा जिसमें माता-पिता की अपने बच्चों के प्रति विशेष जिम्मेदारी बनती है। जहाँ अच्छे संस्कारों से अपने बच्चों को सींचना उनका प्रथम दायित्व होता है। उन सभी उत्तरदायित्वों से मनमोहन दायित्वहीन ही दिखता है। इसके साथ ही वह आधुनिक और महानगरीय जीवन का वह भटका हुआ पात्र चरित्र है, जिसके लिए किसी भी संबंध उसकी मर्यादा विशेष महत्त्व नहीं रखता है। तभी उसकी पत्नी सुरेखा अपनी बेटी अलका के यौन-संबंधों की शिकायत करते हुए बताती है तो प्रत्युत्तर में मनमोहन जो जवाब देता है उसे सुनकर यह कहा जा सकता है कि मनमोहन आधुनिक महानगरीय जीवन का वह पात्र चरित्र है, जिसके लिए कोई भी संबंध का कोई विशेष महत्त्व नहीं है। वह अपने खंडित व्यक्तित्व चरित्र के माध्यम से सिर्फ अपने लिए ही जीता है, "सुरेखा: सुनी अपनी लाडली की बातें ?

मनमोहन: लाडली ? कब से चल रहा है यह सिलसिला ?

सुरेखा: छ: महीने से ?

मनमोहन: तुम्हारा क्या ख़याल है; यह लड़की सही बोल रही है ?

सुरेखा: किस बारे में ?

मनमोहन: लड़का निहायत ही बेवकूफ है।

सुरेखा: क्यों ?

मनमोहन: छह महीनों में सिर्फ ब्लाउज के बटनों तक पहुँच सका।

सुरेखा: तुम्हें शर्म नहीं आती ? इस तरह बोलते हो अपनी बेटी के लिए ?

मनमोहन: वो मेरी बेटी नहीं है।

सुरेखा: अब मुझे गाली देते हो !"[55]

अतः इन संवादों के माध्यम से मनमोहन के चरित्र के सन्दर्भ में यह स्वतः ही कहा जा सकता है कि महेन्द्रनाथ की तुलना में उसका चरित्र अधिक विघटित और आधुनिक जीवन की विसंगतियों से भरा हुआ है। साथ ही उसका चरित्र अधिक खंडित, पथभ्रमित और पथभ्रष्ट हो चुका है।

सुरेन्द्र वर्मा द्वारा रचित दो और ऐसे नाटक हैं जो कि आज के विघटित आधुनिक रिश्तों की परतों को खोलते हैं। वे नाटक हैं 'एक दूनी एक'(1987 ई.) और 'शकुंतला की अंगूठी'(1990 ई.)। 'आधे-अधूरे' के पात्रों के समान ही अधूरेपन का बोध इन दो नाटकों के पात्रों में भी होता है। इन दोनों नाटकों के पात्र-चरित्रों के मध्य भी रिश्तों में कोई ठहराव नहीं दिखता है।

5.5 'आधे-अधूरे' और 'शकुंतला की अंगूठी'

परंपरा और आधुनिकता की दृष्टि से यदि हम 'शकुंतला की अंगूठी' और 'आधे-अधूरे' का तुलनात्मक अध्ययन करें तो हम पाते हैं कि 'आधे-अधूरे' के समान ही आधुनिक मानव टूटते-बिखरते रिश्तों और उन सबसे उत्पन्न एक अवसाद को 'शकुंतला की अंगूठी' में भी चित्रित किया गया है।

नाट्य-कथानक का प्रारंभ एक रंगसंस्थान 'कुछ न कुछ' द्वारा कालिदास रचित नाटक 'अभिज्ञान शाकुन्तल' के पूर्वाभ्यास से होता है। नाटक के इस पूर्वाभ्यास में 'शकुंतला की अंगूठी' का मुख्य नायक कुमार दुष्यंत के पात्र का अभिनय करता रहता है और कनक शकुन्तला के पात्र का। कनक और कुमार को कुछ ही दिनों के इस पूर्वाभ्यास में इस बात का आभास होता है कि दोनों एक-दूसरे से प्रेम करने लगे हैं और एक-दूसरे के प्रति आकर्षित हैं,

"कनक: तेरे मन की बात मैं नहीं जानती, लेकिन मेरे मन को रात-दिन प्रेम की ज्वाला बुरी तरह तपाती है।

कुमार: प्रेम की ज्वाला तुम्हें केवल तपाती है। लेकिन मुझे वह पूरी तरह जलाये देती है। चढ़ता दिन चाँद को जिस तरह जलाता है उस तरह कमलिनी को नहीं।"[56]

'अभिज्ञान शाकुन्तल' नाटक में 'शकुन्तला' के चरित्र को कनक पूर्णतः निभा पाने में खुद को असमर्थ पाती रहती है। इसका मुख्य कारण है कनक के जीवन का वह पूर्व का कटु अनुभव जिसके कारण कनक कुमार के साथ प्रेम-संबंध में जुड़ने के बाद भी प्रथम प्रेम-सा उत्साह महसूस नहीं करती है, क्योंकि कुमार के साथ प्रेम-संबंध में जुड़ने से पूर्व नील के साथ उसका प्रेम संबंध रहता है। जिसमें वह धोखा खा चुकी रहती है। सच्चा प्रेम जैसे शब्द उसके लिए बेईमानी-सा लगता है। जबकि नाटक में कालिदास के नाटक 'अभिज्ञान शाकुन्तल' की ऐसी पात्र शकुन्तला के पात्र-चरित्र का अभिनय करती रहती है, जो बहुत ही सरल स्वभाव की होती है। जिसने दुष्यंत से प्रथम बार निश्छल प्रेम किया था। जिसके प्रेम में निष्ठा और स्थायित्व है। प्रथम प्रेम में ऐसे कटु अनुभव के बाद कनक किस प्रकार शकुंतला के पात्र के साथ सामंजस्य बैठा पाती ? ऐसी स्थिति में वह कुमार के प्रेम को भी संशय की ही दृष्टि से देखती है,

"कुमार: अपने को क्यों जंजीरों में जकड़ रखा है आपने ? अपने को आप ढीला नहीं छोड़ सकती ? दूसरे पर विश्वास नहीं कर सकती ? आपने प्यार नहीं किया कभी ? कालिदास विश्वास करने की सबसे बड़ी कसौटी मानते हैं आँखें। ..क्यों ?

कनक: बात यह है कि एक बार विश्वास करके चोट खा चुकी हूँ मैं।"[57]

आज आधुनिक युग में मानवीय संबंधों में स्थायित्व नहीं रह गया है। प्रेम या किसी भी संबंध का आधार विश्वास होता है। ऐसे में यदि संबंधों के मध्य विश्वास ही खंडित हो जाए तो उस संबंध का धागा कितना मजबूत होगा ? कनक के प्रेम में यह पूर्व अनुभव, उसके चरित्र में अविश्वास पैदा कर देता है। कनक का चरित्र इस सन्दर्भ में 'आधे-अधूरे' की सावित्री के समान प्रतीत होता है। जिस प्रकार सावित्री महेन्द्रनाथ के साथ विवाह के पश्चात् भी महेन्द्रनाथ को अपूर्ण ही मानती है और हर बार पूर्णता की खोज में एक के बाद एक अन्य पुरुषों से जुड़ती है, किन्तु वह कहीं भी किसी भी पुरुष में पूर्णता नहीं पाती है। रिश्ते में उसे स्थायित्व नहीं मिल पाता है। उसी प्रकार कनक भी एक के बाद

एक पुरुष से संबंध तो स्थापित करती है, किन्तु हर बार प्रेम में उसे धोखा ही मिलता है। संबंधों की इस खोज में सावित्री से अलग कनक की ज़िंदगी की विडंबना थोड़ी अलग है। सावित्री महेन्द्रनाथ से विवाह करती है और बाईस वर्ष लगभग उसके साथ चाहे-अनचाहे साथ ही रहती है। जबकि कनक की ज़िंदगी या उसके समकालीन समाज का यह सच कहें जहाँ आज नवयुवकों और नवयुवतियों का एक ऐसा वर्ग उभरा है, जो विवाह जैसे बंधन में बंधना ही नहीं चाहता है। रिश्ते में बंधते तो हैं लेकिन वह रिश्ता क्षणिक होता है। नाटक में कनक को भी सावित्री के समान एक घर की खोज होती है। वह भी विवाह करना चाहती है। घर बसाना चाहती है। कनक प्रतीक है आज की आधुनिक स्त्रियों की, जो विवाह करना चाहती है लेकिन किसी और की शर्तों पर नहीं बल्कि अपनी शर्तों और पसंद से करना चाहती है। तभी वह पहले नील से प्रेम करती है और उससे विवाह करना चाहती है। लेकिन नील कनक से विवाह के सन्दर्भ में विशेष गंभीर नहीं होता है। नील का चरित्र इस सन्दर्भ में देखें तो प्रतीक है उस आधुनिक मानव का जो आज के समाज में विवाह जैसी परंपरा में भरोसा ही नहीं करता है। विवाह को दो लोगों का आत्मीय संबंध न मानकर जरूरत और गैर-जरूरत की दृष्टि से देखता है। तभी वह कनक से विवाह का वादा करके बाद में मुकर जाता है, "नील: मैं यह नहीं कह रहा कि शादी करूँगा ही नहीं। कुछ महीने तुमसे दूर रहकर देखूंगा, महसूस करूँगा कि तुम्हारा साथ मेरे लिए कितना जरूरी है।

कनक: (नर्म क्रूरता से) और ज्यादा जरूरी नहीं पाया गया तो जाहिर है कि शादी का सवाल ही नहीं पैदा होता।

नील: (कड़वाहट से) तुम ठीक समझ रही हो।"[58]

नील आज के उस आधुनिक पुरुष का प्रतिनिधित्व करता है, जो प्रेम और विवाह को अलग-अलग दृष्टि से देखता है। तभी वह कनक से यह दावा तो करता है कि वह उससे प्रेम करता है, किन्तु जब बात विवाह की आती है तब उसकी दृष्टि या विचार बदल जाते हैं और वह आज की भौतिकतावादी

दृष्टि से अपने प्रेम-संबंध को देखने लगता है और कनक के साथ विवाह-संबंध में बंधने के लिए भविष्य में उसकी जरूरत महसूस करना आवश्यक मानता है तथा प्रेम संबंध को आगे वैवाहिक-संबंध में परिवर्तित करने से इनकार कर देता है।

कनक भी नील के हाथों अपमानित होने और उसके साथ संबंध-विच्छेद होने के पश्चात् जीवन में आगे बढ़ जाती है। कनक भी जैसा कि आधुनिक स्त्रियों का ही प्रतिनधित्व करती है। अतः पौराणिक शकुन्तला की भांति वह भोली नहीं है, न ही अपने जीवन की नियति मानकर उसे सहती या आंसू बहती है, बल्कि जीवन में वह भी आगे बढ़ जाती है। सावित्री की ही भांति अपने लिए जीवन में नए विकल्पों को ढूंढने में लग जाती है। सावित्री और कनक के हालात कई बिन्दुओं पर एक से हैं। जैसे दोनों के यहाँ संबंधों में एक तनाव है। अंतर बस इनकी परिस्थितियों में है। सावित्री के रिश्ते में यह अधूरापन विवाह के पश्चात् है और कनक का विवाह से पूर्व। ऐसा प्रतीत होता है जैसे मोहन राकेश ने जिस सावित्री, उसका मध्यवर्गीय परिवार, परिवार के विघटन की कथा, संबंधों का अधूरापन और आधुनिक समाज में लोगों के बीच संबंधों की त्रासदी को प्रकट किया है, वह और भी आगे चलकर विकट हो गई हो। जिसे सुरेन्द्र वर्मा ने आगे चलकर अपने नाटकों में चित्रित किया है। जीवन की विसंगतियाँ इतनी गहरी हो चुकी हैं कि नील, कुमार, कनक की विवाह जैसी परंपरा में कोई विशेष रुचि ही नहीं रह गयी है। इसीलिए कनक भी अपने जीवन को अपनी दृष्टि से देखती है और विवाह के सन्दर्भ में अपनी माँ से तर्क-वितर्क करती है, "माँ : अब नहीं करोगी तब कब करोगी?

कनक : पता नहीं !

माँ : चम्पा और चमेली के तो एक-एक बच्चा भी हो गया।

कनक : मेरी तरफ से चार-चार हो जाएँ।

माँ : रामस्वरूप में तुम्हें कौन-सी बुराई दिखाई देती है।

कनक : जिसमें बुराई दिखाई न दे, उससे शादी कर लो ?"[59]

इस प्रकार कनक भी आधुनिक स्त्री ही है। जो विवाह करने के लिए दो लोगों के बीच समानता का होना आवश्यक मानती है। सावित्री और महेन्द्रनाथ का दाम्पत्य जीवन ऐसा उदाहरण है जिनके विचारों और जीवन शैली में समानता नहीं होने की वजह से ही पूरा परिवार खंडित होता है। पारिवारिक वातावरण में तनाव सा हर समय रहता है। इसीलिए कनक कई पुरुषों के साथ संबंध तो बनाती है, किन्तु उस संबंध के टूटने पर अफ़सोस नहीं जताती है। दो लोगों के बीच के संबंधों में कॉमन होना आवश्यक मानती है, वह शकुन्तला और दुष्यंत के रिश्तों के सन्दर्भ में उदाहरण देते हुए कहती है, "लेकिन भीतरी लगाव के लिए दोनों में कुछ कॉमन भी तो होना चाहिए। कहाँ हिरन के मुंह के घाव से परेशान मासूम लड़की और कहाँ हिन्दुस्तान की पेचीदी बागडोर थामने वाला राजा"[60]

संबंधों में समानता असमानता को टटोलते हुए कनक हो या सावित्री, कहीं न कहीं दोनों का लक्ष्य एक घर की खोज ही होता है। जिसमें हर बार वे असफल ही होती है। यह भटकाव, यह विखंडन ऐसा प्रतीत होता है जैसे आधुनिक मानव की नियति ही हो गई हो। नील के पश्चात् कुमार के साथ संबंध भी कनक का अधिक दिनों तक नहीं चल पाता है। नाटक के पूर्वाभ्यास में ही कनक कुमार को खुद को सौंप देती है। कुमार के पूछने पर कि वह क्या चाहती है ? कनक कहती है,

"कुमार : (कुछ रुककर) तुम क्या चाहती हो ?

कनक : (आवेग में) मैं तुम्हें चाहती हूँ, मैं अपना बच्चा चाहती हूँ, मैं अपना घर चाहती हूँ।"[61]

इस प्रकार देखें तो सावित्री हो या कनक या सावित्री की बड़ी बेटी बिन्नी कहीं न कहीं ये सभी आज की वे आधुनिक स्त्रियाँ हैं जो घर की खोज में सबंध स्थापित करती हैं। लेकिन आज समकालीन समाज का यह भी एक सच है कि व्यक्ति विशेष आंतरिक रूप से इतने द्वंद्व में है कि अपने लिए सही जीवन साथी तय नहीं कर पाता है। आज के यांत्रिक और भौतिकतावादी समय में लोग क्षणिक सुखों के पीछे अधिक भागते हैं। इसीलिए आज का व्यक्ति अन्दर से टूटा हुआ है, खंडित है। द्वंद्वों में घिरा हुआ व्याकुल है। सावित्री के लिए चाहे पति महेन्द्रनाथ हो, जगमोहन हो, जुनेजा हो,

सिंघानियां हो या कनक के लिए उसका प्रेमी नील या कुमार यहाँ सभी यह तय करने में असमर्थ होते हैं कि किसके साथ इनकी ज़िंदगी सफल है। अतः किसी न किसी कारण ज़िंदगी के किसी न किसी मोड़ पर एक-दूसरे को छोड़कर एक नए रिश्ते और एक घर की खोज में भटकते ही रहते हैं।

कनक कुमार से विवाह करना चाहती है, किन्तु कुमार भी कनक को अस्थाई नौकरी का कारण बताकर विवाह नहीं करना चाहता है। किन्तु कनक अपनी स्थाई नौकरी के बारे में कहती है तो कुमार अपने आत्मसम्मान से इसे जोड़कर देखता है और कनक को पीछे गर्भावस्था में ही छोड़कर चला जाता है। जहाँ एक बार फिर कनक अकेली रह जाती है। किन्तु कनक भी शकुन्तला की भांति किसी भी प्रकार का शोक नहीं मानती, वह भी इस आधुनिक समाज का हिस्सा है और उसने भी उन सारे दुखों को पचा लिया है। वह हर परिस्थिति से निपटना सीख चुकी है। इसीलिए कनक भी ऐसी परिस्थिति में इन्तजार नहीं करती, बल्कि ऑपरेशन करवा लेती है। आधुनिक समाज की यह कड़वी सच्चाई बन चुकी है जहाँ स्त्रियों ने भी खुद को बदल लिया है। भारतीय स्त्रियों ने भी परंपरागत जीवन-मूल्यों को त्याग कर आधुनिक जीवन के सभी जीवन-मूल्यों को अपना लिया है। भौतिक सुखों को प्राप्त करने की दौड़ में शामिल हो गई हैं। कनक, सावित्री, बिन्नी, सुरेखा, अलका आदि सभी आधुनिक समाज की प्रतीकात्मक पात्र ही हैं।

इस नाटक में अंगूठी प्रतीक है रिश्ते का, जिसे कनक बार-बार किसी न किसी को पहनाती है और हर बार वह किसी न किसी कारण वापस ले लेती है। कनक भी कुमार से अपनी अंगूठी वापस ले लेती है और सुदर्शन को पहना देती है। सुदर्शन जो सच्चे मन से कनक को अपना लेता है। कनक अपने अतीत के सन्दर्भ में सुदर्शन को बताती भी है, लेकिन सुदर्शन उसे अतीत कहकर अपना लेता है,

"सुदर्शन : मैं आपको हमेशा के लिए अपनाना चाहता हूँ।

कनक : (कुछ रुककर) आप नहीं जानते...मेरा अतीत है।

सुदर्शन : (दुखी मुस्कान से) अतीत तो होता है। फर्क इतना है कि साये कहीं हल्के होतें हैं, कहीं गहरे..हैं।

कनक : अगर मैं कहूँ साये गहरे हैं तो..

सुदर्शन : मैं कोशिश करूँगा कि धुंधले होते जायें।"[62]

इस प्रकार कनक खुद को नियति के भरोसे नहीं छोड़ती है। अपितु हर बार वह धोखा खाने के बाद भी टूटती नहीं है, बल्कि वह भी अपने जीवन में आगे बढ़ जाती है और सुदर्शन से विवाह कर लेती है। इस प्रकार कनक आज की वह आधुनिक स्त्री पात्र है जो ज़िंदगी के हर मोड़ पर निर्णय लेना जानती है। किसी भी हालत में टूटकर नियति या भाग्य के भरोसे नहीं जीती है, बल्कि ज़िंदगी को नए तरीके से, फिर से जीने का प्रयास करती है। अतः कनक और सावित्री आधुनिक स्त्री पात्र होते हुए भी दोनों के बीच का जो एक अंतर है वह यह है कि दोनों ही एक घर की तलाश में भटकती रहती हैं। कनक हर बार विफलताओं के बाद भी टूटती नहीं है। जीवन में तुरंत निर्णय लेती है और आगे बढ़ जाती है। वहीं सावित्री अपने परिवेश में एक-एक करके हर बार चार पुरुषों के साथ जुड़ती है, लेकिन किसी को पूर्ण नहीं पाती है। जिससे वह टूट जाती है और वह फिर एक बार महेन्द्रनाथ के साथ ही जीने के लिए मजबूर हो जाती है, "सावित्री सुखी जीवन के लिए अपने परिवेश में आने वाले चारों पुरुषों को पूरा जानकर उनकी ओर झुकती है, किन्तु वह किसी को पूरा नहीं पाती क्योंकि प्रत्येक पूरा आदमी कई अधूरों में बटा हुआ है। इन अधूरे आदमियों से टकरा-टकरा कर उसका व्यक्तित्व खंडित हो जाता है।"[63]

'शकुंतला की अंगूठी' में कुमार के चरित्र पर दृष्टि डालें तो कुमार का चरित्र एक आधुनिक पुरुष का है। एक ऐसा आधुनिक पुरुष जिसका चरित्र कई आधुनिक विसंगतियों से भरा हुआ है। वह कनक से प्रेम करता है, लेकिन देखें तो महेन्द्रनाथ के समान अपनी जिम्मेदारियों से भागता है। कुमार के चरित्र को देखें तो वह 'आधे-अधूरे' के उन पांच पुरुषों में से कईयों के चरित्र से मिलता-जुलता है।

मोहन राकेश ने आधुनिक समाज की जिन विसंगतियों को अलग-अलग चरित्रों के माध्यम से प्रस्तुत किया है वे सारी विसंगतियाँ कुमार के चरित्र में भी देखी जा सकती हैं। 'आधे-अधूरे' में जिस प्रकार जगमोहन सावित्री के बुलाने पर आता तो है, उसके प्रति साहनुभूति भी रखता है, लेकिन किसी भी तरह वह भावना में नहीं बहता है। वो सावत्री के साथ बंधना नहीं चाहता है। वैसे ही कुमार भी कनक से प्रेम करता है। शकुंतला के सन्दर्भ में उसे श्रेष्ठ बताता है। स्त्री को पुरुष से श्रेष्ठ बताता है। लेकिन खुद के सन्दर्भ में उसकी दृष्टि बदल जाती है। वह विवाह कर जिम्मेदारियाँ नहीं उठाना चाहता है। जिम्मेदारियाँ न उठाकर वह महेन्द्रनाथ के समान ही गैर-जिम्मेदार प्रतीत होता है। कनक को गर्भवती बनाना और स्त्री को सिर्फ अपनी जरूरत की वस्तु के समान समझना उसे सिंघानियां के समान चरित्र वाला भी साबित करता है "कुमार व दुष्यंत की दृष्टि में कहीं कोई अंतर नहीं है। दुष्यंत के लिए शकुंतला मात्र सौंदर्य की प्रतीक व भोग्या थी। कुमार के लिए भी वह इससे बढ़कर कुछ नहीं है।"[64]

जो अधूरापन, द्वंद्व, निराशा, विघटन 'आधे-अधूरे' के अलग-अलग पुरुषों में देखा जा सकता है। वे सारी आधुनिक समाज की विसंगतियाँ कुमार के चरित्र में भी देखी जा सकती हैं। कहने का अर्थ यह है कि आज का इंसान आधुनिक महानगरीय जीवन की कई विसंगतियों का एक जोड़ बन चुका है। आज का आधुनिक मानव कुमार के समान भोगवादी दृष्टि का होता जा रहा है या हो चुका है। आज का मनुष्य एक ऐसी कुत्सित आधुनिक परंपरा का वाहक बन चुका है, जहाँ न रिश्तों में प्रेम है, न स्थायित्व, न भरोसा, न उम्मीद।

इस प्रकार सुरेन्द्र वर्मा कृत नाटक 'शकुंतला की अंगूठी' भी 'आधे-अधूरे' के समान एक आधुनिक नाटक है। जहाँ सभी पात्र प्रतीकात्मक रूप से आधुनिक मानव के अर्थ को ही व्यंजित करते हैं। कनक नाटक में शकुंतला के पात्र में होती है, जो आधुनिक नारी का ही प्रतीक है। प्रथम प्रेम में नील द्वारा धोखा मिलने पर वह पीड़ित और दुखी होती है, किन्तु टूटकर इसे अपनी नियति का हिस्सा नहीं मानती है और ज़िंदगी में आगे बढ़ जाती है। किन्तु इसके बाद वह हर एक को संदेह की नजर से देखने लगती है। अतः वह जल्दी किसी पर भरोसा नहीं करती है, "कनक जो कि शकुंतला के

पात्र का अभिनय करती है। पूर्णतः आधुनिक नारी का प्रतीक है। जो प्रथम प्रेम में पूर्ण समर्पण के पश्चात् भी स्वार्थी पुरुष के धोखे का शिकार होकर टूटती है, छटपटाती है, पीड़ित व दुखी होती है। कुमार के मिलने पर अपने दुःख को भूलकर एक बार फिर सहारे की खोज में चल पड़ती है।"[65] कनक हो या सावित्री इस भौतिकतावादी युग में स्त्रियों ने भी जीना सीख लिया है। परंपरागत उस आदर्शवादी चरित्र को स्त्रियों ने उतार दिया है। उन्होंने भी अपने निजी सुखों को प्राप्त करने के लिए नये रास्ते ढूँढना सीख लिया है। कनक और सावित्री के परिवेश और समय में अंतर है। कनक का परिवेश और उसकी ज़िंदगी की चुनौतियाँ विवाह से पूर्व की हैं। वह घर और एक पूर्ण रिश्ते की तलाश, विवाह से पूर्व करती रहती है। उसका अकेलापन उसका संघर्ष विवाह से पूर्व का है। किन्तु सावित्री के सामने विवाह के कुछ समय पश्चात् ज़िंदगी अपना यह रूप दिखाती है। रिश्तों में घुटन, उससे बाहर आने की उत्कंठा, अपने लिए अपना कहा जाने वाले घर की खोज, ये सब सावित्री के विवाह के बाद के हालात हैं। कहने का अर्थ यह है कि मोहन राकेश हो या सुरेन्द्र वर्मा दोनों ने कहीं न कहीं आज के आधुनिक समाज और उस समाज में टूटते-बिखरते रिश्तों को दिखाने का प्रयत्न किया है। किसी प्रकार आज विवाह से पूर्व हो या विवाह के पश्चात् रिश्तों के बीच उसमें टकराहट अवश्य है। जिसमें सावित्री हो या कनक वे उसमें पहले खुद जुड़ती भी हैं फिर घुटती भी हैं और फिर सावत्री के जैसे बाहर निकलने का प्रयास भी करती हैं और कनक के समान उस रिश्ते से निकल कर दूसरे रिश्ते से जुड़ जाती हैं।

'शकुंतला की अंगूठी' का पात्र नील और कुमार आधुनिक युगीन स्वार्थी और भोगवादी पुरुषों का प्रतीकात्मक पात्र चरित्र है। 'आधे-अधूरे' के महेन्द्रनाथ के समान ही प्रतीत होता है। जब वह अपनी जिम्मेदारियों से भागता है तो वह सिंघानियां सा भी प्रतीत होता है, जब वह सावित्री या उसकी बेटी बिन्नी को सिर्फ भोगवादी दृष्टि से देखता है तब या जगमोहन के समान उससे हमदर्दी या लगाव तो रखता है, किन्तु किसी भी तरह उससे बंधना या सहारा नहीं देना चाहता है।

इस प्रकार सुरेन्द्र वर्मा के इस यह नाटक का यह कथानक और इसके पात्र कई अर्थो में 'आधे-अधूरे' के कथानक और पात्रों से साम्य रखते हैं। जैसे दोनों ही नाटकों में टूटे खंडित चरित्रों वाले पात्र हैं। आधुनिक विसंगतियों में लिपटे चरित्र और उनके बीच के रिश्तों में असंगति। द्वंद्व, घुटन अकेलापन आदि दोनों ही नाटकों में देखे जा सकते हैं। किंतु जो एक मूल अंतर है, वह है विघटन के स्तर पर। 'आधे-अधूरे से अधिक सुरेन्द्र वर्मा के नाटकों में विघटन है। राकेश के यहाँ थोड़ी बहुत संवेदना या अपनत्व तमाम पात्रों में विसंगतियों के बाद दिख जाता है। लोगों को घर वापसी करते देखा जा सकता है, किन्तु सुरेन्द्र वर्मा के पात्र मानो पूर्णतः भोगवादी संस्कृति का हिस्सा बन चुके हैं। अतः संवेदना शून्य आधुनिक मानव इनके यहाँ सिर्फ अपने फायदे के लिए ही जुड़ते दिखते हैं। जहाँ आधुनिक विकृत जीवन शैली ने अपना प्रभाव अधिक बना रखा है।

5.6 'आधे-अधूरे' और 'एक दूनी एक'

सुरेन्द्र वर्मा के नाटकों में जो अगला नाटक है वह है 'एक दूनी एक' इसका शीर्षक अपने आप में अकेलेपन के अर्थ को व्यंजित कर रहा है। अकेलापन, जिससे मोहन राकेश के नाटकों के लगभग सभी पात्र चरित्र जूझते रहते हैं। चाहे वह कालिदास हो, मल्लिका हो, नन्द या सुंदरी हो या 'आधे-अधूरे' का महेन्द्रनाथ, सावित्री, बिन्नी, किन्नी या अशोक आदि कोई भी हो। उसी प्रकार 'एक दूनी एक' नाटक के पात्र 'औरत' और 'आदमी' दोनों ही इस अकेलेपन से गुजरते रहते हैं। सुरेन्द्र वर्मा के इस नाटक के पात्रों का अकेलापन, चरित्र और अधिक विघटित दिखता है। यह नाटक उत्तर-आधुनिक समय के नारी-पुरुष के मध्य अनैतिक संबंध को व्याखायित करता है। यह नाटक 'एक दूनी एक' अकेलेपन का त्रास झेल रहे स्त्री-पुरुष के जीवन को ही चित्रित करता है। इस नाटक में जिस औरत और पुरुष का चित्रण किया गया है, उनकी बातचीत से उनकी भाषा से यौन-संबंधों, यौन-कुंठाओं का बोध होता है। नाटक में जिस एक संबंध के माध्यम से आज के मनुष्य के विघटित चरित्र का बोध हो रहा है वह है शारीरिक संबंध। इस नाटक में पात्रों के बीच भावनाओं का स्थान समझौते ने ले लिया है। जैसा कि हम जानते हैं मोहन राकेश और सुरेन्द्र वर्मा के नाटकों में कथानक

से अधिक पात्रों, परिस्थितियों तथा द्वंद्वों का ही महत्त्व स्थापित रहा है। उसी कड़ी में 'एक दूनी एक' नाटक भी है जिसमें कथानक से अधिक पात्रों, परिस्थितियों तथा द्वंद्वों का महत्त्व है। इस नाटक का कथानक भी आधुनिक उच्च मध्यवर्गीय महानगरीय जीवन को ही चित्रित करता है। जिसमें 'स्त्री स्वर', 'पुरुष स्वर', 'कम्पूटर','औरत' और 'आदमी' हैं। साथ ही कुछेक एक ऐसे पात्र हैं जो विवाह के पश्चात् अपने जीवन-साथी के भ्रष्ट चरित्र से परेशान है।

नाटक में सभी पात्रों के किसी न किसी के साथ अनैतिक संबंध स्थापित होते हैं। नाटककार आज के उस उत्तर-आधुनिक समाज को दिखाना चाहता है, विशेषकर उच्च मध्यवर्गीय परिवार को जिसमें लोग विवाह तो करते हैं, लेकिन विवाह के पश्चात् दाम्पत्य जीवन के मूल नियमों और अर्थों में विशेष रुचि नहीं रखते हैं। तभी आज का आधुनिक मनुष्य स्वछन्द रूप से एक से अधिक लोगों से संबंध बनाता है, "उच्च मध्यवर्गीय परिवार के व्यक्ति विवाह संबंध के बावजूद किसी एक के साथ बंधकर रहना नहीं चाहते। वे विवाह करते हैं, लेकिन विवाह संस्था के नियमों एवं उसूलों का पालन करना उन्हें गवारा नहीं। वे इस 'विवाह-संस्था' की आड़ में उन्मुक्त यौन-संबंध बनाते हैं और इसके लिए उन्हें न कोई ग्लानि है और न ही पश्चाताप।"[66] 'एक दूनी एक' नाटक में भी अन्य पुरुष के साथ रूपेश बंसल की पत्नी का, रीता वाचानी के साथ पूनम नारंग के पति मनोज का अनैतिक सबंध होता है। इसके अलावा नाटक के मुख्य पुरुष पात्र 'आदमी' के संबंध में कई स्त्रियों जैसे पायल, सपना, बीना, राजहंसिनी या गाल के गड्डे वाली से होता है। नाटक में दिखाया गया है कि इन सभी को किसी न किसी मौके की तलाश होती है। अलग-अलग जगहों पर यह इस तरह से अपने ज़मीर को मारकर इस तरह के संबंध बनाते हैं। आज के ऐसे उच्च-मध्यवर्गीय लोग अपनी परंपरा और मर्यादाओं से दूर हो चुके हैं। संवेदना शून्य हो चुकी है। 'आधे-अधूरे' नाटक में सावित्री का महेन्द्रनाथ से या बिन्नी का मनोज से वैचारिक मतभेद क्यों नहीं दिखाया गया हो या उनके रिश्ते में तनाव कितना भी क्यों न हो, रिश्तों के इस द्वंद्व में शारीरिक क्षति की कामना किसी को करते नहीं दिखाया गया है। किन्तु 'एक दूनी एक' नाटक में बिन्नी अपने और मनोज के संबंध में घुली कड़वाहट या नफरत भरी

भावना के संबंध में कहती है, "मन करता है... मन करता है आसपास की हर चीज को तोड़-फोड़ डालूं। कुछ ऐसा कर डालूं जिससे उसके मन को कड़ी-से-कड़ी चोट पहुँचा सकूँ। उसे मेरे लंबे बाल अच्छे लगते हैं। इसीलिए सोचती हूँ, इन्हें जाकर कटा आऊं।... कुछ भी ऐसी बात जिससे एक बार तो वह अन्दर से तिलमिला उठे।"[67] नाटक में रिश्तों के मध्य द्वंद्व, कड़वाहट, नफरत इस हद तक बढ़ चुकी है कि नाटक का एक पात्र 'पुरुष स्वर' मानवता की सारी हदें भूलकर अपनी पत्नी की हत्या तक के बारे में सोच लेता है। नाटक के एक अंश में वह कहता है, "अगर आप बाहर हम दोनों को साथ-साथ देखें तो आप यही सोचेंगे, कितना सुखी जोड़ा है। मेरे मित्र, संबंधी, माता-पिता, मैं ..आप से क्या छिपाऊं। मैंने बरसों इंदुमती की हत्या करने की योजना बनाई है। गंडासे के बारे से एक पल में आजादी, बर्सोवा समुन्द्र-तट पर पानी में गला घोंट देना, रसोईघर में मिट्टी का तेल छिड़क कर झुलसाती लपटों से ठंडक पाना, एक बार तो चूहे मारने की दवा चाय में मिलाकर प्याला उसे लगभग थमा ही दिया था।"[68] इस प्रकार 'एक दूनी एक' के उच्चमध्यवर्गीय परिवार में रिश्तों के मध्य विघटन, 'आधे-अधूरे' की तुलना में अपनी अधिक विकृत स्थिति में है। यहाँ प्रेमय आत्मीय न होकर शारीरिक है। उन्हें या तो शादी जैसी प्रथा पसंद ही नहीं है या प्रेम की आड़ में स्वछंद यौनाचार ही उनकी आखिरी इच्छा होती है और किसी भी परिस्थिति में विवाह कर भी लिया तो वहाँ अपनत्व, भरोसा, प्रेम आदि नदारत ही रहते हैं। नाटक का मुख्य पात्र 'आदमी' कई स्त्रियों के साथ शारीरिक संबंध बनाता है, किन्तु जब बात आती है विवाह की तब वह हर बार मुकर जाता है। नाटक की प्रमुख स्त्री पात्र 'औरत' भी प्रेम में कई बार धोखा खा चुकी रहती है। उसके प्रेमी ने भी उसे मात्र भोगने की वस्तु समझकर उसे इस्तेमाल किया और फिर विवाह के लिए इनकार कर दिया। मूलतः नाटककार ने इन सभी चरित्रों के माध्यम से उत्तर-आधुनिक मनुष्यों के चरित्र को प्रस्तुत किया है, जहाँ इनके लिए विवाह उनकी आज़ादी पर अंकुश है। नाटक के सभी पात्र प्रतीक हैं आज के उत्तर-आधुनिक मनुष्यों के जो अपनी मूल भारतीय परंपरा को पिछड़ा हुआ मानते हैं और पश्चिम की परंपरा और संस्कृति से प्रभावित विवाह से पूर्व और विवाह के पश्चात् कई अनैतिक संबंध बनाते हैं।

सुरेन्द्र वर्मा और मोहन राकेश के नाटकों में ऐसे कई पहलुओं को देख सकते हैं। जैसे स्त्री मनोविज्ञान के कई पहलूओं से हम रूबरू होते हैं। सुरेन्द्र वर्मा के नाटक में 'औरत' के चरित्र में आधुनिकता है, उसकी तुलना मोहन राकेश के नाटकों की स्त्रियों से करें तो पाते हैं कि 'आषाढ़ का एक दिन' की मल्लिका के चरित्र में परंपरागत चरित्र भी है और आधुनिक चरित्र भी। वक्त के साथ मल्लिका ने भी जीना सीख लिया है। कालिदास के प्रति त्याग और समर्पण की भावना रखने के बाद भी एक वक्त के बाद वह कालिदास का इंतजार नहीं करती है। जब ज़िंदगी में उसे किसी के सहारे की जरूरत होती है तब वह विलोम से शादी कर लेती है। ऐसे में उसका आधुनिक चरित्र उभरकर आता है। अतः कह सकते हैं कि उसके चरित्र के दो पक्ष हैं, एक परंपरावादी और एक आधुनिक। 'लहरों के राजहंस' की सुंदरी रूपगर्विता है और अपने आकर्षण से वह अपने पति नन्द को बाँधकर रखना चाहती है। उसके चरित्र का आधुनिक पक्ष यह है कि वह सिर्फ सुन्दर ही नहीं है, बल्कि उसमें आधुनिक स्त्री के सभी गुण भी हैं, जैसे वाक् चातुर्य, बुद्धि कौशल, ओज, आदि। इसके अतिरिक्त उसमें दया और स्नेह भी है। तभी अपनी दासी को एक सखी के समान मानती है और अलका के प्रेमी श्यामांग की सजा को अलका के अनुरोध पर माफ़ कर देती है। अतः उसके चरित्र में आधुनिकता होते हुए भी स्नेह, दया जैसे गुण हैं। 'आधे-अधूरे' में सावित्री के चरित्र को देखें तो अपने घर के प्रति उसकी चिंता, उसके चरित्र के परंपरावादी रूप को व्यंजित करता है। किन्तु जब वह महेन्द्रनाथ के साथ खुश नहीं रह पाती है और अपने निजी सुखों की चाह करती है, जिसमें वह कई पुरुषों से जुड़ती है तब उसका आधुनिक चरित्र उभरकर सामने आता है। कहने का अर्थ यह है कि कमोबेश मोहन राकेश के नाटकों के स्त्री पात्रों के चरित्र में आधुनिकता के लक्षण तो हैं ही, किन्तु उनके चरित्र में परंपरागत संस्कार भी जीवित हैं, ऐसा कहा जा सकता है। किन्तु सुरेन्द्र वर्मा के नाटकों को देखें तो कई ऐसे नाटक हैं जिनके स्त्री पात्र आधुनिक नहीं उत्तर-आधुनिक हैं। जिनकी भारतीय परंपरागत मर्यादाओं, संस्कारों और मूल्यों में कोई आस्था नहीं है। 'शकुंतला की अंगूठी' की मुख्य स्त्री पात्र 'कनक' इसका उदाहरण है,- विवाह से पूर्व एक से अधिक पुरुषों के साथ प्रेम और शारीरिक संबंध

बनाती है। विवाह से पूर्व गर्भ भी धारण कर लेती है, किन्तु इसके बावजूद भी जीवन में टूट कर हार नहीं मानती है। पुनः सुदर्शन नाम के पुरुष का दामन थाम लेती है और उससे विवाह कर लेती है। 'एक दूनी एक' नाटक की मुख्य स्त्री पात्र 'औरत' के चरित्र में भी उत्तर-आधुनिकता देखी जा सकती है। जहाँ उसके चरित्र में विशेष संवेदना नहीं दिखती है। ऐसा प्रतीत होता है जैसे परंपरागत जीवन-मूल्य उसके चरित्र का हिस्सा रहा ही न हो। वह भी नाटक के 'पुरुष-स्वर' के समान ही अपने गुस्से भरे मनोभाव को प्रकट करते हुए अपने पति से घृणा भरे शब्द कहती है, "मैं सुबह और शाम, दोपहर और रात-आठों पहर, हर घड़ी तुम्हें कोसूंगी, पानी-पी-पीकर काली गालियाँ दूंगी। तुम्हें पलभर के लिए चैन नसीब न हो...अपने इस आठ फुट सौ फुट के बियावान में तुम एड़ियां रगड़-रगड़कर मरो, महीनों तुम्हारी लाश यहाँ सड़ती रहे, मीलों दूर से लोग इस डर से भागने लगें कि कहीं तुम्हारी जहरीली हवा छू गई तो आने वाली पीढ़ियों को पलभर की ख़ुशी भी नशीब नहीं होंगी।"[69]

इस प्रकार 'एक दूनी एक' नाटक एक उच्च मध्यवर्गीय समाज के स्त्री-पुरुष के चरित्र को व्याख्यायित करता है। जिसमें प्रेम, प्रेम में धोखा, विवाह से पूर्व और विवाह के पश्चात् अनैतिक संबंध, विवाह के प्रति अनास्था, स्वछंद कामुकता आदि को विस्तार पूर्वक चित्रित किया गया है। वहीं मोहन राकेश के नाटकों के चरित्रों की तुलना में इसके सभी पात्र चरित्र उत्तर-आधुनिक समाज और परिवार के हैं। जिनका चरित्र भ्रष्ट है और जीवन में अकेलापन है। वैवाहिक जीवन के प्रति कोई विशेष आस्था नहीं है। संवेदनहीन इनका चरित्र द्वंद्व से घिरा हुआ है, जिसमें वह एक नहीं कई के साथ संबंध स्थापित करते हैं और तोड़ते हैं। उत्तर-आधुनिक काल में इनका जीवन संवेद- शून्य एक यांत्रिक जीवन बनकर रह गया है, ऐसा कहना गलत नहीं होगा।

मोहन राकेश का आखिरी नाटक है 'पैर तले की जमीन' किन्तु अधूरा है। असमय मृत्यु के कारण इस नाटक को वह पूरा नहीं कर पाए जिसे बाद में उनके मित्र कमलेश्वर ने उनकी नोटिंग के आधार पर पूरा किया था। इस नाटक का मूल भाव समझने का प्रयत्न करें तो इस नाटक में आसन्न मृत्यु के समय व्यक्ति की जो मनोदशा हो सकती है, उसे प्रकट करने का प्रयत्न किया गया है। साथ ही आज

के आधुनिक मनुष्य के आंतरिक संघर्ष, द्वंद्व, अकेलेपन, भोगवादी दृष्टिकोण आदि को दिखाने का प्रयत्न था, जिसे कमलेश्वर ने कमोबेश पूरा किया है। मोहन राकेश इस नाटक को स्वयं पूरा करते तो न जाने आधुनिक जीवन के कौन से नए पहलुओं को प्रस्तुत करते। किन्तु उपलब्ध नाटक के कथानक को देखें तो यह उच्चवर्ग के कुछ चंद लोगों की ज़िंदगी के आस-पास घूमता है, जो कश्मीर से कुछ दूर स्थित दो द्वीपों के बीच एक क्लब हाउस में अपनी ज़िंदगी के सुखों को भोगने में लिप्त रहते हैं। अचानक वहाँ नदी में बाढ़ आ जाती है जिससे वे सभी वहाँ से निकल नहीं पाते हैं और फंस जाते हैं। बाढ़ के रूप में पल-पल उनकी ओर मौत आगे बढ़ती रहती है। ऐसे विकट समय में किसी को यह नहीं समझ आता कि क्या करें और क्या न करें। ज़िंदगी की आखिरी घड़ी सबको नजर आने लगती है। ऐसे हालात में वहाँ मौजूद सभी का असल वजूद निकल कर सामने आता है। इन आखिरी पलों में सभी अपने-अपने तरीके से जीना चाहते हैं जिससे उनके अन्दर का कुत्सित चरित्र उभरकर बाहर आता है। मोहन राकेश के इस नाटक के नोट्स और स्केच देखे तो नाटक का मूल उद्देश्य किसी एक हद तक स्पष्ट हो जाता है, "चरित्रों को यथार्थवादी नाम दिये जायें; पर वे हमारे संस्कारों के अंग हों। चरित्रों की कोटियाँ कुछ इस प्रकार की हों :

(1) असंतुष्ट लोग जो ठोकर मारना चाहेंगे।

(2) उदास-हताश लोग जो आत्महत्या करना चाहेंगे।

(3) भ्रष्ट लोग जो अब भी कोई रास्ता निकालने की बात सोचेंगे।

(4) चापलूस लोग जो सबसे सहमत होंगे।"[70]

इस प्रकार यह बोध होता है कि मानव के चरित्रों के इन चार अवगुणों से मोहन राकेश आधुनिक जीवन की कई विसंगतियों को समेटकर इस नाटक के माध्यम से चित्रित करना चाहते थे। इस नाटक में भी मोहन राकेश ने नाट्य-कथानक से अधिक चरित्रों को ही महत्त्व दिया है। इस नाटक के सभी पात्रों की विशेष हैं उनकी एक विशेष भूमिका है। उपरोक्त चार बिंदु निम्नलिखित चारों मानवीय

चरित्रों के अवगुणों को ही प्रस्तुत करते हैं। नाटक में अयूब, सलमा, अब्दुल्ला , झुनझुनवाला, पंडित, रीता, नीरा आदि कुछेक पात्र-चरित्रों के माध्यम से उच्चवर्ग के लोगों की जीवन शैली और उनके खंडित जीवन को ही प्रस्तुत किया गया है।

5.7 'पैर तले की जमीन', और 'द्रौपदी', 'एक दूनी एक', 'शकुंतला की अंगूठी'

'पैर तले की जमीन' का कथानक उच्चवर्ग के लोगों के इर्द-गिर्द घूमता है। इस नाटक के कथानक की तुलना सुरेन्द्र वर्मा के जिन नाटकों के कथानकों से की जा सकती है वे हैं, 'द्रौपदी' (1972), 'एक दूनी'(1987) और 'शकुंतला की अंगूठी'(1990)। सुरेन्द्र वर्मा के इन तीनों नाटकों के पात्र-चरित्र उच्च -मध्यवर्गीय लोग हैं। 'पैर तले की जमीन' के अयूब का चरित्र 'द्रौपदी' नाटक के मनमोहन 'एक दूनी एक' के आदमी और 'शकुंतला की अंगूठी' के कुमा के समान ही प्रतीक है, उस आधुनिक पुरुष के प्रतीक प्रतीक हैं जो स्त्री को भोगवादी दृष्टि से देखता है। विवाह जैसी संस्था में इनकी कोई विशेष रुचि नहीं होती है। यदि विवाह कर भी लिया तो दाम्पत्य जीवन की मर्यादा को कभी नहीं निभाते हैं और कई स्त्रियों के साथ अनैतिक संबंध स्थापित करते हैं। अयूब जहाँ उच्चवर्ग से संबंध रखता है वहीं मनमोहन, आदमी, तथा कुमार उच्च-मध्यवर्ग से हैं। कहने का अर्थ यह है कि यह आधुनिक युगीन चारित्रिक विघटन भारतीय समाज में कहें तो उच्च वर्ग से धीरे-धीरे अपने नीचे के समाज को भी प्रभावित करता चला गया, जैसे-जैसे उच्चमध्यवर्ग की ओर बढ़ता गया आज के समकालीन समाज में शायद मध्यवर्गीय परिवार तक इसकी विसंगति फैल चुकी है। अयूब प्रतीक है उस आधुनिक मनुष्य का जिसे मनुष्य की श्रेणी में भी नहीं रखा जा सकता है। नाटक में वह नशे की हालत में अपने से कई साल छोटी लड़की नीरा और रीता के साथ जबर्दस्ती करना चाहता है। जबकि उस पल उसकी पत्नी सलमा भी उसके नजदीक होती है, किन्तु नशे की हालत में वह मानव से दानव हो जाता है और कहता है, "अयूब : कहाँ है .. कहाँ है वह छोटी लड़की !

सलमा : (उसे पकड़ लेती है) होश में आओ... मैं कहती हूँ होश में आओ...

अयूब : मैं होश में हूँ सलमा .. बिल्कुल होश में... दरिया में बह जाने से पहले एक बार .. पानी यहाँ तक (गले तक) बढ़ आने से पहले एक बार मैं उसके भोलेपन के साथ ..उसकी इन्नोसेंस के साथ...

रीता : मुझे तुम्हारे इन इरादों से नफरत है...

अयूब : नफरत, तुम्हें .. तुम्हारा मेरा कोई रिश्ता नहीं.. सिवा उन अधूरे लम्हों के .. और नफरत का सवाल बिना रिश्तों के नहीं उठता .. और रिश्ते कायम होते देर लगती है। (रीता की बांह पकड़ता है) पर अब इस मौत के साये में कुछ रिश्ते तय होकर रहेंगे..."[71]

इस प्रकार अयूब का चरित्र एक ऐसे उच्चवर्गीय व्यक्ति का है जो हर एक परिस्थिति में अपने स्वार्थ के बारे में ही सोचता है। उसके लिए मानवीयता, दूसरे के प्रति सम्मान, प्रेम, आदर एक बेईमानी चीज होती है। अतः वह हरेक चीज को भोगवादी-दृष्टि से ही देखता है। तभी वह जीवन के इस पल में, जहाँ मौत बाढ़ के रूप में क्लब के बाहर तक पहुँच चुकी है, ऐसी परिस्थिति में भी उसके अन्दर काम के प्रति उसकी लालसा कम नहीं होती है, जिसमें वह क्लब में मौजूद छोटी लड़की नीरा और रीता को अपनी हवस का शिकार बनाना चाहता है। ऐसे में सवाल उठता है कि क्या ज़िंदगी में ऐसी अकस्मात मृत्यु सामने देखने पर इंसान का ऐसा चरित्र उभरकर सामने आ सकता है ? आधुनिक मनुष्य के व्यक्तित्व का यह कुत्सित चरित्र शायद हो सकता है तभी मोहन राकेश या कमलेश्वर जैसे साहित्यकार ऐसे आधुनिक मानव की मनःस्थिति को चित्रित करते हैं।

स्वातंत्र्योत्तर भारतीय समाज का धीरे-धीरे झुकाव या आकर्षण पाश्चात्य जीवन शैली की ओर होता चला गया। इसी आकर्षण में बंधकर उच्चवर्ग के लोगों का अपनी भारतीय परंपरा के प्रति मोह खत्म होता चला गया। जिसमें लोगों का जीवन यांत्रिक होता चला गया और भौतिक सुखों को प्राप्त करने की होड़ में पारिवारिक संस्था टूटती और बिखरती चली गयी। हर एक व्यक्ति अपने जीवन के सुखों की तलाश में घर से बाहर भटकने लगा है। घर में रिश्तों की अहमियत कम होती चली गई और लोग घर से बाहर क्षणिक सुखों के लिए अनैतिक संबंध बनाने लगे। मोहन राकेश और सुरेन्द्र

वर्मा ने अपने नाटकों के माध्यम से महानगरों में रहने वाले आज के मध्यवर्ग, उच्चमध्यवर्ग और उच्चवर्ग के इन्हीं लोगों के विघटित जीवन को बड़ी बेबाकी से चित्रित किया है। 'द्रौपदी' नाटक के मनमोहन के कई चरित्र हैं। वह अपनी पत्नी से अब विशेष लगाव नहीं रखता है, वह तर्क देता है कि अब उसमें वह ताजगी और नयापन नहीं रह गया है। वह कहता है, "साल पर साल बीतते गये। मैं वहीं था। सुरेखा वहीं थी। लेकिन सैकड़ों बार उन्हीं सुबहों और शामों और रातों को जीने के बाद अब सब कुछ बासी हो गया था।"[72] अयूब भी अपनी पत्नी सलमा के प्रति प्रेमभाव नहीं रखता। अपनी पत्नी उसे कब्रिस्तान लगती है। तभी वह उसमें कोई रुचि नहीं लेता है। आधुनिक समाज में उच्चवर्ग का यह एक कटु-सत्य बन चुका है जहाँ दाम्पत्य जीवन के बीच का सामंजस्य समाप्त हो चुका है। अयूब अपनी पत्नी सलमा से कहता है, "ओह ! वह बड़ी लड़की रीता ! वह भी तुम्हारी ही तरह एक कब्रिस्तान बन चुकी है ..क्योंकि उसका भोलापन, उसकी इन्नोसेंस भी मर चुकी है.. जिसके बाद आदमी-औरत के भीतर सब कुछ दफ़न होता जाता है.. कुछ भी भीतर से नहीं फूटता।"[73] 'एक दूनी एक' का 'आदमी' और 'शकुंतला की अंगूठी' का कुमार भी अयूब के समान ही अपनी पत्नी और अपनी प्रेमिका से एक वक्त के बाद लगाव नहीं रखता है और उसका साथ छोड़ देता है या उनके संबधों में अधिक घनिष्ठता नहीं रह जाती है।

'पैर तले की जमीन' में, 'झुनझुनवाला' और 'पंडित' महानगरीय भौतिक जीवन के दो ऐसे पात्र हैं जो भागते ही रहते हैं। दूसरों से आगे निकलने और आधुनिक जीवन में उपलब्ध सुखों को प्राप्त करने के लिए वे भागते ही रहते हैं। जीवन में तमाम प्रपंचों के बीच गलत तरीके से धन अर्जित करते हैं और उसका उपभोग करते हैं। इन दोनों पात्रों की तुलना करें तो 'द्रौपदी' नाटक में मनमोहन की पीले नकाबधारी से की जा सकती है, जो महानगरीय जीवन में भौतिक सुखों को अर्जित करने के लिए सदेव भागता ही रहता है, "मनमोहन का पीला नकाबधारी रूप उस महानगरीय भौतिक सभ्यता का प्रतिनिधित्व करता है, जिसमें आदमी भागता है। भागना-दौड़ना ही जैसे उसकी नियति बन जाती है, वह दूसरों से आगे निकलना चाहता है। वह चाहता है कि दौड़ में हमेशा अव्वल रहे जिससे कि

वह महत्त्वपूर्ण, रौबदार पद पा सके ।"[74] झुनझुनवाला अपने सन्दर्भ में स्वयं नाटक में कहता है, "सीधे-सीधे कहूँ तो सबको अपना व्यापार बनाया। इसका दाम इतना। उसका दाम उतना। हर चीज, हर बात का प्रतिनिधि मैं था। मैं सबसे बड़ा मछलीमार था जिसके कारखाने में बड़ी-बड़ी मछलियाँ डब्बों में बंद की जाती थीं। बड़ी-से बड़ी व्हेल मछली के लिए मैंने चारा ईज़ाद किया।"[75]

इस प्रकार देखें तो झुनझुनवाला, पंडित और मनमोहन का पीला नकाबधारी सभी आधुनिक समाज के उस वर्ग का प्रतिनिधित्व ही कर रहे हैं जो पद-प्रतिष्ठा, और धन अर्जित करने के लिए तथा भौतिक सुखों को प्राप्त करने के लिए भागते ही रहते हैं। साथ ही उसके लिए कई गलत तरीकों को अपनाते हैं। बस अन्तर है तो वर्ग का। झुनझुनवाला और पंडित एक उच्च वर्ग से संबंध रखते हैं और मनमोहन अर्थात् उसका पीला नकाबधारी उच्च मध्यवर्ग से संबंध रखता है। अतः भौतिक सुखों को प्राप्त करने के लिए आज के इस आधुनिक युग में हरेक वर्ग के लोग भाग-दौड़ रहे हैं। इस भागती-दौड़ती ज़िंदगी में पीछे वे न अपने परिवार को समय देते हैं, न उनके प्रति लगाव होता है और न ही प्रेम।

अतः 'पैर तले की जमीन' नाटक लिखकर मोहन राकेश आधुनिक मानव का मृत्यु के समक्ष अस्तित्व बताना चाहते थे तथा मृत्यु के समीप आधुनिक मनुष्य की नैतिकता, सामाजिक दायित्व, वर्जनाओं तथा स्त्री-पुरुष के बीच के संबंधों का एक चित्र खींचना चाहते थे। वे आज के आधुनिक मनुष्य, ख़ासकर उच्च वर्ग के लोगों की ज़िंदगी और रिश्तों के प्रति उनका नजरिया, उनकी कुंठाओं, उनका द्वंद्व, रिश्तों के बीच की टकराहट आदि को चित्रित करना चाहते थे।

सुरेन्द्र वर्मा के दो और ऐसे नाटक जिनका कथानक और पात्र मिथकीय ऐतिहासिक हैं, वे हैं 'नायक खलनायक और विदूषक' और 'कैद-ए-हयात'। 'नायक खलनायक और विदूषक' नाटक के परिवेश का संबंध गुप्तकाल से है और 'कैद-ए-हयात' का संबंध 'उर्दू के महान शायर मिर्ज़ा ग़ालिब से है। दोनों ही नाटकों में एक कलाकार एवं साहित्यकार के जीवन-संघर्ष को, उसके जीवन के द्वंद्व

को तथा कलाकार के रूप में अपनी अस्मिता निर्माण के लिए संघर्षरत कलाकार के जीवन को दिखाया गया है। किन्तु इन दोनों नाटक की जो विशेषता है वह यह है कि ये आज के आधुनिक समकालीन कलाकार और साहित्यकार के जीवन-संघर्ष को भी चित्रित करते हैं।

5.8 'आषाढ़ का एक दिन' और 'नायक खलनायक विदूषक'

'नायक खलनायक विदूषक' का पात्र कपिंजल है। नाटक में कपिंजल रंग विधा में स्नातक है, किन्तु उसके पास कोई रोजगार नहीं है। कुछ समय भटकने के पश्चात् उसे नीलनगर की राजकीय नाट्यशाला में अभिनेता का कार्य मिल जाता है। कुछ समय पश्चात् नगर में और नगर से बाहर भी उसकी ख्याति एक अभिनेता के रूप में भी काफी हो जाती है। इस सन्दर्भ में कपिंजल स्वयं कहता है, "मैं दो क्षणों के लिए मंच पर आने वाला कलाकार नहीं, एक महत्त्वपूर्ण अभिनेता हूँ और मेरी ख्याति नीलनगर की सीमाएं पार कर चुकी हैं। स्वयं सेनापति शक्तिभद्र ने अपनी जीह्वा से..."[76] कपिंजल हर बार नाटक में विदूषक का ही पात्र करता रहता है। जिससे वह ऊब जाता है। वह अन्य पात्रों का चरित्र अभिनय कर अपनी प्रतिभा को और निखारना चाहता रहता है। किन्तु चयन की यह स्वतंत्रता उसके पास नहीं होती है, जिससे हर बार वह दूसरों द्वारा एक ही पात्र के रूप में चयनित होने के लिए अभिशप्त रहता है। एक कलाकार के रूप में अपनी अस्मिता निर्माण की इस प्रक्रिया में वह द्वंद्व में 'आषाढ़ का एक दिन' के कालिदास के समान प्रतीत होता है। जिस प्रकार कालिदास अपने प्रांत, अपनी प्रेमिका और राजकीय कवि-प्रतिष्ठा के मध्य चयन के सन्दर्भ के द्वंद्व में फंसा रहता है। उसी प्रकार कपिंजल भी द्वंद्व में रहता है। कपिंजल भी कालिदास की भांति अपनी कला-प्रतिभा को जीवन की गतिशीलता और जीवंतता देना चाहता है। परंतु हर बार उसका शोषण होता है। कभी राज्य के नाम पर, कभी धर्म के नाम पर और कभी कला के नाम पर। अतः उसमें एक आधुनिक मानव और कलाकार की विवशता दिखती है, जो समझौतावादी हो जाता है। मोहन राकेश के नाटक 'आषाढ़ का एक दिन' का कालिदास और 'नायक खलनायक और विदूषक' नाटक के कपिंजल के चरित्र की तुलना करें तो दोनों ही आधुनिक मानव और आज के समकालीन रचनाकार और कलाकार के

जीवन संघर्ष को ही निरूपित करते हैं। गिरीश रस्तोगी अपनी पुस्तक 'मोहन राकेश और उनके नाटक' में लिखती हैं, "वस्तुतः यह आधुनिक मानव की विवशता, उसके अंतर्द्वंद्व का, उसकी जटिलता का नाटक है। कालिदास के माध्यम से वर्तमान स्थिति पर बल देते हुए राकेश ने दिखाना चाहा है कि एक सृजनशील कलाकार किस तरह व्यवस्था द्वारा कुचला और तोड़ दिया जाता है। आज के मूल्यबोध से युक्त असाधारण कवि या साहित्यकार न व्यवस्था को एकदम छोड़ पाता है और न उससे समझौता करते हुए चल पाता है। कालिदास का अंतर्द्वंद्व और टूटन आज के साहित्यकार का द्वंद्व और पीड़ा है।"[77] नायक खलनायक विदूषक' का 'कपिंजल' भी कालिदास के समान एक सृजनशील कलाकार है। वह अपने अभिनय की प्रतिभा को और भी दूसरे पात्र चरित्रों का अभिनय कर उसे गतिशीलता देना चाहता है। लेकिन व्यवस्था के हाथों वह भी विवश है, सिर्फ विदूषक के पात्र का अभिनय करने के लिए। जिस प्रकार कालिदास को एक कवि के रूप में प्रसिद्धि प्राप्त करने के लिए सत्ता से जुड़ना ही पड़ा, उसी प्रकार कपिंजल के अभिनय को एक पहचान राजकीय नाट्यशाला से जुड़कर ही मिली थी। अतः वह भी कालिदास के समान द्वंद्व में रहता है। कपिंजल न ही व्यवस्था को एकदम ही छोड़ सकता था और न ही उससे समझौता करके चल पाता है। अतः कालिदास और कपिंजल दोनों ही आज के आधुनिक युगीन कलाकार और एक रचनाकर के प्रतीक हैं जो सत्ता द्वारा शोषित हैं। वे न तो सत्ता के साथ समझौता करने की स्थिति में होते हैं और न ही सत्ता को छोड़कर अपने वास्तविक कार्य अर्थात् अपनी कला के प्रति ईमानदार रह पाते हैं। अंततः सत्ता के निर्देशानुसार ही अपने कला का प्रदर्शन करने के लिए बाध्य रहते हैं। कपिंजल अपनी इसी बाध्यता और मज़बूरी के सन्दर्भ में नाटक में कहता है, "और अब राज्य के लिए है। फिर कल के दिन कोई धर्मगुरु आ जाएगा तो धर्म के लिए होगा। फिर परसों के दिन कहीं का नाट्याचार्य आ जाएगा तो कला के लिए होगा। ..(आवेश में) यह दुष्चक्र कभी नहीं टूटेगा।"[78] दअरसल सदियों से लेकर आज तक इस आधुनिक युग में कलाकार और एक रचनाकर के समक्ष आर्थिक संकट हमेशा से रहा है। कालिदास और कपिंजल अपने संघर्ष के आरम्भिक दिनों में एक कलाकार और

एक रचनाकार के रूप में अपनी पहचान बनाने के लिए सत्ता से जुड़ते हैं। किन्तु सत्ता से जुड़ने के बाद वे पाते हैं कि उनकी अपनी कला की निजता छिन गई है, अपनी जिस कला और रचना को जो गतिशीलता और जीवंतता वे सत्ता से जुड़कर देना चाहते थे, वे नहीं दे पाते हैं। दोनों की परिस्थितियों में बस अन्तर यह होता है कि कालिदास सत्ता से जुड़कर भी और सत्ता के शीर्ष पर बैठकर भी वह यह महसूस करता है कि सत्ता का क्षेत्र उसके रचना क्षेत्र से अलग था, तभी वह अंततः अपनी भूमि लौट आता है, किन्तु वहाँ पूर्व जैसी परिस्थितियाँ नहीं रह जाती हैं। कालिदास कहता भी है, "अभावपूर्ण जीवन की वह एक स्वाभाविक प्रतिक्रिया थी।"[79] और कपिंजल सत्ता से जुड़ता है, उसकी कला को गतिशीलता भी मिलती है। किन्तु एक समय के बाद वह सत्ता के लिए मनोरंजन का साधन मात्र बनकर रह जाता है। इसीलिए वह व्यवस्था का प्रतिरोध करता है। वह अपने लिए रूढ़ हो गए विदूषक का अभिनय करने से इनकार करता है। किन्तु 'पुष्पभूति' जिसके लिए नाटक कला नहीं, बल्कि उसके लिए व्यवसाय है, वह कपिंजल को यह चेतावनी देता है कि यदि वह विदूषक के पात्र का अभिनय नहीं करता है तो शासन द्वारा उसे इस बात के लिए दंड दे सकता है। अतः एक कलाकर, एक अभिनेता के रूप में जिसकी ख्याति नीलनगर की सीमाओं को पार कर चुकी है, उसकी कला का सत्ता के आगे मूल्य कुछ भी नहीं है। वह एक उपकरण एक साधन के समान है। कपिंजल को भूमिका चुनने का अधिकार नहीं होता है, क्योंकि व्यावसायिकता हर किसी को चुनने का अधिकार नहीं देती है। अतः कपिंजल भी अभिशप्त है, विदूषक का पात्र अभिनीत करने के लिए। डॉ. विजय पाल इस सन्दर्भ में कहते हैं, "वास्तव में यहाँ कला को एक उपकरण, साधन के रूप में देखा जाता है। वास्तव में यह एक आधुनिक दृष्टिकोण है, जिसमें प्रत्येक वस्तु को साधन या उपयोगिता के मानदंडो पर रखा जाता है।"[80]

इस प्रकार कालिदास और कपिंजल प्रतीक हैं आज के उस आधुनिक कलाकार और रचनाकार के जो अपनी अस्मिता निर्माण में आज संघर्षरत हैं। एक कलाकार एक साहित्यकार के रूप में अपनी पहचान बनने के लिए कितनी ही विपरीत परिस्थितियों से होकर गुजरता है। इसी प्रक्रिया में वह सत्ता

से भी कालिदास और कपिंजल के समान जुड़ते हैं। जहाँ एक सीमा तक उन्हें पद, पहचान और उपलब्धियाँ भी मिलती हैं। लेकिन वह कब सत्ता के हाथों की कठपुतली बन जाते हैं उन्हें बोध भी नहीं होता है। धीरे-धीरे वह सत्ता के लिए उपकरण और साधन मात्र बनकर रह जाते हैं, उनका अपना व्यक्तित्व समझौतावादी बनते-बनते द्वंद्वों में घिर कर खंडित हो जाता है। इस प्रकार कालिदास और कपिंजल का अपने-अपने नाटक में ऐतिहासिक पुरुष, एक कलाकार, एक साहित्यकार के रूप में चित्रण किया गया है। किन्तु दोनों ही पात्र प्रतीक हैं आज के आधुनिक मनुष्य के तथा एक कलाकार और रचनाकार के, जो द्वंद्वों में घिरा हुआ समझौतावादी हो चुका है।

सुरेन्द्र वर्मा का एक और नाटक है 'कैद-ए-हयात'। यह नाटक एक रचनाकार के रूप में ग़ालिब के जीवन-संघर्ष को चित्रित करता है। शायरी की दुनिया में ग़ालिब का अपना ही एक मुकाम रहा है। किन्तु एक रचनाकार के रूप में ग़ालिब का जीवन भी संघर्षों से भरा रहा है। सुरेन्द्र वर्मा ग़ालिब के जीवन के माध्यम से दरअसल रचनाकारों के सदियों के संघर्षों, कष्टों तथा नैतिक मूल्यों को ही प्रकट कर रहे हैं। डॉ. नीलम राठी इस सन्दर्भ में अपनी पुस्तक 'साठोत्तर हिंदी नाटक (मिथकीय-तत्त्वों के सन्दर्भ में)' लिखती हैं, "'कैद-ए-हयात' में जिस ऐतिहासिक मिर्जा ग़ालिब को प्रस्तुत किया गया है वह महज ऐतिहासिक रुझान का प्रतिनिधित्व नहीं करता वरन् उसके माध्यम से समकालीन सृजनधर्मिता के संभावित अभावों, संकटों, संघर्षों और परंपरागत नैतिक मूल्यों को भी अभिव्यक्त करता है।"[81]

5.9 'आषाढ़ का एक दिन' और 'कैद-ए-हयात'

सुरेन्द्र वर्मा कृत नाटक 'कैद-ए-हयात' के ग़ालिब की तुलना मोहन राकेश के नाटक 'आषाढ़ का एक दिन' के पात्र कालिदास के जीवन से की जा सकती है। दोनों ही ऐतिहासिक पुरुष के साथ-साथ एक साहित्यकार भी रहे हैं। दोनों ही नाटकों में रचनाकारों के संघर्षशील चरित्र उभरकर सामने आए

हैं। ग़ालिब की ज़िंदगी निजी, सामाजिक तथा सियासी, तीनों ही रूपों से समस्याओं से घिरी हुई थी। ठीक वैसे ही कालिदास की ज़िंदगी भी इन तीनों रूपों से, समस्याओं से घिरी हुई थी।

जैसे एक तरफ कालिदास अपनी निजी ज़िंदगी में एक कवि के रूप में अपनी पहचान बनाने के लिए अपनी काव्य-प्रेरणा स्वरूप प्रेमिका 'मल्लिका' और अपनी भूमि को छोड़कर उज्जयिनी राज्य का राजकवि बनने हेतु चला जाता है। कालिदास अपनी भूमि और प्रेमिका मल्लिका को छोड़कर नहीं जाना चाहता है किन्तु मल्लिका उससे तर्क करती है कि उसके काव्य, उसकी रचना को मुकम्मल पहचान उज्जयिनी के राजकवि बनने के बाद अधिक मिलेगी, "ये क्यों नहीं सोचते कि नयी भूमि तुम्हें यहाँ से अधिक सम्पन्न और उर्वरा मिलेगी। इस भूमि से तुम जो कुछ ग्रहण कर सकते थे, कर चुके हो। तुम्हें आज नयी भूमि की आवश्यकता है, जो तुम्हारे व्यक्तित्व को अधिक पूर्ण बना दे।"[82] मल्लिका और अपनी भूमि से उखड़कर कालिदास अपनी निजी ज़िंदगी में अंततः अपनी प्रेरणा स्वरूप अपनी प्रेयसी मल्लिका को खो ही देता है। नाटक के अंत में कालिदास जब अपने प्रांत लौटकर मल्लिका के पास आता है तब सब कुछ बदल चुका होता है। मल्लिका का विवाह विलोम से हो गया रहता है। एक कवि, एक रचनाकर के रूप में यश प्राप्त करने में मल्लिका को वह खो देता है। जिस निजी जीवन की शायद एक कवि के रूप में कालिदास ने कल्पना की थी, वह उसे नहीं मिल पाता है। अंत में उसकी निजी ज़िंदगी को दुखांत मोड़ देखकर मोहन राकेश ने नाटक का अंत कर दिया है। जैसे नाटककार मोहन राकेश ने कालिदास के माध्यम से एक रचनाकर के निजी जीवन की एक कड़वी सच्चाई भी दिखाई हो कि रचनाधर्मिता का पालन करने तथा अस्मिता निर्माण में एक साहित्यकार की अपनी निजी ज़िंदगी बहुत अधिक प्रभावित होती है।

ग़ालिब भी अपनी निजी ज़िंदगी में रचनाकार के रूप में अपनी अस्मिता-निर्माण में घर की आर्थिक स्थिति को ठीक नहीं कर पाता है। नाटक के आरंभ में ही उमराव जो ग़ालिब की पत्नी है, घर में ख़राब आर्थिक हालात का कारण ग़ालिब की शायरी को बताती है। मिर्जा ग़ालिब आर्थिक संकट को जानते हैं, लेकिन हर समय अपने इस रचनाकर्म में इतने व्यस्त रहते हैं कि वह अपने घर के इस

आर्थिक संकट को दूर नहीं कर पाते हैं। पांच साल की उम्र में पिता के देहांत के बाद ग़ालिब की परवरिश ननिहाल में हुई और महज तेरह साल की उम्र में शादी हो गई। जीवन यापन के लिए दिल्ली से लेकर कोलकाता और लखनऊ, बनारस कहाँ-कहाँ नहीं भटके। इसके अतिरिक्त उनके एक के बाद एक आठ बच्चों का देहांत होता चला गया। परिणामस्वरूप अंततः वह निःसंतान ही रह गए। ग़ालिब स्वयं अपने इस आर्थिक संकट को अपनी शायरी के माध्यम से प्रकट करते हैं,

"ऐसी चली सुखन के चमन में हवा-ए-कर्ज
ग़ालिब का नाम सफह-ए-अव्वल पे हुआ दर्ज
अब है नहीं तौफीक कि वो कर सके अदा
घर का घिराव करके महाजन ने दी सदा।"[83]

कहने का अर्थ यह है कि दोनों ही नाटकों के नाटककारों ने ऐतिहासिक पात्र-चरित्र रचनाकार ग़ालिब और कालिदास के माध्यम से आज के आधुनिक साहित्यकार के निजी जीवन पर भी रोशनी डाली है। कई आधुनिक साहित्यकारों की निजी ज़िंदगी कष्टों से भरी रही है। जैसे निराला, मुक्तिबोध और नागार्जुन आदि साहित्यकार हुए हैं, जिनकी निजी ज़िंदगी बहुत ही कष्टों और संघर्षों से गुजरी है। इन्होंने भी आर्थिक संकटों का सामना किया है। निराला ने तो अपनी बेटी सरोज तक को खो दिया जिसके बाद उसकी स्मृति में उन्होंने 'सरोज स्मृति' लिखा था। इनके अतिरिक्त भी कई ऐसे रचनाकार हैं जिनकी रचना प्रतिभा आर्थिक संकटों में ही दम तोड़ देती है। उनकी रचना और उनका व्यक्तित्व किसी गुमनामी के अँधेरे में ही गुम हो जाता है।

ग़ालिब का निजी जीवन जिस प्रकार कष्टों से घिरा हुआ था, उसी प्रकार उनका सामाजिक जीवन भी कमोबेश वैसा ही था। आर्थिक तंगी से वे परेशान थे, जिसके कारण उन्हें महाजनों से कर्ज लेना पड़ता था। किन्तु वह कर्ज चुका नहीं पाते थे। जिस कारण उनके खिलाफ वारंट निकल जाता है और जिसके कारण ग़ालिब को छिप कर घर में ही रहना पड़ता है। घर में पत्नी उमराव से अक्सर

सुनने को तो मिलता ही था, घर के बाहर समाज भी इनके ऊपर व्यंग्य करता था। कहते हैं कोई ऐसी गली, मोहल्ला नहीं था, जहाँ ग़ालिब को लोगों के व्यंग्य न सुनने को मिलते थे। ग़ालिब की इन सामाजिक परिस्थितियों का पता आपा और उमराव के बीच होने वाली बातचीत से पता चलता है, "उमराव : बहुत दुश्वार होता है रहना और समझना, अगर शौहर- शौहर बाद में हो पहले शायर हो।

आपा : और मेरा कयास है कि मिर्जा नौशा को समझने के वास्ते सबसे सहज नुक्ता यही है।

उमराव : (व्यंग्य से) जरूर

आपा : (समझाते हुए) सुखनवर है, इसीलिए बहुत हस्सास है और पास जो ब्याज है न, वह बरहमेश याद दिलाती रहती है कि...

उमराव : उस ब्याज को कोई पूछता भी है ? जिस शायरी पर इतना नाजों-गुरूर पाले हैं, जरा जानूं कि किस अहले-नजर ने उनकी तम्बीह नहीं की ? एक दिन ऐसा नहीं गुजरता, जब इनके अशआर को लेकर कोई लतीफा न आता हो सुनने में ! मैं तो जिल्लत के मारे जमीन में गड़ी जाती हूँ।" [84]

ग़ालिब के सामाजिक जीवन के समान ही कालिदास का सामाजिक जीवन कई समस्याओं से घिरा हुआ था। जिस समाज के बीच एक रचनाकार एक साहित्यकार अपनी रचना के कारण, अपनी एक विशेष पहचान बना पाता है, वही साहित्यकार अपने जीवन में अपने समाज से बहुत दुख भी उठाता है। बहुत कम ही साहित्यकार अपने जीवन काल में जीवित रहते हुए अपने समाज से पद, प्रतिष्ठा और वैभव प्राप्त कर सके हैं। कालिदास मल्लिका को अपने काव्य की न केवल प्रेरणा स्रोत मानता है, बल्कि हृदय से उससे उतना प्रेम भी करता है। किन्तु कालिदास और मल्लिका के प्रेम को गाँव के लोग संदेह और वितृष्णा से देखते हैं। नाटक के प्रथम अंक में ही मल्लिका और अम्बिका के बीच के संवाद से इस बात की जानकारी मिल जाती है, "मल्लिका : सच तो यह है माँ, कि ग्राम के अन्य व्यक्तियों की तरह तुम भी उन्हें संदेह और वितृष्णा की दृष्टि से देखती हो।"[85] एक साहित्यकार अपने जीवन में सामाजिक आलोचना की बहुत अधिक परवाह नहीं करता है। वह निरंतर अपने

रचना-संसार में खोया रहता है। एक साहित्यकार के लिए प्रेम, प्रकृति, उसकी भूमि का क्या अर्थ है? आम लोग इस बात का अनुभव नहीं करते हैं और वितृष्णा स्वरूप व्यंग्य और आलोचना करते हैं। कालिदास भी ऐसी ही सामाजिक परिस्थितियों से गुजरता रहता है। नाटक में कालिदास के ग्राम में विलोम नाम का पात्र भी है जो मल्लिका को पसंद करता है, यह जानते हुए भी कि कालिदास और मल्लिका एक-दूसरे से अगाध प्रेम करते हैं। इसके बावजूद कालिदास के प्रति नकारात्मक भावना रखता है और अक्सर मल्लिका की माँ अम्बिका के घर जाकर कालिदास के प्रति उसके मन में अविश्वास पैदा करता रहता है। आधुनिक जीवन में आज भी विलोम जैसे चरित्र हैं, जो किसी के भी जीवन में अनाधिकार प्रवेश कर जाते हैं। आधुनिक समय में भी एक रचनाकर के आस-पास समाज में बहुत से लोग विलोम के सामन होते हैं, जो अक्सर अवसर का लाभ उठाकर उसे नुकसान पहुंचाने का प्रयत्न करते हैं, "कालिदास, मल्लिका, अम्बिका जब-जब भावना और द्वंद्व की चरम सीमा पर होते, तब वह उन्हें छेड़ता है, अपनी उपस्थिति का पूरा ऐहसास कराता है और अवसर का पूरा फायदा उठाता है।"[86]

इस प्रकार नाटक में ग़ालिब और कालिदास दोनों को ही अपने समकालीन समय में अपने समाज के व्यंग्य और आलोचना का सामना करना पड़ा है। इसके बावजूद दोंनो ही साहित्यकार तमाम आलोचनाओं और संघर्षों के बाद भी एक श्रेष्ठ रचनाकार के रूप में अपनी पहचान बनाने में सफल रहे हैं।

ग़ालिब निजी और सामाजिक उलझनों के साथ-साथ राजनैतिक उलझनों से भी घिरा हुआ था। ग़ालिब के पारिवारिक मामलों को जानने पर पता चलता है कि ग़ालिब के चाचा की जागीर फिरोजपुर झिर्का के नवाब अहमदबख्श खां को दे दी गई थी। और जिसके बदले में ग़ालिब के परिवार को दस हजार हर वर्ष देना तय हुआ था। इस हिसाब से ग़ालिब को 750 रू. उसके हिस्से के मिलते थे। लेकिन अहमदबख्श खां ने ग़ालिब के साथ राजनैतिक खेल खेला और लार्ड लेक से मिलकर दस हजार की तय राशि कम करवाकर पांच हजार करवा दी। ग़ालिब के साथ यह सियासी खेल यहीं

नहीं रुका बल्कि ख्वाजाहाजी नाम के एक अन्य शख्स को भी इसका हिस्सेदार बना दिया गया। ग़ालिब को इस सियासी राजनीति से लड़ने के लिए न जाने कितनी बार दिल्ली, कोलकाता की अदालतों के चक्कर काटने पड़े थे । यहाँ तक कि अपने ही हक़ के लिए न्याय के लिए रिश्वत भी देनी पड़ी थी। इस बात का बोध नाटक में शीरी और ग़ालिब के बीच होने वालि बातचीत से पता चलता है, "शीरी : क्या आपको भी कुछ रिश्वत देनी पड़ी थी ?

मिर्ज़ा : राज को राज ही रहने दीजे, वर्ना हर्फे इंसाफ से लोगों का यकीं उठ जाएगा।"[87]

'आषाढ़ का एक दिन' का कालिदास भी राजनैतिक व्यवस्था के हाथों लाचार दिखता है। कई बार एक रचनाकार के आगे कोई मार्ग नहीं बचता, सिवाय इसके कि वह व्यवस्था के अनुसार चले। कालिदास भी एक रचनाकार के रूप में अपनी अस्मिता का निर्माण करना चाहता है, किन्तु किसी राजनैतिक दवाब में आकर नहीं। एक रचनाकार के लिए सबसे प्रिय उसकी लेखनीय स्वतंत्रता ही है। मोहन राकेश स्वयं अपने एक भाषण में कहते हैं कि समझौता किसी भी रचनाकार के व्यक्तित्व को अनिवार्य रूप से खंडित कर देता है। ऐसे में आवश्यक है कि उसकी स्वतंत्रता बनी रहे, लेकिन कई बार आर्थिक हालत एक रचनाकार को समझौते के लिए मजबूर कर देते हैं। इस सन्दर्भ में गिरीश रस्तोगी लिखती हैं, "कालिदास के सामने भी राज्य द्वारा दिये गए सम्मान और राज्याश्रय स्वीकार करने का, उससे अधिक उससे उत्पन्न विरोधी स्थितियों का प्रश्न है; यह नहीं कि उसे राजकीय सम्मान का मोह नहीं है, बल्कि प्रश्न उसी स्वतंत्रता का, साहित्यकार के व्यक्तित्व और अधिकार का है- 'मैं राजकीय मुद्राओं से क्रीत होने के लिए नहीं हूँ'- यह पंक्ति लेखक के रचना-दायित्व और उसके स्वाभिमान और उसकी स्वतंत्रता की गहरी इच्छा को ही अभिव्यक्त करती है।"[88] तभी मामा मातुल के कहने पर और राजपुरुष के प्रस्ताव पर प्रारंभ में वह राजकवि बनना स्वीकार नहीं करता है। किन्तु बाद में मल्लिका के आग्रह पर वह राज कवि का पद स्वीकार कर लेते हैं। इसके पश्चात् कालिदास एक कवि के रूप में अपनी पहचान तो बना लेता है, लेकिन इसके बाद कभी भी उस राज्याधिकार को प्राप्त कर स्वाभाविक नहीं रह पाता। द्वंद्वों में घिरा हुआ अंततः वह जब

कश्मीर का शासन छोड़कर वापस आता है तो समय काफी आगे निकल चुका होता है। मल्लिका न केवल विलोम से विवाह कर चुकी होती है, बल्कि उसकी संतान की माँ भी बन चुकी होती है। इस प्रकार कालिदास की ज़िंदगी को भी राजनैतिक व्यवस्था ऐसे मोड़ पर लाकर छोड़ देती है, जहाँ उसका अपना व्यक्तित्व खंडित हो जाता है। द्वंद्वों में घिरा हुआ उसका जीवन नीरस सा हो जाता है।

इस प्रकार 'कैद-ए-हयात' का ग़ालिब और 'आषाढ़ का एक दिन' का कालिदास दोनों ही प्रतीक हैं उन साहित्यिकारों के जो अपने समकालीन समय में हमेशा से ही निजी, समाजी और सियासी उलझनों, आलोचनाओं और राजनैतिक व्यवस्थाओं के हाथों की कठपुतली बन गए हैं। ये भी अपने रचनाधर्मिता में तो संलग्न रहें, जिससे उनकी ख्याति तो दुनियाभर में हो गई, किन्तु उनकी अपनी निजी ज़िंदगी खंडित हो जाती है। वह एक रचनाकार के रूप में सफल तो हो जाते हैं, किन्तु उनका अपना निजी जीवन कष्टों से भरा होता है। जैसे उदाहरण स्वरूप निराला, मुक्तिबोध या नागार्जुन का जीवन हम देख सकते हैं।

इस प्रकार मोहन राकेश के नाटक की तुलना सुरेन्द्र वर्मा के नाटकों से करने पर एक निष्कर्ष बिंदु पर पहुँचा जा सकता है कि जिस मध्यवर्गीय परिवार के त्रासदभरे जीवन की कथा को कहने की परंपरा मोहन राकेश ने की थी, उस कथा-परंपरा को ही सुरेन्द्र वर्मा ने अपने नाटकों में भिन्न कथानक और भिन्न परिस्थितियों के माध्यम से, किन्तु उसी समान भाव से नाटक में प्रस्तुत किया है। आधुनिक जीवन की विसंगतियों और टूटते-बिखरते परंपरागत जीवन मूल्यों को सुरेन्द्र वर्मा ने और भी विस्तार दिया है। उन्होंने मध्यवर्गीय के साथ-साथ उच्च-मध्यवर्गीय परिवार के विघटन को भी अपनी नाट्य-कथा में स्थान दिया है। मोहन राकेश के पात्रों चरित्रों में परंपरा के कुछ अंश जीवित देखे जा सकते हैं। तभी कमोबेश पारिवारिक सदस्यों के बीच एक-दूसरे के प्रति लगाव या सहानुभूति देखी जा सकती है। वहीं सुरेन्द्र वर्मा के पौराणिक और ऐतिहासिक नाटकों को छोड़ दें तो उनके आधुनिक पात्र-चरित्रों वाले नाटकों में तो परंपरा से चले आ रहे संबंधों का मूल्य ही नष्ट होता दिखाई देता है। तभी 'द्रौपदी' में 'सुरेखा' और 'मनमोहन', 'एक दूनी एक' में 'आदमी' और 'औरत', 'शकुन्तला

की अंगूठी' में 'कुमार' और 'कनक' जो उच्च-मध्यवर्गीय परिवार से संबंध रखते हैं, उनके बीच के संबंधों का मूल्य नष्ट होता जाता है कि सुरेन्द्र वर्मा के नाटकों के पात्र जिस पारिवारिक विघटन से वे गुजर रहे हैं, वह आज के उत्तर-आधुनिक हालात हैं। जहाँ अधूरे रिश्ते पहले से और भी ज्यादा बिखरते जा रहे हैं। वे एक-दूसरे से अलग होते जा रहे हैं। सारी विकट परिस्थितियाँ और अधिक गहरा गई हैं। मोहन राकेश और सुरेन्द्र वर्मा के नाटकों में जो मुख्य केंद्रीय विषय है, वह है एक घर की खोज। 'आधे-अधूरे' में घर की खोज में ही सावित्री और महेन्द्रनाथ अपना घर बसाते हैं। ठीक उसी प्रकार एक घर के ही स्वप्न को लेकर 'द्रौपदी' में सुरेखा और मनमोहन अपना घर बसाते हैं। किन्तु वक्त के साथ न सावित्री-महेन्द्रनाथ का घर, घर के मूल अर्थ को चरितार्थ कर पाता हैऔर न सुरेखा-मनमोहन का घर ही। घर-परिवार जिस नींव पर टिका होता है, जैसे- एक-दूसरे से प्रेम, विश्वास, लगाव, स्नेह, आदि वह दोनों ही घर से लगभग नदारत ही रहते हैं। यह मूल समस्या दोनों ही नाटककारों के नाटकों में मौजूद है। राकेश के नाटकों में इस आधुनिक विघटन का आरंभिक चरण दिखता है। इसीलिए इन पात्र-चरित्रों में द्वंद्व, अनास्था, अधूरापन, नफरत आदि दिखती है, किन्तु इन पात्रों का चरित्र पूर्णतः नष्ट नहीं होता है। तभी द्वंद्व है, एक लगाव बचा हुआ है। किन्तु वहीं सुरेन्द्र वर्मा के आधुनिक कथा-पात्रों पर आधारित नाटकों में पात्रों का चरित्र पूर्णतः नष्ट दिखता है, जहाँ प्रेम ने अपना अर्थ खो दिया है और वह काम केन्द्रित हो चुका है। भोगवादी जीवन-दृष्टि ने लगभग सभी को स्वार्थी बना दिया है। हर एक रिश्ते को फायदे और नुकसान की दृष्टि से देखा गया है। अतः सुरेन्द्र वर्मा के नाट्य-पात्रों की संवेदना समाप्त को चुकी है वहीं राकेश के नाट्य पात्रों के अन्दर परंपरा का थोड़ा-सा अंश शेष दिखता है जबकि सुरेन्द्र वर्मा के पात्र पूर्णतः संवेदनहीन यांत्रिक बन चुके दिखाई देते हैं।

सन्दर्भ-

1. पाण्डेय, अम्बादत्त; आधुनिकता और आलोचना; प्रेम प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली; संस्करण, 1985; पृ 18.
2. गौतम, रमेश; मिथक और स्वातंत्र्योत्तर हिंदी नाटक; नचिकेता प्रकाशन,विजय नगर, दिल्ली; संस्करण, प्रथम; पृ 113.
3. त्रिपाठी, आशीष; कृति मूल्यांकन आषाढ़ का एक दिन; राजपाल प्रकाशन, मदरसा रोड़, कश्मीरी गेट, दिल्ली; संस्करण, 2019; पृ 190 .
4. गौतम, रमेश; रंगानुभव के बहुरंग; स्वराज प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली; संस्करण, 2006; पृ 187.
5. अग्रवाल, प्रतिभा; भारतीय साहित्य के निर्माता मोहन राकेश; साहित्य आकादमी, फिरोजशाह मार्ग; नई दिल्ली; संस्करण, 1987; पृ 62 .
6. रस्तोगी, गिरीश; हिंदी नाटक का आत्मसंघर्ष; लोक भारती प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली, संस्करण, 2002; पृ 134.
7. पाल, विजय; सुरेन्द्र वर्मा के नाटकों मर आधुनिकता बोध; नीरज बुक सेंटर, पटपड़गंज, दिल्ली; संस्करण, 2013; पृ 34 .
8. राकेश, मोहन; आषाढ़ का एक दिन; राजपाल प्रकाशन, कश्मीरी गेट, दिल्ली; संस्करण, 2011; पृ 98, 99, 100.
9. वर्मा, सुरेन्द्र; आठवां सर्ग; राधाकृष्ण प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली; संस्करण, 1976; पृ 56, 58 .
10. वही; पृ 72 .
11. पाल, विजय; सुरेन्द्र वर्मा के नाटकों में आधुनिकता बोध; नीरज बुक सेंटर, पटपड़गंज, दिल्ली; संस्करण, 2013; पृ 24 .
12. रस्तोगी, गिरीश; हिंदी नाटक का आत्मसंघर्ष; लोक भारती प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली; संस्करण, 2002; पृ 140 .
13. पाल, विजय; सुरेन्द्र वर्मा के नाटकों में आधुनिकता बोध; नीरज बुक सेंटर, पटपड़गंज, दिल्ली; संस्करण, 2013; पृ 73 .
14. वर्मा, सुरेन्द्र; आठवां सर्ग; राधाकृष्ण प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली; संस्करण, 1976; पृ 55 .

15. राकेश, मोहन; आषाढ़ का एक दिन; राजपाल प्रकाशन, कश्मीरी गेट, दिल्ली; संस्करण, 2011; पृ 28 .
16. वर्मा, सुरेन्द्र; तीन नाटक; वाणी प्रकाशन,दरियागंज, नई दिल्ली; संस्करण, 2005; पृ 34 .
17. चातक, गोविन्द; आधुनिक हिंदी नाटक का अग्रदूत मोहन राकेश; राधाकृष्ण प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली; संस्करण, 2016; पृ 54, 55 .
18. वर्मा, सुरेन्द्र; तीन नाटक; वाणी प्रकाशन,दरियागंज, नई दिल्ली; संस्करण, 2005; पृ 34, 35.
19. वर्मा, सुरेन्द्र; आठवां सर्ग; राधाकृष्ण प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली; संस्करण, 1976; पृ 33 .
20. त्रिपाठी, आशीष; कृति मूल्यांकन आषाढ़ का एक दिन; राजपाल प्रकाशन, मदरसा रोड़, कश्मीरी गेट ,दिल्ली; संस्करण, 2019; पृ 144, 145 .
21. पाल, विजय; सुरेन्द्र वर्मा के नाटकों में आधुनिकता बोध; नीरज बुक सेंटर, पटपड़गंज, दिल्ली; संस्करण, 2013; पृ 71 .
22. त्रिपाठी, आशीष; कृति मूल्यांकन आषाढ़ का एक दिन; राजपाल प्रकाशन, मदरसा रोड, कश्मीरी गेट, दिल्ली; संस्करण, 2019; पृ 146 .
23. वर्मा, सुरेन्द्र; तीन नाटक; वाणी प्रकाशन,दरियागंज, नई दिल्ली; संस्करण, 2005; पृ 36 .
24. त्रिपाठी, आशीष; कृति मूल्यांकन: आषाढ़ का एक दिन; राजपाल प्रकाशन, मदरसा रोड़, कश्मीरी गेट, दिल्ली; संस्करण, 2019; पृ 147, 148 .
25. रस्तोगी, गिरीश; हिंदी नाटक का आत्मसंघर्ष; लोकभारती प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली; संस्करण, 2002; पृ 220 .
26. रस्तोगी, गिरीश; मोहन राकेश और उनके नाटक; लोकभारती प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली; संस्करण, 2008; पृ 65 .
27. रस्तोगी, गिरीश; हिंदी नाटक का आत्मसंघर्ष; लोक भारती प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली, संस्करण, 2002; पृ 206, 207 .
28. वही; पृ 207 .
29. खेमानी, कुसुम; हिंदी नाटक के पांच दशक; राधा कृष्ण प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली; संस्करण, 2015; पृ 92 .

30. वर्मा, सुरेन्द्र; सूर्य की अंतिम किरण से सूर्य की पहली किरण तक; राधाकृष्ण प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली; संस्करण, 1976; पृ 43 .
31. वर्मा, सुरेन्द्र; सूर्य की अंतिम किरण से सूर्य की पहली किरण तक; राधाकृष्ण प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली; संस्करण, 1976; पृ 24 .
32. रस्तोगी, गिरीश; हिंदी नाटक का आत्मसंघर्ष; लोकभारती प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली; संस्करण, 2002; पृ 153 .
33. वर्मा, सुरेन्द्र; सूर्य की अंतिम किरण से सूर्य की पहली किरण तक; राधाकृष्ण प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली; संस्करण, 1976; पृ 26 .
34. राठी, नीलम; साठोत्तर हिंदी नाटक (मिथकीय तत्त्वों के सन्दर्भ में); संजय प्रकाशन,प्रगति विहार, दिल्ली; संस्करण, 2001; पृ 199 .
35. खेमानी, कुसुम; हिंदी नाटक के पांच दशक; राधाकृष्ण प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली; संस्करण, 2015; पृ 170 .
36. वही; पृ 109,110 .
37. वही; पृ 110 .
38. राकेश, मोहन; आधे-अधूरे; राधाकृष्ण प्रकाशन, जगतपुरी दिल्ली; संस्करण, 1993; पृ 12 .
39. खेमानी, कुसुम; हिंदी नाटक के पांच दशक; राधाकृष्ण प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली; संस्करण, 2015; पृ 92, 93 .
40. पाल, विजय; सुरेन्द्र वर्मा के नाटकों में आधुनिकता बोध; नीरज बुक सेंटर, पटपड़गंज, दिल्ली; संस्करण, 2013; पृ 15 .
41. वही; पृ 20 .
42. वही; पृ 20 .
43. त्रिपाठी, आशीष; कृति मूल्यांकन आषाढ़ का एक दिन; राजपाल प्रकाशन, मदरसा रोड़, कश्मीरी गेट, दिल्ली; संस्करण, 2019; पृ 154 .
44. वही; पृ 155 .
45. वही; पृ 155, 156 .

46. गौतम, रमेश; हिंदी के प्रतीक नाटक; नचिकेता प्रकाशन, पहाडगंज, नई दिल्ली; संस्करण, 1979; पृ 244.
47. पाल, विजय; सुरेन्द्र वर्मा के नाटकों में आधुनिकता बोध; नीरज बुक सेंटर, पटपड़गंज, दिल्ली; संस्करण, 2013; पृ 67 .
48. वर्मा, सुरेन्द्र; तीन नाटक; वाणी प्रकाशन,दरियागंज, नई दिल्ली;संस्करण, 2005; पृ 76 .
49. वही; पृ 82, 83 .
50. त्रिपाठी, आशीष; कृति मूल्यांकन आषाढ़ का एक दिन; राजपाल प्रकाशन, मदरसा रोड़, कश्मीरी गेट, दिल्ली; संस्करण, 2019; पृ 157 .
51. खेमानी, कुसुम; हिंदी नाटक के पांच दशक; राधाकृष्ण प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली; संस्करण, 2015; पृ109 .
52. वही; पृ 111 .
53. पाल, विजय; सुरेन्द्र वर्मा के नाटकों में आधुनिकता बोध; नीरज बुक सेंटर, पटपड़गंज, दिल्ली; संस्करण, 2013; पृ 69, 70 .
54. वही; पृ 170,172 .
55. वर्मा, सुरेन्द्र; तीन नाटक; वाणी प्रकाशन,दरियागंज, नई दिल्ली; संस्करण, 2005; पृ 83, 84 .
56. राठी, नीलम; साठोत्तर हिंदी नाटक (मिथकीय तत्त्वों के सन्दर्भ में); संजय प्रकाशन,प्रगति विहार, दिल्ली; संस्करण, 2001; पृ 200 .
57. वही; पृ 201 .
58. वही; पृ 201 .
59. पाल, विजय; सुरेन्द्र वर्मा के नाटकों में आधुनिकता बोध; नीरज बुक सेंटर, पटपड़गंज, दिल्ली; संस्करण, 2013; पृ. 89 .
60. वही; पृ. 89 .
61. राठी, नीलम; साठोत्तर हिंदी नाटक (मिथकीय तत्त्वों के सन्दर्भ में); संजय प्रकाशन,प्रगति विहार, दिल्ली; संस्करण, 2001; पृ 202 .
62. वही; पृ 202 .

63. गौतम, रमेश; हिंदी के प्रतीक नाटक; नचिकेता प्रकाशन, पहाडगंज, नई दिल्ली, संस्करण, 1979; पृ 290.

64. राठी, नीलम; साठोत्तर हिंदी नाटक (मिथकीय तत्त्वों के सन्दर्भ में); संजय प्रकाशन,प्रगति विहार, दिल्ली; संस्करण, 2001; पृ 201

65. वही; पृ 204 .

66. पाल, विजय; सुरेन्द्र वर्मा के नाटकों में आधुनिकता बोध; नीरज बुक सेंटर, पटपड़गंज, दिल्ली; संस्करण, 2013; पृ 46 .

67. राकेश, मोहन; आधे-अधूरे; राधाकृष्ण प्रकाशन, जगतपुरी, दिल्ली; संस्करण, 1993; पृ 29 .

68. पाल, विजय; सुरेन्द्र वर्मा के नाटकों में आधुनिकता बोध; नीरज बुक सेंटर, पटपड़गंज, दिल्ली; संस्करण, 2013; पृ 47 .

69. वही; पृ 47, 48 .

70. जैन, नेमिचंद्र; मोहन राकेश के सम्पूर्ण नाटक; राजपाल एंड सन्ज, कश्मीरी गेट, दिल्ली; संस्करण, 2013; पृ 438 .

71. वही; पृ 415, 416 .

72. वर्मा, सुरेन्द्र; तीन नाटक; वाणी प्रकाशन,दरियागंज, नई दिल्ली;संस्करण, 2005; पृ 108 .

73. वही; पृ 417 .

74. पाल, विजय; सुरेन्द्र वर्मा के नाटकों में आधुनिकता बोध; नीरज बुक सेंटर, पटपड़गंज, दिल्ली; संस्करण, 2013; पृ 69 .

75. जैन, नेमिचंद्र; मोहन राकेश के सम्पूर्ण नाटक; राजपाल एंड सन्ज, कश्मीरी गेट, दिल्ली; संस्करण, 2013; पृ 432 .

76. पाल, विजय; सुरेन्द्र वर्मा के नाटकों में आधुनिकता बोध; नीरज बुक सेंटर, पटपड़गंज, दिल्ली; संस्करण, 2013; पृ 25 .

77. रस्तोगी, गिरीश; मोहन राकेश और उनके नाटक; लोकभारती प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली; संस्करण, 2015; पृ 47 .

78. पाल, विजय; सुरेन्द्र वर्मा के नाटकों में आधुनिकता बोध; नीरज बुक सेंटर, पटपड़गंज, दिल्ली; संस्करण, 2013; पृ 26 .

79. रस्तोगी, गिरीश; मोहन राकेश और उनके नाटक; लोकभारती प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली; संस्करण, 2015; पृ 48 .

80. पाल, विजय; सुरेन्द्र वर्मा के नाटकों में आधुनिकता बोध; नीरज बुक सेंटर, पटपड़गंज, दिल्ली; संस्करण, 2013; पृ 28 .

81. राठी, नीलम; साठोत्तर हिंदी नाटक (मिथकीय तत्त्वों के सन्दर्भ में); संजय प्रकाशन,प्रगति विहार, दिल्ली; संस्करण, 2001; पृ 189 .

82. राकेश, मोहन; आषाढ़ का एक दिन; राजपाल प्रकाशन, कश्मीरी गेट, दिल्ली; संस्करण, 2011; पृ 47.

83. राठी, नीलम; साठोत्तर हिंदी नाटक (मिथकीय तत्त्वों के सन्दर्भ में); संजय प्रकाशन, प्रगति विहार, दिल्ली; संस्करण, 2001; पृ 190 .

84. पाल, विजय; सुरेन्द्र वर्मा के नाटकों में आधुनिकता बोध; नीरज बुक सेंटर, पटपड़गंज, दिल्ली; संस्करण, 2013; पृ 58 .

85. राकेश, मोहन; आषाढ़ का एक दिन; राजपाल प्रकाशन, कश्मीरी गेट, दिल्ली; संस्करण, 2011; पृ 15.

86. रस्तोगी, गिरीश; हिंदी नाटक का आत्मसंघर्ष; लोक भारती प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली, संस्करण, 2002; पृ 140 .

87. पाल, विजय; सुरेन्द्र वर्मा के नाटकों में आधुनिकता बोध; नीरज बुक सेंटर, पटपड़गंज, दिल्ली; संस्करण, 2013; पृ 59.

88. रस्तोगी, गिरीश; मोहन राकेश और उनके नाटक; लोकभारती प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली; संस्करण, 2015; पृ 48 .

उपसंहार

स्वातंत्र्योत्तर हिंदी नाटककारों ने अपने नाटकों में भावुकता तथा रूमानियत के स्थान पर बौद्धिकता, तार्किकता और अनुचेतनात्मक यथार्थ को आश्रय दिया है। इसके अलावा व्यक्ति, परिवार, समाज, राष्ट्र तथा मानवता के साथ-साथ ही फ्रायड, मार्क्स आदि के सिद्धांतों को अपनी नाट्य- रचना में स्थान देना आरंभ किया। इस प्रक्रिया में कहीं परंपरा का अनुशीलन किया गया, कहीं उसे ग्रहण किया गया, तो कहीं उसका त्याग किया गया है। जिन परंपराओं को ग्रहण किया गया उनसे पौराणिक कथाएँ तथा ऐतिहासिक आख्यान लिए गए, किन्तु इन परंपराओं को ग्रहण करने तथा इनके प्रयोग करने का उद्देश्य इतिहास की पुनरावृत्ति करना नहीं था, बल्कि आधुनिकता को प्रकट करना था। स्वातंत्र्योत्तर हिंदी नाटककारों ने आधुनिक जीवन तथा उसकी समस्याओं को प्रकट करने के लिए जो एक सशक्त माध्यम चुना वह है मिथकीयता, जिसे पौराणिक कथाओं तथा ऐतिहासिक आख्यानों के साथ समावेश कर दिखाया गया है। इसके अलावा बिम्ब और प्रतीक का भी सहारा लिया गया है। यहाँ मिथकीय, बिम्ब और प्रतीक तीनों का प्रयोग नाटकों में अतीत को वर्तमान से जोड़ने का काम करता है। जिसका आखिरी उद्देश्य आधुनिक युग-परवेश को व्याख्यायित करना है।

स्वतन्त्रतापूर्व हिंदी नाटकों में भी संवेदनात्मक नाट्य-रचनाएँ लिखी गई हैं, किन्तु स्वातंत्र्योत्तर हिंदी नाटकों के भाव-बोध, वस्तु तथा शिल्प इनसे भिन्न हैं। इन नाटकों की अपनी ही विशेषता है जैसे कि ये नाटक आधुनिक महानगरीय जीवन एवं उनकी विसंगतियों को प्रकट करना, पाश्चात्य जीवन शैली से प्रेरित जीवन की पड़ताल करना तथा व्यक्तिगत जीवन के बाह्य तथा आंतरिक द्वंद्वों को उद्घाटित करना है। स्वातंत्र्योत्तर हिंदी साहित्य की बात करें तो इसमें हम आधुनिकता को पश्चिमी जीवन-दृष्टि से प्रभावित पाते हैं। आधुनिकता का पाश्चात्य रूप आधुनिकता के भारतीय रूप को समझने में सहायक हो सकता है, लेकिन यह भारतीय जीवन का मूल्य नहीं हो सकता है, क्योंकि

दोनों की अपनी अलग ही एक परंपरागत धारणा रही है । स्वातंत्र्योत्तर हिंदी नाटककारों ने आधुनिकता के विभिन्न रूपों को चित्रित करने के लिए परंपरागत कथा और चरित्रों का सहारा लिया है। किन्तु परंपरागत प्राचीन नाट्य कृतियों में जो नैराश्य दिखता है, वह आधुनिक नाट्य कृतियों से भिन्न है। वह इस रूप में भिन्न है कि आधुनिक नाटकों में बौद्धिकता और चिंतन के विभिन्न धरातल पर ही इसे स्वीकार किया गया है।

आधुनिकता की बात करें तो ऐतिहासिक रूप से इसके दो दौर रहे हैं जो घटनात्मक इतिहास को निर्मित करते हैं। एक स्वतंत्रता आन्दोलन के दौरान, दूसरा स्वतंत्रता के बाद। इसीलिए स्वतंत्रता के बाद की आधुनिकता ने परंपरागत जीवन की लगभग सभी स्थापित मान्यताओं को बदलकर रख दिया। इस आधुनिकता ने नाट्य कृतियों के साथ-साथ लगभग सभी विधाओं को एक नवीन विषय की ओर इंगित किया। भावबोध और जीवन का यह आधुनिक और व्यापक परिप्रेक्ष्य था। यह व्यापक परिप्रेक्ष्य था मानव का अकेलापन, असुरक्षा, आत्म-निर्वासन, परिवारों का विघटन, नगरीकरण, औद्योगीकरण आदि।

स्वातंत्र्योत्तर हिंदी नाटक का प्रारंभ जगदीश चंद्र माथुर द्वारा रचित नाटक 'कोणार्क' से माना जाता है। कथ्य के अतिरिक्त इस नाटक की जो विशेषता है वह चरित्र-सृजन के नए आयामों को देने में है। जिससे इसे एक ऐतिहासिक नाट्य उपलब्धि ही माना गया है। स्वातंत्र्योत्तर हिंदी नाटक में आधुनिक भाव-बोध की अभिव्यक्ति विभिन्न नाटककारों के नाटकों में देखी जा सकती है। जगदीश चंद्र माथुर के अतिरिक्त हिंदी नाटक के छठे दशक में धर्मवीर भारती का 'अंधा युग' जो एक क्लासिकल रचना मानी जाती है । महाभारत और उनके पात्रों के संदर्भो में द्वितीय विश्वयुद्ध और उसके बाद की विभीषिकाओं का चित्रण किया है। आधुनिक मानव की नीति और राजनीति से उत्पन्न त्रासदी को परंपरागत ऐतिहासिक पौराणिक पात्रों की मदद से सफलतापूर्वक चित्रित किया गया है । इसके अलावा लक्ष्मीनारायण लाल का 'अंधा कुआ', मादा कैक्टस' आदि ऐसे नाटक हैं जिनमें हम आधुनिक जीवन के भाव-बोध देख सकते हैं। इसी दशक में मोहन राकेश के नाटकों का पदार्पण

होता है। जिन्हें आधुनिक नाटक का अग्रदूत कहा जाता है। सर्वप्रथम वे 'आषाढ़ का एक दिन' नाटक लेकर आते हैं, जो कालिदास के जीवन पर आधारित है। नाट्य-कथा मिथकीय है, जो आधुनिक मानव और आज के रचनाकार के द्वंद्वात्मक जीवन को चित्रित करती है। साथ ही इस नाटक में मल्लिका के रूप में एक परंपरागत और आधुनिक नारी, दोनों ही रूपों का भी दर्शन होता है। सातवें दशक में उनका दूसरा नाटक 'लहरों के राजहंस' प्रकाशित होता है। जिसमें बुद्ध के भाई नन्द और सुंदरी की कथा कही गई है, किन्तु उससे बढ़कर यह कथा एक द्वंद्व की स्थिति में फंसे एक आधुनिक मानव की कथा है। इसी दशक में इनका नाटक 'आधे-अधूरे' भी प्रकाशित होता है। जो एक मध्यवर्गीय परिवार के विघटन और अधूरेपन की कथा को प्रस्तुत करता है। सातवें दशक में ही ज्ञानदेव अग्निहोत्री का 'शुतुरमुर्ग' आता है, जो भ्रष्ट राजनीति और सामाजिक व्यवस्था की पोल को प्रतीकों और व्यंग्यों के माध्यम से प्रस्तुत करता है। इसके अतिरिक्त इस दशक के कई ऐसे नाटक भी हैं, जो आधुनिक जीवन की विसंगतियों को प्रकट करते हैं। सातवें दशक के बाद से आठवें दशक में काफी हिंदी नाटककारों और नाटकों की संख्या बढती गई। नाटक कथ्य और शिल्प की दृष्टि से भी अधिक समृद्ध होती गई। इस दशक के जो विशेष नाटककार और उनके नाटक हैं वे हैं- रमेश बक्षी, जिनका नाटक है 'देवयानी का कहना है', सर्वेश्वरदयाल सक्सेना का 'बकरी', मणि मधुकर का 'रस गन्धर्व', मुद्राराक्षस का 'योर्स फेथफुली', नरेंद्र कोहली का 'शम्बूक की हत्या' और शंकर शेष का 'एक और द्रोणाचार्य' आदि। इन नाटकों में परंपरा का सार्थक प्रयोग है, प्रतीक और बिम्ब हैं, जो आधुनिक जीवन और उनकी विसंगतियों को बखूबी प्रकट करते हैं।

स्वातंत्र्योत्तर इन हिंदी नाटककारों के मध्य हिंदी नाटक को एक दिशा देने का जो सबसे विशेष कार्य किया गया है, जिनके नाटकों ने आधुनिक समाज, परिवार, व्यक्ति के बाह्य और आंतरिक जीवन की गहराई से पड़ताल की वह हैं मोहन राकेश और उनके नाटक। मोहन राकेश की ही नाट्य-परंपरा को आगे बढ़ाने का काम नाटककार सुरेन्द्र वर्मा ने 70 के दशक में किया। सुरेन्द्र वर्मा के नाटकों के कथानक और पात्रों के चरित्रों में भी परंपरा और आधुनिकता के स्वभावगत गुण देखने को मिल

जाते हैं। मोहन राकेश के नाटकों का समाज, परिवार या व्यक्ति के चरित्र को देखें तो वे पूर्णतः खंडित नहीं हुए प्रतीत होते हैं। किसी न किसी में उसका दायित्व-बोध बचा हुआ दिखता है। या कहें तो कहीं न कहीं थोड़ी बहुत एक उम्मीद या आपसी लगाव दिखता है। किन्तु सुरेन्द्र वर्मा के नाटकों में ऐसा प्रतीत होता है, जैसे उनके नाटकों का जो समाज, परिवार और व्यक्ति है, वह है तो वही मोहन राकेश के नाटकों जैसा ही, किन्तु अब परिस्थितियाँ और भी कठिन हो चुकी हैं। सुरेन्द्र वर्मा के नाटकों के पात्रों ने पूर्णतः अपने परंपरागत चरित्र को त्याग दिया है, जैसे कि खंडित व्यक्तित्व, आंतरिक द्वंद्व और बिखराव अपने चरम पर हैं। आधुनिक जीवन का भयावह स्वरूप जिसे सभी मनुष्यों ने अपना लिया है। किसी में किसी के प्रति कोई लगाव या मोह नहीं दिखता है। प्रेम मांसल हो चुका है। हर एक रिश्ते का आधार लाभ और हानि पर टिका हुआ है। दोनों ही नाटककारों के नाटकों में परंपरा और आधुनिकता संबंधी तत्वों को संदर्भों के माध्यम से समझें तो नाटक में परंपरा और आधुनिकता संबंधी अवधारणा को और भी बेहतर तरीके से समझा जा सकता है।

कहते हैं हिंदी नाटक को एक सृजनात्मक, व्यापक और ठोस समग्र-सामूहिक कला के रूप में प्रतिष्ठा दिलाने का श्रेय मोहन राकेश और उनके नाटकों को ही जाता है। यूँ तो उन्होंने अपने अल्प जीवन काल में तीन नाटकों और एक अधूरे नाटक का सृजन किया है, किन्तु ये तीनों नाटक 'आषाढ़ का एक दिन', 'लहरों के राजहंस' और 'आधे-अधूरे' स्वातंत्र्योत्तर आधुनिक भारतीय समाज, परिवार और व्यक्ति के आंतरिक द्वंद्वों को प्रकट करने में काफी हद तक सफल हैं। उसी प्रकार सुरेन्द्र वर्मा ने कुल 10 नाटकों के माध्यम से उन्हीं आधुनिक सवालों को उठाया है और उन्हीं समस्याओं को चित्रित किया है जिसे मोहन राकेश ने अपने नाटकों में उठाया है। किन्तु सुरेन्द्र वर्मा ने इन समस्याओं और सवालों को और भी प्रखर और स्पष्ट शब्दों में व्यक्त किया है। उनके दस नाटक इस प्रकार हैं- 'द्रौपदी' (1972), 'सेतुबंध'(1972),'नायक खलनायक विदूषक'(1972),'सूर्य की अंतिम किरण से सूर्य की पहली किरण तक'(1975), 'आठवां सर्ग'(1976), 'छोटे सैयद बड़े सैयद'(1982),

'एक दूनी एक' (1987), 'शकुन्तला की अंगूठी'(1990), 'कैद-ए-हयात'(1993),और 'रति का कंगन'(2010)।

मोहन राकेश ने मात्र तीन ही नाटक लिखे हैं, वहीं दूसरी ओर सुरेन्द्र वर्मा ने कुल दस नाटकों का लेखन किया है। अतः दोनों के नाटकों का तुलनात्मक अध्ययन करने के पश्चात् किसी निष्कर्ष पर पहुँचा जा सकता है। मोहन राकेश के प्रथम दो नाटक 'आषाढ़ का एक दिन' और 'लहरों के राजहंस' के कथानक और पात्र-चरित्र को देखें तो दोनों ही नाटकों में पौराणिक मिथकीय कथा को लिया गया है, वहीं इसके पात्र चरित्र ऐतिहासिक परंपरा से लिए गए हैं। दूसरी ओर सुरेन्द्र वर्मा के तीन नाटकों 'द्रौपदी', 'एक दूनी एक', और 'शकुन्तला की अंगूठी' सुरेन्द्र वर्मा के ऐसे नाटक हैं, जिनकी कथावस्तु और पात्र-चरित्र आधुनिककालीन हैं। इस दृष्टि से सुरेन्द्र वर्मा के तीन नाटकों को छोड़ कर शेष नाटक मिथकीय पौराणिक कथाओं पर आधारित हैं। जिनका भाव-बोध आधुनिककालीन समाज और व्यक्ति के द्वंद्व, कुंठा और जीवन के भटकाव आदि को ही चित्रित करता है। जबकि मोहन राकेश का नाटक 'आधे-अधूरे' और उनका अधूरा नाटक 'पैर तले की जमीन' आधुनिक कथानक और पात्र-चरित्रों से सृजित हुआ है।

मोहन राकेश और सुरेन्द्र वर्मा के नाटकों में एक विशेष समानता है और वह यह है कि दोनों में ही पात्र के रूप में संस्कृत साहित्य के महाकवि कालिदास का चयन किया है। दोनों ही नाटककारों ने कालिदास के जीवन पर आधारित एक मिथकीय कथा के माध्यम से आधुनिक मानव जीवन और उसके संघर्ष को चित्रित किया है। जैसे 'आषाढ़ का एक दिन' का मुख्य पात्र-चरित्र कालिदास है। वहीं सुरेन्द्र वर्मा ने अपने नाटक 'आठवां सर्ग' नाटक में कालिदास के जीवन को केन्द्रित कर आधुनिक जीवन की विसंगतियों को दिखाया है। इसके अतिरिक्त 'सेतुबंध' नामक अपने नाटक में सुरेन्द्र वर्मा ने अप्रत्यक्ष रूप से कालिदास के जीवन से नाट्य-कथा को जोड़ा, उसका वर्णन है। कालिदास और ऐतिहासिक पौराणिक परंपरागत आख्यान के माध्यम से आधुनिक जीवन की जटिलताओं को प्रस्तुत करना ही दोनों नाटककारों का ध्येय रहा है, ऐसा कहना गलत नहीं होगा।

दोनों ही नाटकों में कालिदास एक रचनाकार और एक कवि के रूप में प्रतिष्ठित होते हैं । दोनों कालिदास के माध्यम से आधुनिक मानव और एक रचनाकार के जीवन-संघर्ष को चित्रित करते हैं। किन्तु 'आषाढ़ का एक दिन' के कालिदास का जीवन आंतरिक रूप से द्वंदों से घिरा हुआ है। वह निर्णय लेने में एक कमजोर पात्र-चरित्र है। अपने जीवन- लक्ष्य और निजी जीवन के मध्य आधुनिक मानव के समान संतुलन नहीं बना पाता है । जिसके कारण वह अपने लेखकीय जीवन की प्रेरणा और प्रेमिका मल्लिका को खो देता है। वहीं 'आठवां सर्ग' का कालिदास अपने रचनाकर्म के प्रति पूर्णतः वचनबद्ध है। उसकी रचना पर राज्य द्वारा प्रतिबंध लगाने पर उस प्रतिबंध को तो स्वीकार कर लेता है, किन्तु किसी भी प्रकार अपनी रचना में परिवर्तन स्वीकार नहीं करता है, दोष नहीं आने देता है। अतः 'आठवां सर्ग' का कालिदास आधुनिक मानव या उस रचनाकार का प्रतीक है, जो अपने रचनाकर्म के प्रति निष्ठावान है। वह आधुनिक समय में भी अपनी सत्ता के साथ समझौता नहीं करता है। वह इस आधुनिक समय में किसी भी पद-प्रतिष्ठा के प्रति मोह नहीं दिखाता है। जिससे कहीं न कहीं रचनाकार के कर्म और प्रतिष्ठा को जीवित रखता है। अतः दोनों ही कालिदास आधुनिक जीवन या रचनाकारों के जीवन के अलग-अलग पहलुओं को चित्रित करते हैं । मोहन राकेश के कालिदास का चरित्र एक रचनाकार के रूप में समझौतावादी दिखता है, साथ ही द्वंद्वों में घिरे हुए एक संशययुक्त, आत्मकेंद्रित, दुर्बल आधुनिक व्यक्ति का प्रतीक है। वहीं एक रचनाकार और व्यक्तिगत रूप से भी सुरेन्द्र वर्मा का कालिदास दृढ़ निश्चय रखने वाला एक साहित्यकार, एक कवि है। जिसकी जीवन- दृष्टि स्पष्ट है। जो एक साहित्यकार के रूप में सत्ता से समझौता नहीं करता है । वह अपने कवि-कर्म से अंततः भटकता नहीं है। इस रूप में आधुनिक काल में एक रचनाकार और एक व्यक्ति विशेष के जीवन की जटिलताओं, चुनौतियों और द्वंद्वों को दो भिन्न दृष्टियों और पक्षों से दिखाने का प्रयत्न दोनों रचनाकरों ने किया है, क्योंकि आज का आधुनिक रचनाकार या व्यक्ति विशेष कहें तो कहीं समझौतावादी हो चुका है तो कुछ रचनाकार या व्यक्ति आज भी सत्य और अपने कर्तव्य के

प्रति निष्ठावान हैं, परंपरागत रूप से आदर्श जीवन और चरित्र की कल्पना की गई है। उस पर अपने जीवन में अंत तक चलते हैं।

मोहन राकेश और सुरेन्द्र वर्मा के नाटकों में पुरुषों की तुलना में स्त्री पात्रों में परंपरागत चरित्र के साथ -साथ आधुनिक चरित्र के भी दर्शन होते हैं, जैसे दोनों ही नाटककारों के नाटकों में कालिदास के जीवन से जुड़े नाटक 'आषाढ़ का एक दिन', 'सेतुबंध' और 'आठवां सर्ग' पर दृष्टि डालें तो जैसे मल्लिका के चरित्र की तुलना 'सेतुबंध' नाटक की प्रभावती से करने पर हम देखते हैं कि दोनों ही पात्रों के चरित्र में परंपरागत और आधुनिक तत्व विद्यमान हैं। जैसे मल्लिका अपने प्रेमी कालिदास को स्वयं राजकवि बनने भेज देती है। जिससे उसके चरित्र में एक त्याग करने वाली परंपरागत नारी का स्वरूप दिखता है। कालिदास को राजकवि बनने के लिए भेजकर खुद की खुशियों का त्याग कर देना मल्लिका के चरित्र को और भी श्रेष्ठ बनाता है। मल्लिका प्रतीक स्वरूप है इस नाटक में, उस भारतीय नारी की जो प्रेम में त्याग जैसी चली आ रही सदियों की परंपरा को चुनती है। प्रभावती के चरित्र में भी एक परंपरावादी और आधुनिक स्त्री की छवि के दर्शन होते हैं। प्रभावती भी अपने प्रेमी कालिदास के अस्तित्व की रक्षा हेतु पिता चन्द्रगुप्त की धमकी के आगे अपने प्रेम का त्याग कर देती है और वाकाटक राजकुमार रुद्रसेन से विवाह करना स्वीकार कर लेती है। अतः मल्लिका और प्रभावती दोनों ही के चरित्र में परंपरावादी स्त्री की छवि देखी जा सकती है।

'आषाढ़ का एक दिन' में मल्लिका के अतिरिक्त मल्लिका की माता अम्बिका के चरित्र में भी आधुनिक स्त्री की छवि देखने को मिलती है। मल्लिका के चरित्र को आधुनिकता की दृष्टि से देखें तो वर्षों तक मल्लिका कालिदास की प्रतीक्षा करने के बाद अपने जड़ हालातों से आधुनिक स्त्री के समान समझौता कर लेती है और नाटक के खल पात्र विलोम से विवाह कर लेती है। आज की आधुनिक स्त्रियाँ प्रेम में असफल हो जाने पर उस रिश्ते को लेकर बहुत चिंतित नहीं होती दिखती हैं। बल्कि अपने जीने की नई उम्मीद तलाश एक नया रिश्ता तलाश लेती हैं। उसी प्रकार मल्लिका अंततः कालिदास से निराश होकर अपनी ज़िंदगी विलोम के साथ विवाह कर बिताने का निर्णय

लेती है। सुरेन्द्र वर्मा के नाटक 'सेतुबंध' की स्त्री पात्र 'प्रभावती' के चरित्र की तुलना मल्लिका के आधुनिक चरित्र के साथ करें तो प्रभावती के आधुनिक चरित्र का दर्शन नाटक के उस अंक में होता है, जहाँ प्रभावती से पुत्र प्रवरसेन द्वारा कालिदास और उसके विवाहपूर्व प्रेम सन्दर्भ में सवाल पूछने पर प्रभावती का बिना किसी संकोच के उत्तर देना, उसके चरित्र में आधुनिकता को दर्शाता है। अपनी भावनाओं को विवाह के पश्चात् कुँवारी बताना उसके चरित्र की आधुनिक दृष्टि को दर्शाता है। मल्लिका और प्रभावती के सामाजिक जीवन में काफी अंतर होते हुए भी हम देख सकते हैं कि दोनों परंपरागत स्त्री के समान अपने प्रेम संबंध को निभाती हैं। किन्तु जब बात आती है जीवन की कड़वी सच्चाई को स्वीकार करने की तो दोनों एक आधुनिक स्त्री के सामन बर्ताव करती प्रतीत होती हैं। मल्लिका आधुनिक स्त्री के समान जीवन की सच्चाई को स्वीकार कर कालिदास से निराश विलोम से विवाह कर लेती है। दूसरी ओर वर्षों पूर्व जीवन में अपने प्रेमि कालिदास को प्रभावती त्याग चुकी होती है एक दिन जब उसका पुत्र प्रवरसेन उसके कालिदास से प्रेम-संबंधी सवाल पूछता है तो खुद की भावनाओं को आज तक कुँवारी बताना उसके चरित्र को आज की उस आधुनिक स्त्री के निकट लेकर जाता है, जो विवाह पश्चात् अपने जीवन के किसी सत्य को बताने या उसे स्वीकार करने में संकोच नहीं करती है। 'आषाढ़ का एक दिन' में अम्बिका भी एक आधुनिक स्त्री की ही प्रतीक है जो जीवन में भावनाओं के स्थान पर व्यावहारिकता को महत्त्व देती है। इसलिए वह कालिदास के प्रेम को संशय की दृष्टि से देखती है। विलोम भी उस आधुनिक मानव का प्रतीक है जो अवसरवादी है। वह एक ऐसे आधुनिक मानव को चरितार्थ करता है जिसे इस बात से बहुत अधिक फर्क नहीं पड़ता है कि उसके चरित्र के सन्दर्भ में कौन क्या सोचता है। वह बस उस अवसर की तलाश में रहता है जहाँ पर उसका अपना निजी स्वार्थ सिद्ध हो सके। उसी प्रकार सुरेन्द्र वर्मा के नाटक 'सेतुबंध' में चन्द्रगुप्त और 'आठवां सर्ग' नाटक में अमात्य-परिषद् उस आधुनिक स्वार्थी मानव का प्रतीक है जो अपने निजी स्वार्थ में या रूढ़ परंपरागत धारणा को कालिदास जैसे रचनाकार की रचना पर आरोपित करने का प्रयत्न करता है। रचनाकार की रचना की गुणवत्ता जाँच किये बिना उसपर

प्रतिबंध लगा देते हैं या चन्द्रगुप्त के समान अपने राज्य विस्तार की आकांक्षा हेतु अपनी पुत्री प्रभावती की खुशियों का गला घोट देते हैं। अतः मोहन राकेश का 'आषाढ़ का एक दिन' और सुरेन्द्र वर्मा का 'आठवां सर्ग' और 'सेतुबंध' नाटक के मध्य आधुनिकता संबंधी जो अंतर दिखता है, वह यह है कि एक आधुनिक रचनाकर या मानव के रूप में कालिदास द्वंद्व में घिरा हुआ रहता है और निर्णय लेने में सक्षम नहीं दिखता है। वह न अपने प्रेम के प्रति समर्पित हो पाता है और न एक शासक के रूप में सफल हो पाता है। जीवन में वह पग-पग पर समझौता करता हुआ एक कवि के रूप में तो सफल हो जाता है, लेकिन अपनी निजी ज़िंदगी या कहें तो आंतरिक जीवन में एक असफल व्यक्ति सिद्ध होता है। वहीं 'आठवां सर्ग' के कालिदास की बात करें तो वह आधुनिक या उस रचनाकार का प्रतिनिधित्व करता है, जो सदियों से अपने रचना कर्म के प्रति प्रतिबद्ध है। जो सत्ता के साथ या अपने जीवन में किसी भी मोड़ पर समझौता नहीं करता है। इन नाटकों के स्त्री-चरित्रों, जैसे मल्लिका या प्रभावती के चरित्र में परंपरा और आधुनिकता की तुलना करें तो दोनों ही समान धरातल पर नाटक के प्रारंभ में एक परंपरावादी स्त्री सिद्ध होती हैं, जो प्रेम में त्याग करती है और अपने जीवन की सारी सुखियों को त्याग कर भी अपने प्रेमी कालिदास के अस्तित्व की रक्षा और निर्माण में सहायक बनती है। वहीं नाट्य-कथानक में जब मल्लिका कालिदास की ओर से निराश हो जाती है तो उसके वियोग में खुद को होम नहीं करती, बल्कि एक आधुनिक स्त्री की भांति जीवन में आगे बढ़ जाती है और विलोम जैसे नाटक के खल पात्र से विवाह कर लेती है। तब वह पूर्णतः आधुनिक स्त्री प्रतीत होती है। वैसे ही प्रभावती भी पुत्र प्रवरसेन द्वारा प्रश्न करने पर निःसंकोच कालिदास से अपने रिश्ते के सन्दर्भ में न केवल बताती है बल्कि अपनी भावनाओं को कुँवारी बताती है। अतः इन दोनों स्त्री-चरित्रों में परंपरा और आधुनिकता का रूप एक समान स्तर पर दिखता है, जहाँ त्याग और समर्पण भी है, जीवन की कटु सच्चाई को स्वीकार करने की आधुनिक स्त्रियों की भांति हौसला और प्रत्युत्तर देने ही हिम्मत भी है।

मोहन राकेश के दूसरे नाटक 'लहरों के राजहंस'(1963) की तुलना सुरेन्द्र वर्मा के नाटक 'सूर्य की अंतिम किरण से सूर्य की पहली किरण तक'(1975) से करें तो ये दोनों नाटक भी मिथकीय पौराणिक कथा परआधारित हैं। ये दोनों नाटक भी अपने मिथकीय ऐतिहासिक पौराणिक कलेवर में परंपरा और आधुनिकता के संवाहक हैं। इन दोनों नाटकों के पुरुष पात्र भी ऐतिहासिक हैं, लेकिन आधुनिक मनुष्य के समान प्रतीत होते हैं जो आज के आधुनिक जीवन में उलझे हुए खुद के अस्तिव को ढूढ़ रहे हैं या अपने ही अस्तित्व के प्रति संशय में हैं। जीवन में अपने विश्वास को खो चुके हैं। इन संदर्भों में 'लहरों के राजहंस' का मुख्य पुरुष पात्र नन्द और 'सूर्य की अंतिम किरण से सूर्य की पहली किरण तक' का मुख्य पुरुष पात्र ओक्काक 'आषाढ़ का एक दिन' के कालिदास के समान ही एक कमजोर चरित्र का सिद्ध होता है। जो द्वंद्वों से घिरा हुआ निर्णय लेने में असमर्थ पात्र चरित्र का होता है। जो अपने ही हालात और परिस्थितयों में उलझकर अपनी अस्मिता की तलाश करते हुए संघर्षरत रहता है। नन्द एक तरफ कभी अपने भाई बुद्ध के दिखाए हुए मार्ग पर चलने हेतु प्रेरित होता है तो कभी अपनी पत्नी सुंदरी के रूप-सौंदर्य के मोह-पाश में फंसकर इस सांसारिकता में ही अपने जीवन की सार्थकता मानता है। किन्तु नाटक के अंत तक वह अपने इस द्वंद्व को जीत नहीं पाता है। वहीं ओक्काक भी एक ऐसे शासक का प्रतीक है, जिसका खुद की सत्ता पर पकड़ नहीं है। उसके नौकरशाह उसकी ही जिन्दगी को नियमों और क़ानूनों में उलझाकर उसकी ज़िंदगी की मुसीबतों को बढ़ा देते हैं। एक तरह अमात्य परिषद् द्वारा ओक्काक को इस बात के लिए मजबूर किया जाता है कि वह अपनी पत्नी शीलवती को धर्मनटी बनने के लिए आदेश दे। दूसरी ओर धर्मनटी बनने के पश्चात् शीलवती का परंपरावादी स्त्री चरित्र को त्याग एक आधुनिक स्त्री के समान अपने अधिकार के लिए तर्क करना ओक्काक को एक जटिल और द्वंद्वात्मक स्थित में डाल देता है। नन्द और ओक्काक के चरित्र पर दृष्टि डालें तो दोनों ही आधुनिक मानव के समान प्रतीत होते हैं। जो अपने अस्तित्व की खोज में भटकते रहते हैं। जीवन की सारी भौतिक सम्पन्नता भी उनके अस्तित्व को पूर्ण नहीं कर पाती है। इन दोनों नाटकों के स्त्री चरित्रों की तुलना करें तो सुंदरी और शीलवती दोनों

के चरित्र में परंपरा और आधुनिकता के तत्व दिख जाते हैं। सुंदरी की धारणा है कि पत्नी का सौंदर्य ही पति को उसके प्रति आसक्त रखता है, यह एक परंपरावादी धारणा है जो सुंदरी के चरित्र में दिखती है। सुंदरी यहाँ प्रतीक है आज के उन तमाम आधुनिक स्त्री या पुरुषों की, जो शरीर के माध्यम से जीते हैं। जीवन में बुद्ध के निर्वाण जैसे अपार्थिव जीवन मूल्यों की तुलना में इस भौतिक पार्थिव शरीर को अधिक महत्त्व देते हैं। यदि शीलवती की बात करें तो नाटक के उस स्थल पर जहाँ वह ओक्काक से अपने स्त्रीत्व की बात करती है, धर्मनटी बनने से इनकार करती है और अपने सम्मान, अपनी गरिमा और पत्नी धर्म की बात करती है तो उसके चरित्र में परम्परवादी स्त्री के दर्शन होते हैं। स्त्री जीवन की सार्थकता सिर्फ माँ बनने में नहीं है, उससे बढ़कर है, यह कहकर अपने पति ओक्काक से तर्क करना उसके चरित्र में आधुनिकता को दर्शाता है। इस तरह 'लहरों के राजहंस' और 'सूर्य की अंतिम किरण से सूर्य की पहली किरण तक' में की तुलना करें दोनों के द्वंद्व में मूलभूत अन्तर इतना है कि 'लहरों के राजहंस' में नन्द और सुंदरी का द्वंद्व, रिश्तों में तनाव, मानसिक और मनोवैज्ञानिक पार्थिव और अपार्थिव संदर्भों में है। वहीं ओक्काक और शीलवती का द्वंद्व और टकराहट उनके मनोविज्ञान को उद्घाटित तो अवश्य करता है किन्तु पार्थिव जरूरतों के संदर्भो में है। 'लहरों के राजहंस' में नन्द और सुंदरी का चरित्र आधुनिक मनुष्य और उसके जीवन में अधिक ठहरता है, जहाँ वे आधुनिक मनुष्य की ही भांति शरीर के माध्यम से जीते हैं और भौतिक सुखों को जीवन का उत्कर्ष मानते हैं। 'सूर्य की अंतिम किरण से सूर्य की पहली किरण तक' का ओक्काक उस औपनिवेशिक संस्कृति का द्योतक है, साथ ही आधुनिक मनुष्य का प्रतीक भी है, जो हर चीज को अपने फायदे के लिए, चाहे वह पत्नी ही क्यों न हो, इस्तेमाल करता है। शीलवती परंपरावादी स्त्री से आधुनिक स्त्री की ओर बढ़ जाती है, जब तक पति के जीवन को अपने जीवन का सत्य मानती है तब तक उसके चरित्र में परम्परवादी व्यक्तित्व दिखाई देता है, किन्तु जब वह अपने शरीर की जरूरतों को मेहसूस करने लगती है, तब वह एक पत्नी के स्थान पर एक आधुनिक स्त्री की भांति उसके शारीरिक जरूरतों और उसकी सार्थकता की बात निःसंकोच करती है।

मोहन राकेश का तीसरा नाटक है 'आधे-अधूरे' इस नाटक में राकेश ने न तो पौराणिक कथा का और न ही ऐतिहासिक पात्रों का चयन किया है। आधुनिक मनुष्य के खंडित आधे-अधूरे जीवन को, उसके आंतरिक द्वंद्वो को चित्रित किया है। वैसे ही सुरेन्द्र वर्मा ने भी अपने नाटक 'द्रौपदी', 'एक दूनी एक' और 'शकुंतला की अंगूठी' में आधुनिक मानव के द्वंद्व, खंडित व्यक्तित्व और काम के प्रति आसक्तियों को बड़ी बेबाकी से दिखाया है। 'आधे-अधूरे' का महेन्द्रनाथ और 'द्रौपदी' नाटक का मनमोहन दोनों के ही व्यक्तित्व के कई रूप होते हैं। जिससे वे अलग-अलग समय पर भिन्न-भिन्न लोगों के साथ व्यवहार करते हैं और संबंध रखते हैं। ठीक वैसे ही जैसे आज के आधुनिक समाज में एक ही व्यक्ति के कई चरित्र होते हैं। अतः अपने खंडित व्यक्तित्व के कारण उसके जीवन में न ठहराव होता है और न किसी के प्रति अपनत्व की भावना ही होती है। यह नाटक एक मध्यवर्गीय परिवार के माध्यम से आधुनिक परिवारों के अंदर संबंधहीनता, अजनबीपन, अधूरेपन, आंतरिक संघर्ष आदि को विविध स्तरों पर चित्रित करता है। स्त्री पात्रों में आधे-अधूरे की मुख्य पात्र सावित्री है और 'द्रौपदी' नाटक की मुख्य स्त्री पात्र सुरेखा है। सावित्री के चरित्र में परंपरागत चरित्र भी नजर आता है, जो आधुनिकता के साथ समाहित होकर आता है। पृथक रूप में नहीं। सावित्री के चरित्र पर दृष्टि डालें तो वह एक आधुनिक नारी प्रतीत होती है, जो अपनी जिम्मेदारि यों का निर्वहन करने के साथ-साथ अपनी आकांक्षाओं को भी जीना चाहती है। तभी वह घर की ख़ुशियों के साथ-साथ अपने व्यक्तिगत जीवन की भी परवाह करती है। वह घर और घर के लोगों के लिए जितना कर सकती है, करती तो है, साथ ही खुद की खुशियों को भी तलाशती है, जिसके लिए वह कई पुरुषों के संपर्क में भी आती है। किन्तु सबके व्यक्तित्व में वह एक अधूरापन ही पाती है। इस दृष्टि से जब वह माँ, पत्नी या घर की मुखिया होने के नाते सबकी परवाह करती है तो परंपरावादी स्त्री चरित्र में दिखती है, किन्तु खुद के लिए एक घर की तलाश में कई पुरुषों से जुड़ती है या उनसे संबंध स्थापित करती है, तो आधुनिक स्त्री ही प्रतीत होती है। सुरेन्द्र वर्मा अपने नाटक 'द्रौपदी' में एक उच्च मध्यवर्गीय परिवार की कथा प्रस्तुत करते हैं, इस दृष्टि से सुरेखा का अपनी बेटी अलका के संबंधों

के बारे में जानना और उससे भी बढ़कर अपनी ही बेटी को अनैतिक संबंध के लिए प्रोत्साहित करना, उसके चरित्र में आधुनिक मानव के उस चरित्र को दर्शाता है, जहाँ आज का मानव भौतिक सुखों को किसी भी संबंध और उसकी गरिमा से बढ़कर अधिक महत्त्व देने लगा है। दोनों ही नाटकों में इन मुख्य पात्रों के अतिरिक्त और भी कई ऐसे पात्र हैं जो कमोबेश आधुनिक जीवन की विसंगतियों को प्रस्तुत करते हैं। अतः 'आधे-अधूरे' नाटक आधुनिक मध्यवर्गीय विघटित परिवार और 'द्रौपदी' नाटक उच्च मध्यवर्गीय परिवारों के विघटन को बड़ी सूक्ष्मता से चित्रित करता है। दोनों नाटक में एक मूल अन्तर यह है कि 'आधे-अधूरे' में पारिवारिक विघटन उस स्तर तक नहीं दिखता है, जितना कि 'द्रौपदी' में देखा जा सकता है। 'आधे-अधूरे' में सावित्री और महेन्द्रनाथ के परिवार में जैसे पुत्र की पिता के प्रति सहानुभूति दिखती है और कमोबेश बड़ी बेटी बिन्नी का लगाव अपनी माता सावित्री से भी दिखता है। इस रूप में यह कहा जा सकता है कि 'आधे-अधूरे' में कहीं न कहीं पारिवारिक मूल्यों का कुछ अंश उनके रिश्तों में बचा हुआ देखा जा सकता है। किन्तु द्रौपदी नाटक में पारिवारिक विघटन पूर्णतः अपने चरम पर देखा जा सकता है। जिसमें न कोई मर्यादा है, न परंपरागत पारिवारिक मूल्यों के प्रति आस्था दिखती है। बस जीवन की केंद्रीय धुरी काम-केन्द्रित देखी जा सकती है। जो आज के आधुनिक समय की एक बड़ी विसंगति है। जिसे नाटककार ने सीधे अभिधा शब्दों में चित्रित किया है।

सुरेन्द्र वर्मा का एक नाटक है 'शकुंतला की अंगूठी'(1990)। यह नाटक आज के युवा और उनके मध्य काम केन्द्रित प्रेम को व्यंजित करता है। जिनमें न कोई ठहराव है न स्थायित्व। जहाँ प्रेम-संबंध का एक ही उद्देश्य प्रतीत होता है शारीरिक-सुख। नाटक के दो मुख्य पात्र हैं कुमार और कनक। इनके प्रेम- संबंधों के चित्रण से नाटककार ने आधुनिक प्रेम के कुत्सित स्वरूप को व्याख्यायित किया है। कुमार और कनक दोनों ही एक रंगशाला में मिलते हैं। दोनों में प्रेम, कनक के शंकाओं और इच्छाओं के द्वंद्व में कायम होता है, क्योंकि कनक प्रेम में पहले धोखा खा चुकी थी। इसके पश्चात् भी दोनों में प्रेम होता है और शारीरिक रिश्ते बनते हैं। फिर कुमार कनक को यूँ छोड़कर चला जाता

है, पीछे कनक गर्भवती हो जाती है, किन्तु कनक कुमार के जाने पर अपनी ज़िंदगी से मायूस नहीं होती है। सुदर्श से विवाह कर लेती है। जो उससे बहुत प्रेम करता है और किसी भी परिस्थिति में उसे अपनाने के लिए राजी रहता है। सुरेन्द्र वर्मा के इस नाटक की तुलना मोहन राकेश के 'आधे-अधूरे' नाटक से कर सकते हैं। सावित्री हो या कनक या सावित्री की बड़ी बेटी बिन्नी कही न कहीं ये सभी आज की वे आधुनिक स्त्रियाँ हैं, जो घर की खोज में सबंध स्थापित करती हैं। लेकिन आज काएक सच यह भी है कि व्यक्ति आंतरिक रूप से इस प्रकार द्वंद्वात्मक अवस्था में जीवन व्यतीत कर रहा है कि वह अपने जीवन का सही मार्ग और साथी तय नहीं कर पाता है । यांत्रिक और भौतिकतावादी समय में लोग क्षणिक सुखों के पीछे अधिक भाग रहे हैं। अतः आज का व्यक्ति आन्तरिक रूप से टूटा हुआ, खंडित और व्याकुल है। सावित्री के लिए चाहे पति महेन्द्रनाथ हो, जगमोहन हो जुनेजा हों, सिंघानिया हो या कनक के लिए उसका प्रेमी नील या कुमार। यहाँ सभी यह तय करने में असमर्थ होते हैं कि किसके साथ अंततः ज़िंदगी जीनी है। अतः किसी न किसी कारण रिश्ते बनते-बिगड़ते रहते हैं और फिर एक नए रिश्ते और एक घर की तलाश में भटकते ही रहते हैं।

सुरेन्द्र वर्मा का अगला नाटक 'एक दूनी एक'है। यह नाटक उच्च-मध्यवर्गीय समाज के स्त्री-पुरुष के संबंधों और व्यक्तित्व को व्याख्यायित करता है। जिसमें प्रेम-संबंधो में धोखा, विवाह से पूर्व और विवाह के पश्चात् अनैतिक संबंध, विवाह जैसी प्रथा के प्रति अरुचि आदि को विस्तार पूर्वक चित्रित किया गया है। मोहन राकेश के नाटकों के चरित्रों की तुलना में इसके सभी पात्र चरित्र उत्तर-आधुनिक समाज और परिवार के प्रतीत होते हैं जिनका व्यक्तित्व खंडित और भ्रष्ट है। उनकी ज़िंदगी में अकेलापन है। वैवाहिक जीवन के प्रति कोई विशेष आस्था नहीं है। इनका व्यक्तित्व द्वंद्वों से घिरा हुआ है। पहले प्रेम संबंध बनाते हैं और फिर शारीरिक संबंध। अंत में संबंध तोड़ लेते हैं। संवेदना और प्रेम इनकी ज़िंदगी में निरर्थक भावना मात्र बनकर रह गए हैं। अतः उत्तर-आधुनिक काल में इनकी ज़िंदगी एक यांत्रिक जीवन बनकर रह गई है, ऐसा कहना गलत नहीं होगा। कहने का अर्थ

यह है कि कमोबेश मोहन राकेश के नाटकों की स्त्री हो या पुरुष सभी पात्रों के चरित्र में आधुनिकता के लक्षण तो हैं ही, किन्तु उनके चरित्र में परंपरागत संस्कार कहीं न कहीं जीवित हैं, ऐसा कहा जा सकता है। किन्तु सुरेन्द्र वर्मा के नाटकों को देखें तो प्रेम, भरोसा, आस्था जैसी चीज परिवार और समाज से प्रायः लुप्त होती दिखती हैं। इसके अतिरिक्त मोहन राकेश के अधूरे नाटक 'पैर तले की जमीन' और सुरेन्द्र वर्मा के 'कैद-ए-हयात' और 'रति का कंगन' नाटक में आधुनिक मनुष्य के बाह्य और आंतरिक जीवन-संघर्ष एवं द्वंद्व को देख सकते हैं। आधुनिक भोगवादी जीवन कैसे सामाजिक और पारिवारिक रिश्तों को और उसकी गरिमा को खंडित कर चुका है, यह 'पैर तले की जमीन' और 'रति का कंगन' नाटक में देखा जा सकता है। भारतीय परंपरा में जो सामाजिक ढाँचा बनाया गया था, जहाँ स्त्री को देवी रूपी माना गया था, जिसका सम्मान करना हर किसी का धर्म बताया गया है, वहाँ 'पैर तले की जमीन' नाटक में क्षणभर के सुख के लिए एक पल में उसकी अस्मिता को लूट लेने की आकांक्षा दिखाई गई है। वहीं 'रति का कंगन' में आधुनिक मनुष्य के भोगवादी जीवन को बड़े निकट से दिखाया गया है। उच्च शिक्षा-जगत में गुरु-शिष्य का पवित्र रिश्ता और उसकी गरिमा आज किस प्रकार निकृष्ट हो चुकी है उसका सटीक चित्रण किया गया है। अतः यांत्रिक भोगवादी आधुनिक विचारधारा ने आज मनुष्य को निकृष्टता के सबसे निचले पायदान पर लाकर खड़ा कर दिया है। जहाँ जीवंत परंपरा अपना मूल्य खोती जा रही है और मूल्यहीन आधुनिकता को ग्रहण करना ही आधुनिक मानव जीवन का लक्ष्य बनता जा रहा है।

अंततः यह कहा जा सकता है कि मोहन राकेश और सुरेन्द्र वर्मा स्वातंत्र्योत्तर ऐसे नाटककार हैं, जिन्होंने अपने नाटकों में आधुनिक मानव के अधूरेपन, अंतर्द्वंद्व, अकेलेपन, और कुंठित जीवन आदि को कुछ नाटकों में पौराणिक मिथकीय कथा और ऐतिहासिक पात्रों के माध्यम से चित्रित किया है तो कुछ नाटकों में सीधे आधुनिक नाट्य-कथा और चरित्रों के माध्यम से व्याख्यायित किया है। दोनों ही नाटककारों के नाटकों में परंपरा और आधुनिकता के तुलनात्मक अध्ययन की बात करें तो मोहन राकेश ने तीन नाटकों का लेखन किया है। जिनमें दो नाटक मिथकीय पौराणिक कथा पर

आधारित हैं। जिनके पात्र परंपरागत ऐतिहासिक पात्र हैं और एक नाटक 'आधे-अधूरे' का कथानक और पात्र दोनों ही आधुनिक समय के हैं। वहीं सुरेन्द्र वर्मा ने कुल दस नाटकों का सृजन किया है। जिनमें सात ऐसे नाटक हैं, जो कि मोहन राकेश के उन नाटकों के ही समान तथा मिथकीय पौराणिक कथा पर आधारित हैं। जिनके पात्र परंपरागत ऐतिहासिक पात्र हैं और तीन नाटक आधुनिक जीवन और उनकी विसंगतियों को चित्रित करते हैं। अंततः मोहन राकेश और सुरेन्द्र वर्मा के नाटकों में परंपरा और आधुनिकता का तुलनात्मक अध्ययन करने पर जो दृष्टि विकसित होती है, वह यह है कि दोनों ही नाटककारों के मध्य आधुनिक और उत्तर-आधुनिक नाटकों का सफ़र तय होते दिखता है। मोहन राकेश के नाटक आधुनिक नाटक कहे जाते हैं तो सुरेन्द्र वर्मा के नाटकों में आधुनिकता और उत्तर-आधुनिकता दोनों ही नाटक देखी जा सकती हैं। आधुनिकता में जहाँ भावना, नैतिकता, परंपरा, मर्यादा आदि के प्रति मोह समाप्त होता दिखता है वहीं उत्तर-आधुनिकता में इन सभी भावनाओं का मूल्य ही समाप्त हो जाता है। जैसे मोहन राकेश के नाटकों और उनके पात्रों के चरित्रों में भावना, नैतिकता, परंपरा, मर्यादा आदि खंडित होती दिखती हैं। किन्तु सुरेन्द्र वर्मा के नाटकों में तो इनका मूल्य ही नगण्य होता चला जाता है। मानव अंतर्द्वंद्व, अकेलापन और कुंठित जीवन जीने के लिए अभिशप्त है। तभी इनके यहाँ पूरा जीवन-मूल्य ही बदला हुआ है। नाटकों में यौन कुंठाएं एवं स्वछन्द यौन-संबंध इनके कई नाटकों को उत्तर आधुनिक नाटकों में श्रेणीबद्ध करता है। मोहन राकेश के नाटकों में, पात्र-चरित्र द्वंद्व में है, खंडित है, परिवार विघटित होता दिखता है, जैसे'आधे-अधूरे' नाटक में लेकिन पूर्णतः टूटा या बिखरा नहीं है, आशा और आस्था कुछ एक चरित्र में शेष दिखती है। लेकिन सुरेन्द्र वर्मा के नाटकों में पूर्णतः विघटित पारिवारिक जीवन की विसंगतियों और खंडित व्यक्तित्व को देखा जा सकता है जैसे 'द्रौपदी', 'सूर्य की अंतिम किरण से सूर्य की पहली किरण तक', 'एक दूनी एक', 'शकुन्तला की अंगूठी', 'रति का कंगन' आदि द्वंद्व, अनास्था, यौन-कुंठाओं आदि की शीर्ष अवस्था को चित्रित किया गया है। इस प्रकार स्वातंत्र्योत्तर मोहन राकेश ने जिस आधुनिक जीवन की विसंगतियों को कहने की नाट्य-परंपरा को शुरू की थी, उसी परिपाटी

का अनुसरण करते हुए सुरेन्द्र वर्मा भी दिखते हैं। जहाँ दोनों के नाटकों में परंपरागत जीवन मूल्यों को टूटते और आधुनिक मानव के खंडित जीवन को देखा जा सकता है। मोहन राकेश मिथकीय ऐतिहासिक तथा मध्यवर्गीय नाट्य कथा के माध्यम से स्वातंत्र्योत्तर व्यक्ति के बाह्य और आंतरिक जीवन के संघर्ष को ही चित्रित किया है। सुरेन्द्र वर्मा ने भी मिथकीय ऐतिहासिक तथा मध्यवर्गीय जीवन की विसंगतियों को ही चित्रित करते हैं, किन्तु वह उच्च मध्यवर्गीय लोगों के भी उलझे-टूटते रिश्तों और बिखरी संवेदनाओं को भी अपने नाटक में स्थान देते हैं। दोनों के नाटकों में मूल अंतर इतना है कि मोहन राकेश अपने नाटकों के माध्यम से आधुनिक मनुष्यों के विघटित जीवन के लक्षण को चिन्हित किया था, उसके पूर्णतः टूटे जीवन मूल्यों को सुरेन्द्र वर्मा और भी बेबाकी से अपने नाटकों में चित्रित करते हैं। जिसमें उन्हें सफलता भी प्राप्त हुई है, निष्कर्ष स्वरूप कहा जा सकता है।

सन्दर्भ-ग्रन्थ सूची

आधार ग्रंथ-

- राकेश, मोहन; आषाढ़ का एक दिन; राजपाल प्रकाशन, दरियागंज नई दिल्ली; संस्करण, 2011.
- राकेश, मोहन; लहरों के राजहंस; राजकमल प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली; संस्करण, 2017.
- राकेश, मोहन; आधे-अधूरे; राधाकृष्ण प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली; संस्करण, 1993.
- राकेश, मोहन; पैर तले की ज़मीन; राजपाल प्रकाशन, दरियागंज नई दिल्ली; संस्करण, 2017.
- वर्मा, सुरेन्द्र; तीन नाटक; वाणी प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली; संस्करण, 2005 .
- वर्मा, सुरेन्द्र; सूर्य की अंतिम किरण से सूर्य की प्रथम किरण तक; राधाकृष्ण प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली; संस्करण, 1976.
- वर्मा, सुरेन्द्र; आठवां सर्ग; राधाकृष्ण प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली, संस्करण, 1976.
- वर्मा, सुरेन्द्र; छोटे सैयद बड़े सैयद; नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली; संस्करण, 1981.
- वर्मा, सुरेन्द्र; एक दूनी एक; राधकृष्ण प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली; संस्करण, 1987.
- वर्मा, सुरेन्द्र; शकुन्तला की अंगूठी; नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दरियागंज, नई दिल्ली, पहला संस्करण, 1990.

- वर्मा, सुरेन्द्र; कैद-ए-हयात; राधाकृष्ण प्रकाशन, दरियागंज नई दिल्ली; पहला संस्करण, 1993.
- वर्मा, सुरेन्द्र; रति का कंगन; भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन; लोधी रोड नई दिल्ली; प्रथम संस्करण, 2011.

सहायक ग्रन्थ-

- अग्रवाल, प्रतिभा; भारतीय साहित्य के निर्माता मोहन राकेश; साहित्य अकादमी, फिरोजशाह मार्ग, नई दिल्ली, संस्करण, 1998.
- अग्निहोत्री, ज्ञानदेव; शुतुरमुर्ग; भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, लोदी रोड, नई दिल्ली, संस्करण, 2011.
- अमरनाथ; हिंदी आलोचना की पारिभाषिक शब्दावली; राजकमल प्रकाशन दरियागंग, नई दिल्ली; संस्करण, 2016.
- ओझा, दशरथ; हिंदी नाटक: उद्भव और विकास; राजपाल एंड सन्स, कश्मीरी गेट, नई दिल्ली; संस्करण, 1984.
- ओझा, दशरथ; आज का हिंदी नाटक; प्रगति और प्रभाव; ; राजपाल एंड सन्स, कश्मीरी गेट, नई दिल्ली; संस्करण, 1984.
- कुमार सिद्धनाथ; नाटकालोचन के सिद्धांत; वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली; संस्करण, 2004.
- खेमानी, कुसुम; हिंदी नाटक के पांच दशक; राधकृष्ण प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली; संस्करण, 2015.

- गौतम, रमेश; हिंदी के प्रतीक नाटक; दरियागंज,नचिकेता प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण, 1979.
- गौतम, रमेश; रंगानुभव के बहुरंग; स्वराज प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली; संस्करण, 2006.
- गौतम, रमेश; मिथक और स्वातन्त्र्योत्तर हिंदी नाटक; नचिकेता प्रकाशन, विजय नगर,दिल्ली; संस्करण प्रथम .
- गौतम विकल; हिंदी नाटक : रंग-शिल्प-दर्शन; वाणी प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली; संस्करण, 2000.
- गुप्त, सोमनाथ; हिंदी नाटक का इतिहास;हिंदी-भवन,इलाहाबाद; संस्करण, 1949.
- गुन्देचा, संगीता; समकालीन रंगकर्म में नाट्यशास्त्र की उपस्थिति; जवाहर नगर, नई दिल्ली; संस्करण, 2011.
- चंद्रशेखर; समकालीन हिंदी नाटक: कथ्य चेतना; आत्मा राम एंड सन्स,कश्मीरी गेट नई दिल्ली; संस्करण, 1982 .
- चंद्रेश्वर; भारत में जन नाट्य आन्दोलन; शब्दपीठ प्रकाशन, मोतीलाल नेहरु नगर, इलाहाबाद; संस्करण, 1994 .
- चातक, गोविन्द; आधुनिक हिंदी नाटक का अग्रदूत मोहन राकेश; राधाकृष्ण प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली, संस्करण, 2016 .
- चातक, गोविन्द; नाट्य भाषा; तक्षशिला प्रकाशन, अंसारी रोड, दरियागंज, नई दिल्ली; संस्करण, 1981.
- चारुमित्र, प्रसाद, द्वारिका; आधुनिक रचनाशीलता; अनामिका प्रकाशन. दरियागंज, नई दिल्ली; प्रथम संस्करण, 1998 .

- जैन, नेमिचंद्र; मोहन राकेश के सम्पूर्ण नाटक; राजपाल प्रकाशन, कश्मीरी गेट, दिल्ली; संस्करण, 2013 .
- जैन, नेमिचंद्र;रंग परम्परा;वाणी प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली; संस्करण, 1996.
- तनेजा, जयदेव; हिंदी नाटक: आज-कल; तक्षशिला प्रकाशन, अंसारी रोड, दरियागंज, नई दिल्ली; संस्करण, 2000.
- तनेजा, जयदेव; आधुनिक नाट्य-विमर्श; राधाकृष्ण प्रकाशन; महात्मा गाँधी मार्ग, इलाहाबाद; संस्करण, 2010.
- धनंजय; समकालीन कहानी: कुछ विचार बिंदु; वाणी प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली; संस्करण, 1989 .
- नवल, हरीश; हिंदी नाटक: तीन दशक; अनंग प्रकाशन, शाहदरा, दिल्ली; संस्करण-प्रथम, 2004 .
- नवीन, शंकर देव, मिश्र कुमार सुशांत, उत्तर आधुनिकता कुछ विचार; वाणी प्रकाशन दरियागंज, नई दिल्ली;संस्करण, 2000.
- पवार, सुभाष; कथाकार उषा प्रियंवदा; विद्या प्रकाशन, कानपुर; संस्करण, 2010 .
- प्रसाद, जयशंकर; कामायनी; लोक भारती प्रकाशन, गाँधी मार्ग, इलाहाबाद; संस्करण, 2018 .
- पाण्डेय, चन्द्र सुरेश; आधुनिक हिंदी कविता पर अंग्रेजी कविता का प्रभाव; अनुभव प्रकाशन प्रेमनगर,कानपुर-2208001.
- पाण्डेय, प्रसाद राजेंद्र; परंपरा का परिप्रेक्ष्य; नवचेतन प्रकाशन; उत्तमनगर,दिल्ली-59; संस्करण, 2005 .

- पाण्डेय, मैनेजर; साहित्य और इतिहास दृष्टि; वाणी प्रकाशन, दरियागंज ,नई दिल्ली; संस्करण, 2000 .
- पाण्डेय, अम्बादत्त; आधुनिकता और आलोचना; प्रेम प्रकाशन, दरिगंज, नई दिल्ली; संस्करण, 1985 .
- पाण्डेय, अम्बादत्त; आधुनिकता और आलोचना; प्रेम प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली; संस्करण, 1985.
- पाल, विजय; सुरेन्द्र वर्मा के नाटकों में आधुनिकता बोध; नीरज बुक सेंटर पटपड़गंज, दिल्ली; संस्करण, 2013 .
- बेदी, सुषमा; हिंदी नाट्य: प्रयोग के सन्दर्भ में; पराग प्रकाशन, महरौली, नई दिल्ली संस्करण, 1984 .
- भारती, धर्मवीर; अंधा युग; किताब महल, प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली; संस्करण, 2010 .
- मदान, इन्द्रनाथ; आधुनिकता और हिंदी आलोचना; राधाकृष्ण प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली; संस्करण, 1975 .
- माथुर, जगदीश;कोणार्क; राधाकृष्ण प्रकाशन, अंसारी मार्ग, दरियागंज, नई दिल्ली; संस्करण, 1995.
- मिश्र, ज्योतीश्वर; स्वातंत्र्योत्तर हिंदी नाटक: मूल्य-संक्रमण; लोकभारती प्रकाशन, महात्मागांधी मार्ग,इलाहाबाद; संस्करण, 2007.
- मेंहदीरत्ता, वीरेन्द्र; मोहन राकेश का साहित्य; हरियाणा साहित्य अकादमी, चंडीगढ़, संस्करण, 1990.

- मोहन, नरेन्द्र; समकालीन हिंदी नाटक और रंगमंच; वाणी प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली; संस्करण, 2009.
- राकेश, मोहन; साहित्य और संस्कृति; राधाकृष्ण प्रकाशन, दरियागंज नई दिल्ली; पहला संस्करण, 2013.
- रावत, हरिकृष्ण; समाजशास्त्र विश्वकोश; रावत प्रकाशन, जवाहर नगर, जयपुर;संस्करण, 2006.
- रस्तोगी, गिरीश; हिंदी नाटक का आत्मसंघर्ष; लोकभारती प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली; संस्करण, 2002 .
- रस्तोगी, गिरीश; मोहन राकेश और उनके नाटक; लोकभारती प्रकाशन, महात्मा गांधी मार्ग, इलाहाबाद, ऊ.प्र.; संस्करण, 2008.
- रस्तोगी, गिरीश; समकालीन हिंदी नाटककार; इन्द्रप्रस्थ प्रकाशन, कृष्णा नगर, नई दिल्ली; संस्करण, 1982 .
- रस्तोगी, गिरीश; बीसवीं शताब्दी का हिंदी नाटक और रंगमंच; भारतीय ज्ञानपीठ, लोदी रोड, नई दिल्ली; दूसरा संस्करण, 2015.
- राठी, नीलम; साठोत्तर हिंदी नाटक (मिथकीय-तत्त्वों के सन्दर्भ में); संजय प्रकाशन, प्रगति विहार, दिल्ली; संस्करण, 2001.
- राठी, नीलम; साठोत्तर हिंदी नाटक (मिथकीय तत्त्वों के सन्दर्भ में); संजय प्रकाशन,प्रगति विहार, दिल्ली; संस्करण, 2001.
- राजपाल, हुकुमचंद; हिंदी नाट्य-काव्य; पुनर्मूल्यांकन; किताबघर प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली; संस्करण, 2010.

- रावत, चंद्रभानु; खंडेवाल, रामकुमार; आधुनिता: एक पहचान; अक्षर प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली, संस्करण, 1969
- राय, नरनारायण; आधुनिक हिंदी नाट्यालोचन: नयी भूमिका; वाणी प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली; संस्करण, 1981.
- वर्मा, सुरेन्द्र ; हिंदी नाटक का आत्म संघर्ष; लोक भारती प्रकाशन दरियागंज नई दिल्ली; संस्करण, 2002.
- विमल, प्रसाद गंगा; आधुनिकता: साहित्य के सन्दर्भ में; वाणी प्रकाशन, दरियागंज नई दिल्ली;संस्करण-प्रथम .
- शर्मा, जगदीश; साहित्य की हैसीयत; राजस्थानी साहित्य संस्थान(जोधपुर); संस्करण, 1992 .
- शर्मा, रामविलास; संस्कृति और साहित्य; किताब महल, इलहाबाद; संस्करण, 1963.
- शर्मा, शेखर; समकालीन संवेदना और हिंदी नाटक; भावना प्रकाशन, पटपड़गंज, नई दिल्ली, 110092.
- शेष, शंकर; एक और द्रोणाचार्य; परमेश्वरी प्रकाशन, प्रीत विहार, नई दिल्ली; संस्करण, 2013 .
- सक्सेना, लाला प्रसाद; आधुनिकता बोध और परंपरा; निर्मल प्रकाशन, जयपुर; संस्करण, 1972.
- सक्सेना,सर्वेश्वरदयाल; बकरी; वाणी प्रकाशन, दरियागंज,नई दिल्ली; संस्करण, 2012.
- सहगल, प्रताप; रंग-चिंतन; नवराज प्रकाशन, भजनपुरा, दिल्ली; संस्करण, 1998 .

- साहनी, दीनानाथ; समकालीन रंगमंच; बिहार ग्रंथ अकादमी, प्रेमचंद मार्ग, राजेन्द्र नगर, पटना; संस्करण, 2003.
- सिंह, प्रसाद शोभित; नाटक-समालोचना-सन्दर्भ; जानकी प्रकाशन, अशोक राजपथ, पटना; संस्करण, 1979.
- सुलभ, हृषीकेश; रंग अरंग; राजकमल प्रकाशन,सुभाष मार्ग, नई दिल्ली; संस्करण, 2012.
- सोनटक्के, माधव; नाट्यालोचन; विकास प्रकाशन, कानपुर, संस्करण, 2008.
- त्रिपाठी, आशीष; कृति मूल्यांकन आषाढ़ का एक दिन; राजपाल प्रकाशन, मदरसा रोड, कश्मीरी रोड, दिल्ली; संस्करण, 2019 .
- त्रिपाठी, सत्यवती; आधुनिकता हिंदी नाटकों में प्रयोगधर्मिता; राधाकृष्ण प्रकाशन,अंसारी मार्ग, दरियागंज, नई दिल्ली; संस्करण, 1999 .
- त्रिपाठी, वशिष्ट नारायण; नाटक के रंगमंचीय प्रतिमान; जगतराम एंड सन्स, गाँधी नगर, नई दिल्ली; संस्करण, 1991.

पत्र- पत्रिकाएँ -

- जैन, नेमिचंद्र (सं.) नटरंग (त्रैमासिक); विकास मार्ग,दिल्ली-62; अंक-मार्च, 2002.
- जैन, नेमिचंद्र (सं.) नटरंग (त्रैमासिक); विकास मार्ग,दिल्ली-62; अंक-सितम्बर, 2002.
- जैन, रमा; प्रसाद; शाहू शांति; नया ज्ञानोदय; भारतीय ज्ञानपीठ, कलकत्ता; अंक-48, फरवरी-2007.
- वाजपेयी,अशोक; (सं.) नटरंग (त्रैमासिक); विकास मार्ग,दिल्ली-62; अंक-मार्च, 2006.

- वाजपेयी,अशोक; (सं.) नटरंग (त्रैमासिक); विकास मार्ग,दिल्ली-62; अंक-जनवरी-जून, 2013.
- वाजपेयी,अशोक; (सं.) नटरंग (त्रैमासिक); विकास मार्ग,दिल्ली-62; अंक-सितम्बर, 2016.
- वाजपेयी,अशोक; (सं.) नटरंग (त्रैमासिक); विकास मार्ग,दिल्ली-62; अंक-जून, 2017.